प्राक्कथन

प्रस्तुत ग्रन्थ में गाँधीजी के विचारों और उनकी पद्धति का अध्ययन करने का प्रयास किया गया है। यह प्रयास विशेष लक्ष्य को ग्रहण करके विशेष दृष्टि से किया गया है। आधुनिक जगत् के सामने अति गभीर, अति जटिल और अत्यन्त महती समस्याएँ उपस्थित हैं। गत कुछ शताब्दियों मे मनुष्य जाति ने समवेत रूप से आशातीत और अकल्पित उन्नति की है। मनुष्य ने बुद्धि की प्रखरता सिद्ध की है, प्रकाण्ड कल्पनाशीलता प्रदर्शित की है और अभूत पूर्व शक्ति सपन्नता दर्शायी है। उसकी प्रतिभा ने गूढ रहस्यों का उद्घाटन किया है। उसकी पारदर्शिनी दृष्टि ने सूक्ष्म तत्त्वों का अनुसन्धान और साक्षात्कार कर डाला है। अपने जगत् का निर्माण करने में भी मनुष्य ने प्रशसनीय सक्रियता का परिचय दिया है। उसके सम्मुख आज आदर्शों की कमी नहीं है। जीवन और जगत् के लिए, व्यक्ति और समाज के लिए, ऊँचे से ऊचे आदर्शों का प्रतिपादन करने में मानव-बुद्धि जहाँ तक जा सकती थी वहाँ तक गयी। इन आदर्शों के प्रकाश में उसने महती राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, वैधानिक तथा नैतिक कल्पनाओं को जन्म दे डाला। इन कल्पनाओं को साकार रूप प्रदान करने के लिए न जाने कितने विधि-विधानों और व्यवस्थाओं का आयोजन भी किया गया। स्वभावत मनुष्य ने यह समझा कि वह विकसित हो रहा है। उसे विश्वास हुआ कि वह सभ्य और सुसस्कृत है। अपने भविष्य के सबध में उसके हृदय में दृढ आस्था उत्पन्न हो गयी। उसे यह आशा हो गयी कि वह दिन दूर नहीं है जब मनुष्य अभाव से, अधीनता से रोग और रोदन से सर्वथा मुक्त हो जायगा। वह सुखी और सम्पन्न, स्वस्थ और स्वाधीन, सुसंस्कृत और सुव्यवस्थित जीवन यापन करने में समर्थ होगा।

पर कहाँ तो यह उल्लास था और कहाँ मनुष्य का भविष्य अधकार में लुप्त होता दिखाई पड़ा। बीसवी शती के गत पैंतालीस वर्षों में मनुष्य आशा और निराशा के साथ आँखमिचौनी ही करता रहा है। यदि एक ओर बड़े-बड़े आदर्शों की प्रतिष्ठा हो रही थी तो दूसरी ओर उन आदर्शों के भव्य-भवनों की

दीवारें ढहायी जाती रही हैं। यदि एक अन्याय की जड़ खोदी गयी तो दूसरे अन्याय की स्थापना कर दी गयी। यदि स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र की आवाज उठायी गयी तो परतन्त्रता और वर्गतन्त्र का सर्जन कर दिया गया। यदि विश्व-शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का घोष किया गया तो अशान्ति और द्वेष के बीज बो दिए गए। विज्ञान यदि सर्जन, सपन्नता और सुख का साधन हो सकता था तो वह विनाश, अभाव और दोहन का हेतु बना डाला गया। युग था जब धर्म के नाम पर उद्‌भूत हुई साम्प्रदायिकता, रूढ़िपूजा, विवेकहीन परम्परा और अधविश्वास मनुष्य को पशु बनाए हुए था। उसके वशीभूत होकर मनुष्य ने ऐतिहासिक पट को शताब्दियों तक खून से रगा। सुनते हैं कि समय आया जब बुद्धिवाद ने उस मूढता का अत किया। विज्ञान ने नयी दृष्टि प्रदान की। राष्ट्र-भावना ने नव-देव और नव धर्म का रूप ग्रहण करके मनुष्य के मानस-मन्दिर में प्रतिष्ठा प्राप्त की। पर हुआ क्या? यदि पहले गिर्जे और मसजिद के नाम पर, धर्म और सम्प्रदाय के नाम पर, मनुष्य मनुष्य का शिरच्छेद करता था तो अब राष्ट्र के नाम पर, जातिगत् श्रेष्ठता के नाम पर, काले और गोरे, भूरे और पीले के नाम पर, वर्ग और दल के नाम पर, वाद और प्रतिवाद के नाम पर मनुष्य के वक्षस्थल का रक्त मनुष्य पीए जा रहा है। यदि अपनी पशुता को चरितार्थ करने के लिए मनुष्य ने तब धर्म का दुरुपयोग किया तो आज उसी पशुता को चरितार्थ करने के लिए वही मनुष्य विज्ञान और बुद्धिवाद का दुरुपयोग कर रहा है। और तो और बड़े-बड़े आदर्शों और व्यवस्थाओं, सिद्धान्तों और विधि-विधानों का दुरुपयोग भी इसी प्रकार किया गया है।

मनुष्य की यह गति और स्थिति क्यों है इसका उत्तर देने का अधिकार पण्डितों और मनीषियों को होगा। मैं नहीं जानता कि इसका कारण फ्रायड के कथनानुसार मनुष्य की स्वजाति शत्रुत्व की नैसर्गिक प्रवृत्ति है अथवा मनुष्य का मूलत पशु-स्वरूप और स्वभाव है। मैं तो केवल इतना देखता हूँ कि मनुष्य के आदर्श और व्यवहार में प्रत्यक्ष वैपरीत्य है। उसका बौद्धिक विकास यद्यपि अकल्पित रूप से हुआ है पर उसका आचार और व्यवहार तथा उसकी प्रवृ-

त्तियाँ उसी अनुपात में विकसित नहीं हुई हैं। उसकी मानसिक उड़ान बहुत ऊँचे पहुँची है पर उसके कर्म और मस्तिष्क में तथा संभवतः मस्तिष्क और हृदय में महान् अन्तर बना रह गया। संभवतः यही कारण है कि संस्कृतियों को जन्म देते हुए भी मनुष्य संस्कृत न हो सका। गत पचीस वर्षों में दो-दो विश्व-व्यापी महायुद्धों का प्रज्वलन कदाचित् उसी का परिणाम है। ये युद्ध संस्कृति के मध्य में असंस्कृति और बर्बरता की धारा के ही प्रतीक हैं। आज जगत् के सामने यही महती समस्या है। मानव-संस्कृति का हृदय विदीर्ण करके प्रवाहित होनेवाली इस मानव बर्बरता का अन्त कैसे हो? मनुष्य इतना तो अनुभव करने ही लगा है कि इस स्थिति का लोप सदा के लिए न हुआ तो उसके अस्तित्व के लिए तथा उसकी संस्कृति के लिए भयावह खतरा उत्पन्न हो जायगा। वह इसका अनुभव करने के लिए बाध्य है क्योंकि बुद्धिशील प्राणी है। गत महायुद्ध के बाद ही इसकी अनुभूति की जाने लगी थी। अनुभूति ही नहीं प्रत्युत स्थिति को सँभालने और समस्या को सुलझाने की चेष्टा भी की गई। समस्या को सुलझाने और स्थिति का परिवर्तन करने के नाम पर ही यूरोप में गत महायुद्ध के बाद कुछ प्रयोग भी किए गए। एक प्रयोग किया विजयी लोकतन्त्रात्मक मित्रराष्ट्रों ने जो राष्ट्र-संघ के रूप में मूर्त हुआ। दूसरा रूस का मार्क्सवादी प्रयोग था और तीसरा था इटली और जर्मनी के फासिस्टियों तथा नाजियों का। राष्ट्रसंघ तथा फासिस्टियों और नाजियों के प्रयोगों की वीभत्स विफलता स्पष्ट है। एक की विफलता का प्रमाण गत पचीस वर्षों का इतिहास तथा दूसरा महायुद्ध है जो नाजियों और फासिस्टियों की विफलता सिद्ध कर रही है। मुसोलिनी और हिटलर की वे लाशें जो निर्जीव होते-होते इटली और जर्मनी का सर्वनाश कर गयीं। बाकी बच गया रूस का मार्क्सवादी प्रयोग। मार्क्सवाद जगत् के सामने एक दृष्टि, एक आदर्श, एक पथ, एक पद्धति और एक योजना लेकर उपस्थित होता है। वह पृथ्वी पर ऐसे वर्गहीन समाज की स्थापना का आकांक्षी है जिसमें मनुष्य द्वारा मनुष्य का दोहन, दलन और दासत्व न रह जाय। वह उस आदर्श स्थिति की स्थापना की चेष्टा करता है जिसमें समाज होगा वर्गहीन और शासनसत्ता होगी लुप्त और मनुष्य होगा

स्वतन्त्र जो अपने श्रम का उचित उपयोग करने में समर्थ होगा। यही है मार्क्सवाद का आदर्श। इस आदर्श में आकर्षण है, मोहकता है। वस्तुतः उपर्युक्त स्थिति ही होगी जो महती मानव-जाति के गौरव के अनुकूल और उसके हित-साधन का हेतु हो सकेगी। इसी आदर्श को लेकर रूस की अक्तूबर-क्रान्ति हुई और लेनिन के नेतृत्व में वहाँ मार्क्सवादी प्रयोग आरम्भ हुआ। यह प्रयोग मार्क्सवादी लक्ष्य की पूर्ति मे कहाँतक सफल हुआ है यह ऐसा प्रश्न है जिसपर दो मत हो सकते हैं और हैं। मैं स्वय यह समझता हूँ कि जिस मार्क्सवादी पद्धति का अवलम्बन करके मार्क्सवादी लक्ष्य की पूर्ति की चेष्टा रूस में बोलशेविक पार्टी ने की वह रूस को उपर्युक्त लक्ष्य की ओर बढ़ाने में सहायक हुई दिखाई नहीं देती। मैं भली भाति जानता हूँ कि गत तीन दशकों मे क्रेमलिन के नेतृत्व में रूस ने असाधारण उन्नति की है। उसके नेतृत्व में नव-रूसी राष्ट्र ने जन्म ग्रहण किया है। उसके नेतृत्व मे रूस में नए सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक जीवन का उदय हुआ है। बोलशेविकों की प्रतिभा और निष्ठा तथा तपस्या के फलस्वरूप रूस में आधुनिक पूँजीवाद की जड़ खुद गई और अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में वह महान् बलशील तथा प्रतिष्ठित राष्ट्र के रूप में अवतीर्ण हुआ है। रूस की लालसेना ने वर्तमान महायुद्ध में विजय वैजयन्ती फहराकर मानव-जाति के इतिहास में नवाध्याय का निर्माण किया है। फलत बोलशेवी दल ने वहाँ जो किया है वह साधारण बात नहीं है और उसकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है।

पर रूस की महत्ता केवल इतने ही के लिए नहीं थी। यदि इतना ही होता तो प्रशसनीय होते हुए भी रूस विशेष और असाधारण न माना जाता। पतित और पराजित किसी एक राष्ट्र को उठाने का महान् कार्य तो अन्य देशों में हुई क्रान्तियों ने भी किया है। कमाल अतातुर्क ने जर्जर, विनाशोन्मुख, पराजित और धराशायी तुर्क-राष्ट्र को क्या उठा नहीं दिया ? विजयी मित्र-शक्तियों का मद, विचूर्ण करके कमाल ने न केवल अपनी मातृ-भूमि की स्वतन्त्रता उपार्जित की प्रत्युत क्षयग्रस्त तुर्की के समस्त कलुष का परिहार करके नये तुर्की को जन्म प्रदान किया। आज तुर्की विश्व में अपना आदरणीय स्थान रखता है।

हिटलर ने और अपराध चाहे कितने भी क्यों न किए हों पर इसे कौन अस्वीकार करेगा कि केवल ६ वर्षों में उन्होंने पददलित, अपमानित और सर्वथा निराश जर्मन राष्ट्र को प्राणानुप्राणित करके अपने पैरों पर खड़ा कर दिया। जगती के अञ्चल में घटित हुईं ऐसी कतिपय घटनाओं का उल्लेख किया जा सकता है, पर उनमें से किसी एक को भी वह स्थान प्राप्त नहीं है जो रूसी क्रान्ति को प्राप्त हुआ है ? आखिर इसका कारण क्या है ? इसका कारण केवल इतना ही नहीं है कि रूस को बोलशेविकों ने शक्ति-सम्पन्न प्रबल राष्ट्र बना डाला है। इसका कारण वस्तुतः वह आदर्श है जिसकी अग्रदूतिनी बनकर रूसी क्रान्ति धरा पर अवतीर्ण हुई। रूस उसी आदर्श का उपासक और उसी का प्रतीक होकर उपस्थित हुआ। उसकी यही विशेषता थी जिसने जगत् के करोड़ों नर नारियों के जीवन में आशा और प्रकाश का सञ्चरण किया। उसकी इसी विशेषता ने उसे जगत् के समस्त दलित और दोहित राष्ट्रों और वर्गों के नेता के रूप में चित्रित किया।

फलतः प्रश्न यह है कि रूस उस आदर्श की पूर्ति में कहाँतक सफल हुआ। जिस प्रयोग की सफलता के लिए रूस की बोलशेवी सरकार ने लाखों रूसियों का बलिदान किया वह क्या ऐसे वर्ग-हीन समाज की स्थापना में समर्थ हुआ जिसमें जन समाज सर्वथा मुक्त हो, प्रकृत मानवी अधिकारों का अक्षुण्ण उपभोग कर रहा हो और स्वय शासन-सत्ता विघटित और लुप्त होती दिखाई दे रही हो। यदि यह कहिए कि उक्त प्रयोग प्रयोगावस्था में है तो भी यह पूछा जा सकता है कि क्या उपर्युक्त परिस्थिति की ओर बढ़ने के स्पष्ट सकेत मिल रहे हैं ? मेरी दृष्टि में तो रूस में राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक जीवन का भयावना केन्द्रीकरण हो गया है जिसके सञ्चालन के लिए अपरिमित शक्तिशालिनी केन्द्रीभूत शासनसत्ता जन-समाज के मस्तकोपविष्ट हो गयी है। उस शासनसत्ता ने स्वभावत. प्रचण्ड केन्द्रीकृत हिंसा का आश्रय ग्रहण किया है। परिणामत. जन-समाज का अङ्ग प्रत्यङ्ग केन्द्रित सत्ता की उँगलियों से दबा हुआ है। मैं नही समझता कि यह स्थिति उस समाज की स्थापना का संकेत है जो वर्गहीन होगा और जिसमें शासनशक्ति भी विघटित, वितरित और

विलुप्त हुई रहेगी। फलतः मेरी दृष्टि में रूसी क्रान्ति का वह पहलू जो उसकी विशेषता रही है खटाई में पड़ा दिखायी देता है।

तात्पर्य यह कि गत महायुद्ध के बाद मानव-जगत् की समस्याओं को सुलझाने के लिए जो प्रयोग हुए उनकी गति कुछ विचित्र ही हुई। अवस्था यह है कि समस्याएँ सम्प्रति और अधिक गम्भीर होकर उपस्थित हुई हैं। वर्तमान महायुद्ध ने कल के ससार को नष्ट किया है। आज का जगत् विक्षत और विघूर्ण है। अब कल के जगत् के निर्माण का प्रश्न प्रस्तुत है। पर निर्माण किन आधारों पर, किन तत्त्वों को लेकर करना श्रेयस्कर होगा जिसमें मनुष्य अपने भविष्य को सुरक्षित रखने में समर्थ हो सके? यह तो निर्विवाद है कि मनुष्यता ऐसे जगत् के निर्माण की अपेक्षा कर रही है जो हिंसा और पशुता से मुक्त हो, जिसमें वर्ग प्रभुता, वर्ग-भेद तथा वर्गशोषण न हो, जिसमें मनुष्य व्यक्तिगत तथा समवेत रूप से सांस्कृतिक विभूति के उपभोग का अधिकार तथा अवसर अपनी योग्यता के अनुसार समान रूप से प्राप्त कर सके। मानव-समाज साङ्गोपाङ्ग स्वतन्त्र, सुखी तथा निर्भय होकर जीवनयापन कर सके। यही है लक्ष्य जिसके प्रकाश में भावी व्यवस्था का निर्माण अपेक्षित है। पर प्रश्न तो यह है कि इस लक्ष्य की पूर्ति कैसे की जाय? वह कौन-सा मार्ग है, कौन-सी पद्धति है जिसका अवलम्बन करके मनुष्य इष्ट स्थिति का निर्माण कर सकता है। मार्क्सवाद एक आयोजित पद्धति उपस्थित करने का दावा अवश्य करता है। जगत् के कोटि-कोटि नर-नारियों के हृदय पर उसका प्रभाव है जो उसके द्वारा निर्दिष्ट पथ पर अग्रसर होने में मानवता का कल्याण देखते हैं।

पर जहाँ यह है वहीं गाँधीजी एक नयी दिशा की ओर, एक नये पथ और नयी पद्धति की ओर सकेत करते दिखाई दे रहे हैं। उनके विचार यूरोप की विचारधाराओं से भिन्न हैं, उनका पथ जगत् में प्रचलित आधुनिक पथों से भिन्न है। प्रस्तुत ग्रन्थ में उन प्रयोगों की विवेचना की गयी है जो गत दो दशकों में यूरोप में प्रयुक्त हुए हैं। उन प्रयोगों के पीछे बहने वाली विचारधाराओं से गाँधीजी के विचारों की तुलना करने की चेष्टा भी की गयी है। स्पष्ट है कि गांधीजी विभिन्न दृष्टि से जगत् की समस्याओं की ओर देखते हैं और तदनुरूप

नव-पद्धति का प्रतिपादन करते हैं। अब उन मनीषियों और पंडितों तथा जन-समाज के विचारशील वर्गों का जिनके हृदय में जगत् हित की कामना है—यह काय है कि वे गाँधीजी के विचारों और उनके द्वारा निर्दिष्ट पथ की विवेचना करें, उन्हें अपनी बुद्धितुला पर तौलें और यह देखें कि उन विचारों और उस पद्धति में उपयुक्त लक्ष्य की ओर जगत् को अग्रसर करने की क्षमता है अथवा नहीं। वे यह भा देखें कि आधुनिक त्रुटियों का परिहार करने में तथा वर्तमान समस्याओं का हल उपस्थित करने में गाँधीजी के विचार सहायक हो सकते हैं या नहीं।

मैं गाँधीवादी होने का दावा नहीं करता और न यही दावा करता हूँ कि मैं गाँधीजी के विचारों को जिस रूप में अभिव्यक्त किया है वह गाधीजी अथवा गाँधीवादियों को ग्राह्य होगा। मैंने जिस रूप में गाँधीजी को समझा है उसी रूप में चित्रित कर देने की चेष्टा की है। लक्ष्य केवल इतना है कि विचारक समाज का ध्यान आज उस व्यक्ति के विचारों की ओर आकृष्ट किया जाय जो एकमात्र विश्व कल्याण की कामना से उत्प्रेरित है, जिसके रोम प्रति रोम से दलित और विनाद्दित वसुधा की वेदनामयी रागिनी प्रतिध्वनित हो रही है। मैं अपनी अयोग्यता, सीमा तथा अक्षमता से सर्वथा परिचित हू। सभव है अपने को व्यक्त करने में भी मुझे सफलता न मिली हो। पर भला या बुरा जो बन पड़ा है वह पाठकों की सेवा में अर्पित है अपनी त्रुटियों को समझते हुए भी लिखने का साहस किया क्योंकि मैं भारतीय संस्कृति का उपासक हूँ। मुझे ऐसा ज्ञात होता है कि इस युग में जब भारत अपने इतिहास की कृष्णतम परिस्थिति से जा रहा है गाँधीजी में भारतीय सस्कृति अपनी उज्वल आभा के सहित प्रतिबिम्बित हुई है। ऐसे समय जब जगत् पथानुशीलन में साग्रह सलग्न है और जब विश्व के प्रागण में गहरी सास्कृतिक टक्कर होती दिखाई दे रही है मैं यह कामना करने का लोभ सवरण नहीं कर सकता कि भारत अपनी परम्परा और गौरव के अनुकूल अपना स्थान प्राप्त कर सके।

आज से ढाई सहस्र वर्ष पूर्व के उस युग की स्मृति बार-बार हो जाती है जब भारत का एक महाप्राण मानव काशी के निकट ऋषिपत्तन में धर्मचक्र का प्रवर्तन करते हुए अमृतवाणी में बोल उठा था:—

'चरत भिक्खवे चारिकं बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय, लोकानुकपाय, अत्थाय, हिताय, देवमनुस्सान' ।

मानव हृदय की ज्वाला का शमन करने मे उसके अन्तर से निर्गत शीतल धारा ने क्या असीम सफलता नहीं प्राप्त की थी ? भारत को अपने उस अभिनय पर आज भी गर्व है । सम्प्रति विमर्दिता और दग्धा मेदिनी पुन किसी ऐसे ही के कर स्पर्श की प्रतीक्षा कर रही हैं। भारत उस अभाव की पूर्ति क्या पुन कर सकता है ? मैं समझता हूँ कि ऐसी कामना करने का अधिकार हमे है । बहुजन हिताय, बहुजनसुखाय, लोकानुकपाय, गाँधीजी का जीवन अर्पित है । उनके विचारों में भारतीयता का वही रग झलक रहा है । वे जगत् को वह दे रहे हैं जो भारतीय है । फलत· यह दुर्भाग्य की बात होगी यदि भारत का विचारक समाज उनके विचारों को समझने और तौलने की चेष्टा न करे। देश का शिक्षित युवक-समुदाय अवश्य ही विदेश से आने वाले प्रकाश को ग्रहण करे पर अपनी राष्ट्रीय प्रतिभा की ज्योति की उपेक्षा करना अपनी आत्मा को और अपने प्राण को खो देना है । आवश्यकता है कि हम आत्मविस्मृत न हो, अपनी विभूति को खो न दें और फिर जो बाहर से मिले उसे बुद्धि और विवेक के सहित ग्रहण करें । इस ग्रन्थ की रचना इसी दृष्टि को लेकर की गयी है । यदि एक व्यक्ति के हृदय में भी मैं उपर्युक्त भावों को जागृत कर सका तो अपने श्रम को सफल समझूँगा ।

इसके पहिले कि लेखनी को विश्राम दूँ मैं प्रयाग विश्व विद्यालय के छात्र श्री प्रतुल कुमार शर्मन को हृदय से आशीष दिए बिना नहीं रह सकता । इस युवक ने इस ग्रन्थ की कापी तैयार करने में अथक परिश्रम किया है । जेल में मेरा स्वास्थ्य सर्वथा सतोषजनक नहीं रहा । लिखने का आयास मेरे लिए अहितकर सिद्ध हो रहा था । शर्मन ने इसमें मेरी सहायता की । मैं बोलता जाता था और वह लिखता जाता था । प्राय सारा ग्रन्थ इसी प्रकार लिखा गया । भगवान् उसे चिरायु करें । इति शम्—

१८ जून ४५
नैनी-सेण्ट्रल जेल

कमलापति

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
१—आधुनिक-विश्व का स्वरूप	१
२—राष्ट्रसंघ और विश्व-समस्या	४१
३—मार्क्सवादी प्रयोग	९२
४—फासिटीवादी प्रयोग	१४२
५—बापू की दृष्टि और पथ	१८८
६—अहिंसक क्रान्ति की कल्पना	२२४
७—अहिंसा का विद्रोहात्मक स्वरूप	२५९
८—अहिंसक क्रान्ति का रचनात्मक पहलू	२९५
९—विकेन्द्रीकरण समस्या का हल	३१३
१०—उपसंहार	३७३

आधुनिक विश्व का स्वरूप

आज के विश्व पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो उसे स्पष्टत: दो विभिन्न स्वरूपो में अभिव्यक्त पाते है। उसका एक स्वरूप आशाप्रद है तो दूसरा निराशाजनक है। एक ओर हम आदर्शवादी, बुद्धिशील, समुन्नत और प्रकृति को अपनी चरणसेविका दासी बनानेवाले जगत् को पाते हैं तो दूसरी ओर संकट से आच्छन्न, मनुष्य से उत्पीड़ित, रक्त से लिप्त, विपत्ति की मारी विक्षत वसुधा को सामने पड़ी कराहते देखते है। धरित्री का यह दो विभिन्न और विरोधात्मक रूप आज इतना स्पष्ट, इतना व्यापक और इतना गम्भीर हो गया है कि उसकी अनुभूति मानव-समाज का प्रत्येक वर्ग, जगत् का प्रत्येक राष्ट्र और प्रत्येक व्यक्ति कर रहा है। एक ओर हम यह देखते हैं कि मनुष्य महान् आदर्शों, महती कल्पनाओं, उत्तम व्यवस्थाओं को जन्म देने मे सफल हुआ। जीवन का कोई क्षेत्र चाहे वह सांस्कृतिक हो अथवा बौद्धिक, राजनीतिक हो अथवा सामाजिक, सर्वत्र हम मनुष्य की उन्मुक्त प्रतिभा को इतनी लम्बी उड़ान लेते देखते है, इतनी दूर तक जाने में समर्थ पाते हैं कि उसकी कल्पना करना भी कठिन हो जाता है। अपने इतिहास के इस युग मे मानव-जाति जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में जिस उच्चतम बिन्दु पर पहुँची दिखाई देती है वहाँ तक पहुँचने की बात भी एक शताब्दी पहले के मनुष्य ने न सोची रही होगी। उस युग के बीते अभी अधिक समय नहीं हुआ जब मानव-समाज का जीवन रूढ़ियों और परम्पराओ तथा अन्धश्रद्धा के अन्धकार से ही आच्छन्न था। मनुष्य अन्धविश्वासो का ऐसा पूजक था कि अपनी अन्तःस्थली के गवाक्ष को बंद करके सत्य की

प्रकाशमयी रश्मियो को अपने मर्म मे प्रविष्ट होने देना भी विघातक समझता था। यूरप का मध्ययुग ऐसा ही काल था जब धर्म-पुरोहितो द्वारा पोषित और पालित अन्धविश्वास पश्चिम की भूमि को धार्मिकता के आवरण से अधार्मिक प्रथाओ तथा युद्धो से उत्पीड़ित करवा रहा था। अपने लम्बे ऐतिहासिक युग मे भारत अनेक बार ऐसी ही पतितावस्था से पार हो चुका है जब अन्धपरम्पराओ और रूढ़ियो मे फंसकर भारतीयता उन्मुक्त चिन्तन और सत्यानुभूति से विरत होकर अधोमुख होती रही है। प्रकृति द्वारा प्रदत्त बुद्धि के टिमटिमाते दीपक को अपने झटके से बुझा देने मे समर्थ अन्धश्रद्धा के उदर से उस अन्धकार का सर्जन होना अनिवार्य है जो जीवन-पथ को तिमिराच्छन्न करके भयावने विनिपात का कारण होता है।

समय आया जब जीवन की चेतना प्रगति के नैसर्गिक प्रवाह से प्रबुद्ध हुई। यूरप मे धार्मिक सुधार और उसके बाद पुनरुद्धार युग का आविर्भाव उस बुद्धिवाद के उदय की शुभ सूचना थी जिसने मनुष्य को कठोर अन्धविश्वास के भीषण बन्धन से मुक्त किया। विज्ञान का जन्म इसी बुद्धिवाद के उदर से हुआ, जो आज के मनुष्य की महती विभूति है। विज्ञान ने मनुष्य को प्रगति की शक्तियो पर असाधारण प्रभुता प्रदान कर दी। विज्ञान के द्वारा उसे वह सब मिला जिसकी चाह मनुष्य को हो सकती थी। अपरिमित ऐश्वर्य, असीम विभूति, असाधारण क्षमता, अनिर्वचनीय ज्ञान, अभूतपूर्व गति तथा पृथ्वी पर अकल्पित प्रभुता का अधिकारी मनुष्य हो गया। भौगोलिक बाधाएँ मिट गयी, अलघ्य गिरिशृंग तथा अगाध जलनिधि उसकी मुट्ठी मे आ गये। अकाल और अवर्षण प्लावन और तुषारपात से मनुष्य को पस्त करने की जो सामर्थ्य प्रकृति मे थी वह बड़े अंश मे जाती रही। मनुष्य ने उसकी शान और भय ही जैसे मिटा दिया। विशाल धरातल एक सूत्र मे आबद्ध होता दिखाई पडा। मानव-बुद्धि और कल्पना तथा उसकी दृष्टि अदर्शनीय परमाणुओ से लेकर ज्वलन्त ग्रह-नक्षत्रो तक का भेदन करने

लगी। उत्पादन के साधन और यातायात के प्रकार मे जो महती क्रान्ति हुई उसका तो कुछ पूछना ही नही। ऐसा ज्ञात हुआ है कि मनुष्य को वह शक्ति प्राप्त हुई है जिसके द्वारा वह अभाव की सत्ता को ही मिटा देने मे समर्थ होगा। मानवता के इतिहास मे कभी ऐसा युग नहीं आया था जब मनुष्य को चतुर्दिक् यह महती शक्ति प्राप्त हुई रही हो। संभवतः वह योग्य हो गया था धरती को आर्थिक दु:ख और भौतिक अभाव तथा क्लेश से सर्वथा मुक्त कर देने मे। इस नये ज्ञान, नयी चेतना और नयी शक्ति के द्वारा मनुष्य नयी संस्कृति को जन्म देने मे सफल हुआ। जगत् को नया जीवन, नया दृष्टिकोण, नयी धारणा और नया आदर्श प्राप्त हो गया। फिर तो राजनीतिक और सामाजिक, आर्थिक तथा व्यावसायिक, सांस्कृतिक और बौद्धिक क्षेत्र मे नया प्रकाश फैलने लगा। मनुष्य ने अधिकार और कर्तव्य की नयी विवेचना कर डाली, राज्य-व्यवस्था के आदर्श की नयी कल्पना कर डाली। यूरप की आधुनिक सभ्यता की सबसे वड़ी देन और वहुमूल्य भेट वह राजनीतिक कल्पना है जिसमे मनुष्य की स्वतन्त्रता का चरम विकास मूर्त दिखाई देता है। इस कल्पना में शासन-व्यवस्था साध्य नही साधन है जो व्यक्ति और समाज के हितसम्पादन के लिए ग्राह्य समझी गयी। मनुष्य की स्वतन्त्रता, समता और वन्धुत्व के उच्च घोष के साथ यूरप ने मानवसमाज के राजनीतिक विचारो को वह अभिनव स्फूर्ति प्रदान की जिसने सभ्यता के इतिहास मे नये अध्याय का आरम्भ कर दिया। लोकतन्त्र के रूप मे व्यक्त हुई इस कल्पना ने 'वहुजनहिताय, वहुजनसुखाय' को वह नैतिक लक्ष्य और आधार प्रतिपादित किया, जिस पर शासन-सत्ता का सघटन आश्रित होना चाहिए। आधुनिक मानव को अपनी इन्हीं कल्पनाओ पर गर्व हुआ। ऐसा ज्ञात हुआ कि मनुष्य मनुष्य के उत्पीड़न से, निरकुश-शासन और स्वच्छन्द राज-व्यवस्था से, दासता और दलन से मुक्त हो गया।

जव धरती परस्पर निकट आने लगी, और भौगोलिक वाधाएं मिटने लगी, लडन और वाशिंगटन मे वने पदार्थ अनन्त जलराशि का

सन्तरण करते हुए भारत मे सुदूर गाँवो और अफ्रीका के जंगलो तक पहुँचने लगे तो धीरे धीरे अन्तर्राष्ट्रीय चेतना भी जागरित होने लगी। क्रमश मनुष्य अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग, सहायता और रक्षा का स्वप्न देखने लगा। समस्त मानव-जाति की एकसूत्रता की अनुभूति होने लगी और समय आया जब सारी धरती एक परिवार की और जगत् मे विश्व-व्यवस्था की कल्पना भी उदीयमान होने लगी। ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र मे मनुष्य को आशातीत सफलता मिली। कालप्रवाह से विलीन हुए अतीत के सहस्राब्दियो का चित्र अपने ज्ञान की तूलिका से उसने चित्रित कर डाला, धरती का जीवनचरित लिख डाला, विकास गति की रूपरेखा अंकित कर डाली, प्रकृति के रहस्यो का उद्‌घाटन कर डाला और जीवन की उस गूढ़ता मे प्रवेश किया जो अब तक दृश्य जगत् से सर्वथा पृथक् और बुद्धि के लिए अज्ञात था। विश्व का यह स्वरूप आशाप्रद नही है तो क्या है? मनुष्य की आदर्शवादिता, बुद्धिशीलता और उन्नति का उज्जवल प्रदर्शन स्पष्ट है। पर जहाँ उसका यह स्वरूप है वहां दूसरी ओर इससे भिन्न रूप भी है जिसकी उपेक्षा असभव है। जगत् के दु ख और उसकी दरिद्रता का निवारण तो दूर रहा हम ऐश्वर्य के मध्य मे अभाव का विकराल और रोमाचक स्वरूप सामने पाते है। भले ही एक ओर विलास का झूला पडा हुआ हो और कुछ लोग लक्ष्मी की लोल लीला मे लिप्त हो पर भूखो और नंगो की अपार भीड़ इतनी विशाल है कि उनके करुण क्रदन से पृथ्वी प्रकम्पित हो रही है। जठराग्नि की लपलपाती ज्वाला से सारा मानव-समाज भस्म हुआ दिखाई देता है। भले ही उपभोग्य वस्तुओ का निर्माण प्रचुर मात्रा में होता हो, उत्पादक देशो के व्यावसायिको के गोदाम उत्पन्न पदार्थों से पटे पड़े हों, विस्तृत भूप्रदेशो मे खड़ी फसलें लहलहा रही हों, लाखो मन सोने-चाँदी का लेन-देन होता रहता हो, पर व्यापक किन्तु अभागा जन-समूह अभाव की आग मे ही जलता रहता है। वह उत्तरोत्तर साधनहीन अधिकाधिक भूखा और दयनीय ही होता जाता दिखाई दे रहा है,

यद्यपि न पदार्थों की कमी दिखाई देती है और न ऐश्वर्य भांडार में क्षीणता। यातायात के साधनों में अकल्पित उन्नति हुई है, पृथ्वी के कोने-कोने में अभीष्ट पदार्थों को पहुँचा देना संभव है पर जन-समाज में यह शक्ति नहीं और न इतना सामर्थ्य बाकी बची कि वे उपलब्ध सामग्रियों से अपनी आवश्यकता का निराकरण कर सकें। जगत् की यह स्थिति अभूतपूर्व असंतोष, उग्र वर्गसंघर्ष और भयावनी कटुता का सर्जन कर रही है।

व्यावसायिक प्रतिस्पर्धा ने वह तीव्रता ग्रहण की है कि जगत् एकाधिक बार युद्ध की ज्वाला में विदग्ध हो चुका। धरती के प्रदेशों पर आधिपत्य को स्थापित करने, साम्राज्यों की रचना करने, बाजारों की नकेल अपने हाथों में रखने की चेष्टा अन्तर्राष्ट्रीय भावना, एकसूत्रता और आदर्श-वादिता को पूर्णतः चबा चुकी है। साम्राज्याधीन प्रदेशों का भयावना दोहन संसार को नारकीय बनाए दे रहा है। जिन देशों को लोहे का सामना लोहे से करने की शक्ति प्राप्त नहीं है, जो औद्योगिक देशों के धन-पशु व्यावसायिकों के पीछे चलनेवाली उस देश की सरकार की संगीनों का कुंठन करने की सामर्थ्य नहीं रखते या तो अपने कलेजा फड़वा डालें अथवा अपनी स्वतन्त्रता, अपना सम्मान और अपनी मनुष्यता को तिलांजलि देकर साम्राज्य-लोलुप-प्रभुओं के सम्मुख सिर झुका दें। आज जगत् में ऐसी ही पराधीनता और पोषण का नग्न स्वरूप प्रदर्शित है। चतुर्दिक् दलन, दासता और दरिद्रता की बीभत्स लीला हो रही है। देश में असंतोष, विदेश में असंतोष और पराधीन देशों में असंतोष की आग दहकती क्या दिखाई नहीं दे रही है। आधुनिक जगत् का सारा सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक संगठन पूँजीवाद पर स्थापित हो चुका है।

इस व्यवस्था ने मानव-श्रम का न कोई मूल्य रहने दिया और न कोई महत्त्व। श्रम से उपार्जित सम्पत्ति पर स्वामित्व उत्पादक का न

होकर किसी अन्य का हो जाता है और उत्पादक स्वयं मजदूरी मे मिले वेतन का विनियोग पुनः अपने ही श्रम से उत्पन्न पदार्थ को प्राप्त करने से करता है और इस प्रकार उसके दोहरे शोषण पर 'पूंजीवाद' फलता-फूलता रहता है। परिणाम यह होता है कि एक ओर पूंजी बढ़ती चलती है जिस पर स्वामित्व पूंजीपति को प्राप्त होता है और दूसरी ओर उत्पादक रिक्त मंजूषा मे पड़े दो-चार ठीकरो पर माल बेचने के बहाने आक्रमण किया जाता है और वह अधिकाधिक शोषित होता चलता है। 'पूंजीवाद' ने जीवन के मूल्य का अकन करने के लिए एक दूसरा ही माप-दंड उपस्थित कर दिया है। महत्त्व आज केवल धन का रह गया है। मनुष्य की सारी तौल धन के ही द्वारा की जाने लगी है। उसकी योग्यता, बुद्धि, सफलता और महत्ता का तोलन धन ही तुला से किया जाने लगा है। जब धन का ऐसा मूल्य हो गया हो तो उसकी असमानता के आधार पर स्थापित सामाजिक जीवन मे घोर वैपम्य का होना अनिवार्य है।

धनशीलो की प्रतिष्ठा, पद, अधिकार और शक्ति भी विशेष रूप ग्रहण करती है। सिद्धान्तत यह भले ही कहा जाता है कि न्याय की दृष्टि मे सब समान है पर व्यवहारत. धनी और निर्धन दो हो जाते है, जिनके साथ तदनुकूल भेद-मूलक वर्ताव किया जाता है। आज तो प्रतिष्ठा और अधिकार धन के ही अग और उपाग बन गये है। जो धनी है उन्हीं का सारा अधिकार है और जो निर्धन है उनके जिम्मे केवल कर्तव्य ही कर्तव्य है। फलत. जो वर्ग अधिकार का उपभोग करता है उसका स्वार्थ स्वभावत' धन मे ही स्थिर हो जाता है उसके लिए अनिवार्य हो जाता है कि वह धन की रक्षा और उसकी वृद्धि करते जाने मे अपनी सारी शक्ति और अधिकार का उपयोग करे। वर्ग-स्वार्थ के लिए सामूहिक हित की बलि इसी कारण चढ़ाई जाने लगती है, जिसका निश्चित परिणाम होता है सामाजिक जीवन मे सघर्ष और विक्षोभ का सूत्रपात। यही है पूंजीवाद की स्थूल रूपरेखा।

समस्त पूँजीवादी देशो की जनता अपने देश की पूँजीवादी व्यवस्था से स्वय त्रस्त और पीडित है। पर पूँजीवाद का विप अपनी सीमा से कहीं अधिक दूर तक व्याप्त है। सुदूर देशो के निवासी, महासमुद्रो के पार रहनेवाले, विशेप कर अश्वेत जातियो के लोग, एशिया और अफ्रीका के देश उनसे भी कहीं अधिक दलित और सताये हुए है। अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए पूँजीवादी राष्ट्र धरातल के विभिन्न भूभागो मे अपना साम्राज्य स्थापित करके वहाँ के निवासियो का दुर्दान्त दोहन तथा दलन करते है। पर 'पूँजीवाद' इतने से भी सन्तुष्ट नहीं होता। वह है भीपण महाविभीषिका जिसका तोष होना सभव ही दिखाई नही देता। पारस्परिक प्रतिस्पर्धा और साम्राज्य-पिपासा के कारण पूँजीवादी राष्ट्र समय-समय पर परस्पर भिड़ जाते है अपनी पापाग्नि मे अखिल भूमडल को झोककर महाविनाश का प्रलयंकर दृश्य उपस्थित कर देते हैं।

इन सबके सिवा पूँजीवाद का सबसे बड़ा दोष तो उन समस्याओ की सृष्टि कर देना है जिन्हें सुलझाना अब उसकी शक्ति के परे हो गया है। जगत् के सामने आज यह प्रश्न उपस्थित है कि पूँजीवादी व्यवस्था ने मानव समाज को जिस पक में ला पटका है, वहाँ से अब उसे कैसे बाहर किया जाय? ससार जहाँ पहुँच गया है यदि वहीं उसे पड़ा रहने दिया जाय तो उसका संहार भी निश्चित दिखाई देता है। क्षण भर के लिए उन समस्याओ पर विहगम दृष्टि डालिए जिनका सर्जन स्वयं पूँजीवाद ने कर डाला है। यन्त्रो के द्वारा पदार्थों के उत्पादन की मात्रा का अकल्पित रूप से अपरिमित हो उठना स्वाभाविक था। जब तक संसार के अनेक प्रदेशो और बाजारो पर प्रभुता स्थापित करके उत्पन्न प्रभूत पदार्थों को अत्यधिक परिमाण मे खपाना संभव था तब तक पूँजीवाद की नैया स्थिर गति से बराबर आगे की ओर बहती चली गयी। पर यह अवस्था अनन्त काल तक नहीं टिक सकती थी। धरती असीम नहीं है और न पदार्थों की खरीद करनेवालों की संख्या ही असंख्य है। साथ-साथ व्यवसाय में किसी एक देश को जगत् भर मे एकाधिकार भी प्राप्त नहीं

हो सकता था और न उत्पादन की वैज्ञानिक पद्धति किसी एक ही देश की बपौती होकर रह सकती थी। यूरप के अनेक देश धीरे धीरे नये 'उद्योगवाद' को अपनाने लगे थे जो जगत् के बाजारों पर छापा मारने लगे थे। अनिवार्यतः वह स्थिति आयी जब उत्पत्ति खपत की अपेक्षा अधिक होने लगी। नये व्यवसायियों के लिए अपने माल को खपाने के लिए आवश्यक हो गया कि विरोधियों की अपेक्षा अपने माल को सस्ता करें।

पर अधिक दिनो तक यह स्थिति भी नही चल सकती थी। पदार्थों के मूल्य के पतन के साथ-साथ मजदूरी भी कम की जाने लगी, जिसके फलस्वरूप जनवर्ग की क्रयशक्ति का ह्रास होने लगा। जब खरीदार की खरीदने की शक्ति ही न रहेगी तो माल की खपत होगी कैसे? फलत औद्योगिक देशो में उत्पन्न पदार्थों का भाडार भर उठा। उन्हे खपाये विना उत्पादन करते जाना संभव नहीं था। खपाने के लिए माल को क्रमशः सस्ता करते जाना पड़ा। परिणामतः उत्पादन की क्रिया रुकने लगी और बेकारी बढ़ने लगी। फलत• ऐसे दुश्चक्र की सृष्टि हुई जिसमे जैसे जैसे उत्पादन बढ़ा वैसे वैसे माल की खपत कम हुई और उत्पादन की गति रुकने लगीं। जैसे जैसे उत्पादन कम होने लगा, माल सस्ता किया जाने लगा वैसे वैसे बेकारी बढ़ने लगी। यान्त्रिक 'उद्योगवाद' ने हस्तकौशलो, ग्राम उद्योगो और कुटीर-व्यवसायों का सर्वनाश तो पहले ही कर दिया था। जन-समुदाय के लिए सिवाय कल-कारखानो के रोटी कमाने का कोई साधन बाकी नहीं बचा था।

जब कल-कारखाने तथा उत्पादन की क्रिया रुकने लगी तो बेकारो की अपार सेना के लिए न काम बाकी बचा और न भूख की शान्ति करने का कोई उपाय रह गया। इस कुचक्र में पडकर 'पूंजीवाद' का सारा आर्थिक सघटन स्वय ही भसकने लगा। जिस उत्पादन की प्रक्रिया के गर्भ से 'पूंजीवाद' का प्रसव हुआ था, वही उसके लिए विघातक सिद्ध होने लगी। औद्योगिक देशो की सरकारो की इस दुर्दशा से राष्ट्र के

बाहर निकालने के लिए नाना प्रकार के उपचार करने पड़े। पर वे सब उपचार समस्या को हल करने की दृष्टि से नहीं किये गये थे बल्कि उनका लक्ष्य था पतनोन्मुख पूजीवादी व्यवस्था की 'येन केन प्रकारेण' रक्षा करना। पूजीवादी लोकतन्त्र वास्तव मे लोकतन्त्र नही वरन् पूजीपतितन्त्र के रूप मे ही प्रतिष्ठित है। सारी प्रभुता, शासन-सत्ता और अधिकार केन्द्रीभूत है पूंजीपति वर्ग के हाथ मे, क्योकि सरकारो की नकेल उन्होंने पकड रखी है। स्वभावत ये सरकारें पूंजीपतियो के हित के लिए और 'पूंजीवादी' व्यवस्था को स्थायित्व प्रदान करने के लिए ऐसे उपचार करने लगी जो समस्या के मूल कारणो की उपेक्षा करके केवल वर्गहित का साधन करते थे।

साम्राज्य के बाजारो में प्रतिस्पर्धियो के माल का आयात रोकना, अपने देशो मे जकात की ऊची दीवारें खड़ा करना राष्ट्रीय उद्योगो के संरक्षण के नाम पर गरीब जनवर्ग को साम्राज्याधिपति राष्ट्र का महगा माल भी खरीदने के लिए बाध्य करना, मुद्रा और विनिमय की नीति का इस प्रकार संचालन करना कि दूसरे देशो के बाजारो में अपने माल का मूल्य गिराकर बेचा जा सके और वहाँ के उद्योग तथा वाणिज्य-व्यापार को चौपट किया जा सके आदि कुछ ऐसे उपाय थे, जिनका अवलम्बन करके पूंजीपति वर्ग के हित की रक्षा करने का प्रयास किया गया। स्पष्ट है कि समस्या हल होने के बजाय उलझती ही चली गयी, क्योकि मूल दोष के परिहार की ओर ध्यान ही नहीं दिया गया। दोष था पूंजीवादी उत्पादन, वितरण और विनिमय की पद्धति मे और उस प्रवृत्ति मे जिसके द्वारा उनका संचालन किया जाता है। दोष था उस व्यवस्था का जिसमे उत्पादन के साधनो का केन्द्रीकरण होता है अनुत्पादक वर्गों के हाथ में और उसी के हाथो में वितरण और विनिमय का सारा सूत्र भी केन्द्रीभूत हो जाता है। यह स्थिति अनिवार्यत: वर्ग-स्वार्थ का प्रजनन करती है और शोषण का कारण बनती है। 'पूंजीवाद' मे इसी का मूर्त रूप व्यक्त होता है। पूंजी और सम्पत्ति का केन्द्रीकरण

केन्द्रित वर्गहित के रूप में उद्भूत हो जाता है जिसकी रक्षा में सारी अर्थनीति और राजनीति परिचालित होने लगती है।

एक वर्ग के हाथों में सब कुछ का केन्द्रीकरण ही तो मूल दोष था और है, जिसका निराकरण किये बिना समस्या को सुलझाना न सभव था और न हो सकता है। जब वर्ग-भेद होगा तो वर्गहित भी परस्पर विरोधी होंगे और वर्ग-सघर्ष भी अनिवार्य हो जायगा। इस प्रकार 'पूंजीवाद' ने अपने स्वरूप से ही उस स्थिति को उत्पन्न कर दिया है जो उसके लिये स्वय ही भयावनी और संकटपूर्ण हो गयी है। उसकी अपनी व्यवस्था ही निसर्गत. अपने शत्रुओं का सर्जन करने मे समर्थ हुई है। उसकी उत्पादन की प्रणाली और अर्थ-नीति ने स्वयं ही उत्पादन की क्रिया की गति का अवरोध न कर दिया है। उसकी लाभ उठाने की अन्ध-मूलक स्वार्थ-प्रवृत्ति ने स्वत' विरोधी वर्गों की स्वार्थभावना को उत्तेजना प्रदान कर दिया है। फलत' 'पूजीवाद' अपने ही भार से समूल कम्पित हो उठा है। आज उसने जगत् को उस स्थान पर पहुँचा दिया है, जहाँ विभिन्न राष्ट्रों के पूजीपतियों का हित परस्पर टकराने लगा है, जिसके फलस्वरूप ऐसे विश्वव्यापी महायुद्धों का सूत्रपात होता है जो 'पूंजी-वादी' सभ्यता तथा तदुपार्जित सारे ऐश्वर्य और वैभव को मटियामेट कर देने के कारण होंगे।

जो लोकतन्त्र पश्चिमी सभ्यता की सबसे बड़ी देन थी और जिस पर उसे गर्व था, उसकी हत्या निष्ठुरतापूर्वक करने मे पूंजीवाद सफल हुआ दिखाई देता है। लोकतन्त्रवादी कहे जाने वाले देशों मे भी लोकतन्त्र की सत्ता बाकी नहीं रह गयी है। लोकतन्त्र की वह कल्पना जो सत्रहवीं और अठारहवीं शती में लाक और रूसो, वेन्थम और मिल के मस्तिष्क मे प्रादुर्भूत हुई थी आज कहाँ व्यक्त हो रही है? कहाँ है मानव के उन नैसर्गिक अधिकारों की रक्षा तथा सम्मान जिनकी पूर्ति के लिए ही उन्होंने सरकारों की उपयोगिता स्वीकार की थी? सक्षेप मे लोकतन्त्र के आधारभत भावों पर दृष्टिपात कीजिए और आज के अधिनायकवादी

नहीं किन्तु लोकतन्त्रवादी यूरोपियन देशों की स्थिति से उनकी तुलना कीजिए। आप देखेंगे कि आज जो कुछ है वह सर्वथा उन सिद्धान्तो का विरोधी है।

लोकतन्त्र की दृष्टि मे प्रकृति का अटल सनातन विधान अपना ऐकान्तिक अस्तित्व रखता है जिसके अनुसार जीवन का संचालन होता है। वह विधान मनुष्य के कर्तव्य और अधिकार का निर्धारण स्वय ही कर चुका है। लोकतन्त्र की घोषणा है कि मनुष्यमात्र का यह नैसर्गिक अधिकार है कि वह स्वतन्त्र रहे, स्वस्थ रहे, जीवन का निर्वाह कर सके और अपनी सम्पत्ति का उपभोग कर सके। लोकतन्त्र की दृष्टि में समाज की रचना का लक्ष्य यही है कि मनुष्य सफलतापूर्वक अपने अधिकारो का उपयोग अधिक से अधिक परिमाण मे कर सके, क्योंकि प्रकृति ने ही उसे ये अधिकार प्रदान किये है। मनुष्य अधिक से अधिक अवसर, इन अधिकारो का उपभोग करने के लिए प्राप्त करे और परिस्थितियाँ ऐसी उत्पन्न हो जिनसे अबाध रूप से वह इनका आस्वादन कर सके। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए समाज ने साधनरूप सरकारो को जन्म प्रदान किया।

फलत 'लोकतन्त्रवाद' के प्रतिपादक विचारको की कल्पना मे समाज और सरकार दोनो का अस्तित्व केवल इसलिए है कि वे मनुष्य को अपने नैसर्गिक अधिकारो का भोग करने मे अधिक से अधिक सहायता प्रदान कर सके, क्योंकि समाज हो अथवा सरकार कोई भी प्रकृति के विधान के परे नहीं है और वह विधान ही मनुष्य के अधिकार का निर्धारण कर देता है। जो शासन-सत्ता इस लक्ष्य की पूर्ति न कर रही हो अथवा अपने कर्तव्य की अवहेलना या उपेक्षा में रत हो उसके विरुद्ध विद्रोह करने और उसे मिटाकर दूसरी सरकार को स्थापित कर लेने का अधिकार समाज को उसी प्रकार प्राप्त है जैसे कोई कुशल शिल्पी अनुपयोगी अस्त्र का त्याग करके उपयोगी को ग्रहण कर लेता है। जब सरकारो की शक्ति और अधिकार समाज-प्रदत्त हैं तो समाज को अधिकार है कि उन अधिकारो का यदि दुरुपयोग होता हो अथवा कर्तव्य की पूर्ति में उनका सदुपयोग न होता हो तो उसे वापस कर ले।

'लोकतन्त्र' की इस कल्पना में स्वभावतः सरकार के संचालन का सारा अधिकार व्यापक जन-समूह के हाथों मे ही निहित है। अन्तिम शक्ति सरकार के हाथ में नहीं किन्तु जनता के हाथ में है और शासन-सत्ता उसकी दासी मात्र है। 'बेन्थम' और उसके बाद 'मिल' ने जिस नैतिक सिद्धान्त की स्थापना की थी और जिसे सरकारो के अस्तित्व के आधार का रूप प्रदान किया था वह यही था कि अधिक से अधिक लोगों के अधिक से अधिक कल्याण, सुख और हित की रक्षा करने मे समर्थ होना ही सरकार का लक्ष्य है और इसी दृष्टि से उसका अस्तित्व वाञ्छनीय और उपयोगी है। इस प्रकार 'लोकतन्त्र' ने मनुष्य के अधिकार की घोषणा की थी। पर जहाँ उसने अधिकार की व्याख्या की वही कर्तव्य का निर्धारण भी कर दिया। उसकी दृष्टि में कर्तव्य और अधिकार का सम्बन्ध अविच्छेद्य है। कर्तव्य बिना अधिकार की सत्ता ही नही है। जिस प्रकार कर्तव्य पूर्ति किये बिना सरकारो का कोई अधिकार नही माना जा सकता उसी प्रकार व्यक्ति के भी कर्तव्य है जिनकी पूर्ति किये बिना वह अपने अधिकार का उपभोग कर ही नहीं सकता।

व्यक्ति का कर्तव्य यही है कि वह जिस प्रकार अपने अधिकार की मॉग करता है उसी प्रकार दूसरे के अधिकार का सम्मान करे, उसकी रक्षा करे और उसे वही अवसर प्रदान करे जिसे वह स्वय प्राप्त करना चाहता है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, व्यक्ति से व्यक्ति का सम्बन्ध है, अत. कोई भी व्यक्ति अपने अधिकारो का अधिक से अधिक उपभोग उसी समय कर सकता है जब प्रत्येक व्यक्ति परस्पर दूसरे के अधिकार की रक्षा करने का कर्तव्य पालन करे। यदि आप मेरे अधिकार, मेरी स्वतन्त्रता और मेरे हित पर आघात करते है तो कोई दूसरा उसी प्रकार आपके अधिकार, आपकी स्वतन्त्रता और हित पर आक्रमण कर सकता है फिर तो किसी की न तो स्वतन्त्रता सुरक्षित रह सकेगी और न अधिकार। मनुष्य मत्स्यन्याय का शिकार हो जायगा और जिसकी लाठी

होगी उसी की हो जायगी भैंस। फलतः व्यक्ति को अपनी रक्षा, अपने हित, अपनी स्वतन्त्रता और अपने कल्याण के लिए भी यह आवश्यक है कि वह दूसरो की स्वतन्त्रता और हित का विचार करने, उसकी रक्षा और सम्मान करने का अपना कर्तव्य पूरा करे। निरंकुश होकर केवल अह की पूजा का यहीं अन्त होता है।

अधिक से अधिक 'अह' का विकास हो सके यह प्रत्येक व्यक्ति की, मनुष्यमात्र की स्वाभाविक एपणा होती है पर प्रकृति स्वयं इस प्रवृत्ति की, सीमा का निर्धारण करती दृष्टिगोचर होती है। 'अह' के विकास के लिए भी 'अह' को सीमाबद्ध करना आवश्यक होता है, क्योकि बिना उसके वह विकास भी संभव नहीं है। 'अह' के भाव मे ही यद्यपि 'पर' के अस्तित्व की स्वीकृति समाविष्ट है तथापि 'अहं' और 'पर' का कल्याण इसी मे है कि दोनो 'परस्पर भावयन्त.' के मार्ग का अनुसरण करे। यदि दोनों एक दूसरे के योगक्षेम तथा स्वार्थ और अधिकार का ध्यान न रखेंगे और परस्पर आदर न करेंगे तो वे दोनो स्वयं एक दूसरे का विनाश कर देंगे। इस प्रकार अहंभाव से भावित मनुष्य का स्वत्व परत्व की रक्षा की ओर उन्मुख रहकर ही अपना विकास कर सकता है। फलत व्यक्ति को अपनी सीमा स्वयं बॉधने के लिए बाध्य होना पड़ता है। उसे स्वेच्छा से समाज के चरणो में अपनी स्वतन्त्रता का, अपने नैसर्गिक स्वच्छन्द और अक्षुण्ण अधिकारो का अधिकांश समर्पण करना पड़ता है और अपने ऊपर बन्धन लगाकर समाज के निकट जाने के लिए बाध्य होना पड़ता है। व्यष्टि और समष्टि के इस सान्निध्य, समन्वय और सहयोग पर न केवल व्यक्ति और समाज का अस्तित्व निर्भर है वरन् उन दोनो का विकास तथा श्रेय उसी मे संभव है। इसी आधार पर व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध भी स्थापित है। इसी मे दोनो के कर्तव्य की व्याख्या है।

व्यक्ति समाज की अवहेलना न करे और समाज व्यक्ति के

विकास का साधक बने। व्यक्ति समाज के हित को पूरा करे और उसमें अपना हित देखे तथा समाज प्रत्येक व्यक्ति को अधिक से अधिक अपने अधिकारों के उपभोग का अवसर प्रदान करे। इस आदर्श की साधना के लिए उसे व्यावहारिक रूप प्रदान करने के लिए तथा उसकी रक्षा करने के लिए शासनसत्ता का प्रादुर्भाव हुआ। शासक के हाथ में जो भी अधिकार और शक्ति है, वह समाजप्रदत्त है और उसका मूल व्यापक जनसमूह है। यही थी 'लोकतन्त्र' की कल्पना। मानवता के इतिहास में ऐसा शुभ युग आया जब 'लोकतन्त्र' की उपर्युक्त भावना और दृष्टिकोण का उदय यूरप में हुआ जो धीरे-धीरे जनवर्ग को प्रभावित करने लगा। पश्चिमी यूरप की जनता में इन विचारों ने प्रचंड मानसिक क्रान्ति कर दी, और मनुष्य की स्वतन्त्रता, समता तथा बन्धुत्व में जीवन की सार्थकता दिखाई देने लगी। पशुबल, वर्गप्रभुता और निरंकुशता की भित्ति पर स्थापित तत्कालीन सामन्तवादी समाज की जड़ मनुष्य की प्रगति की धारा के वेग से हिल उठी।

अनियन्त्रित राजन्यवर्ग जो राजसत्ता को दैवी अधिकार और शक्ति से संपन्न घोषित करके अपनी समस्त निरंकुशता और निर्दलन की नीति को धर्म द्वारा प्रतिपादित कर रहे थे वे इस नयी लहर से सिहर उठे। पर जनसमूह की कल्पनाएँ बदलती ही गयीं। सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन का मूल्य आँकने के लिए जिन आदर्शों का मानदंड स्थिर किया गया था वह स्वयं ही विचूर्ण होने लगा। नयी धारणाएँ उनका स्थान ग्रहण कर रही थीं। फलत. फ्रांस में अठारहवीं शती के अन्तिम चरण में मनुष्य की स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व की पुकार लेकर क्रान्ति हुई। जिन आदर्शों की स्थापना के लिए फ्रांस ने शस्त्र का सहारा लिया उन्हें ही ब्रिटिश जनता ने बिना रक्तपात के केवल लोकमत की तीव्रता और शक्ति के द्वारा प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की। उधर अमेरिकन स्वाधीनता के युद्ध में 'मानवाधिकार' की घोषणा के द्वारा उन्हीं विचारों को महासमुद्र के पार जन्म दे डाला। वास्तव में 'लोकतन्त्रवाद' का उदय मानव-विकास के

प्रक्रिया मे मनुष्य की नैसर्गिक अहिंसक प्रकृति की विजय थी, जिसने वर्ग-
प्रभुता, अन्धशोषण और निरंकुश शासन-पद्धति के स्थान पर मानवाधिकार
की कल्पना की। लोकतन्त्र की दृष्टि मे यह तभी संभव था जब शासन-
सत्ता पर जनता का सामूहिक रूप से अधिकार हो। इसी कारण 'लाक'
ने प्रतिनिधिमूलक शासन-व्यवस्था के सिद्धान्त की रूपरेखा खींची।
'रूसो' ने तो विशुद्ध जनतन्त्र की कल्पना उसके चरमतम रूप मे की।
शासन-सत्ता की स्थापना का प्रतिपादन इस रूपमें करके मनुष्य ने जीवन
सम्बन्धी प्रश्नो को शान्तिपूर्वक हल करने का उपाय ढूंढ निकाला।

अब तक शस्त्र के सहारे सर काटकर समस्याओं को हल करने और
व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन के संचालन की जो पद्धति थी उसके
स्थान पर सर गिनकर समझौते, समन्वय और सामजस्य के द्वारा उन्ही
बातो को पूर्ण करने की प्रथा ढूंढ निकाली गयी। स्पष्ट है कि यह दृष्टिकोण
ही उस अहिंसक प्रवृत्ति का द्योतक है जिसकी उत्प्रेरणा मनुष्य के जीवन
को स्वभावत उसी प्रकार प्राप्त होती रहती है जिस प्रकार किसी भी
दूसरी प्रवृत्ति की। 'लोकतन्त्र' की यह आभा मानव-जीवन को एक सीमा
तक आलोकित करने में समर्थ हुई थी। यूरप की यह मानव-समाज को
बडी भारी देन थी जिस पर उसे गर्व करने का उचित अधिकार था।
लोकतन्त्र के प्रकाश मे मनुष्य की ऐतिहासिक गति एक विशेष दिशा की
ओर मुड़ती दिखाई पड़ी। पर मानवता के दुर्भाग्य से यह प्रकाश एक
दिन क्षीण होता और धीरे-धीरे बुझता दिखाई देने लगा। 'लोक-
तन्त्रवाद' की जन्मभूमि यूरप मे आज लोकतन्त्र का जैसा निर्दलन और
उपहास होना दिखाई दे रहा है वह रोमांचक है।

यदि आप लोकतन्त्रात्मक देशों पर दृष्टिपात करें तो देखेगे जननायक
वास्तव मे वर्ग-हित का ही साधन कर रहे है। अधिक से अधिक लोगो के
अधिक से अधिक हित के संपादन का सिद्धान्त न जाने कब का समाप्त हो
चुका है। न कहीं मनुष्य के नैसर्गिक अधिकार रह गये हैं और न कहीं
रह गयी है ऐसी सरकार जिसकी सत्ता व्यापक जनवर्ग के अधिकारो की

रक्षा और हित की पूर्ति के लिए साधन रूप समझी जाती हो। वास्तव मे आज सरकारे व्यक्ति के लिए नहीं, समाज के लिए नहीं रह गयीं हैं, प्रत्युत व्यक्ति और समाज ही सरकार के लिए रह गया है। स्वतन्त्रता और मनुष्य के अधिकार-सम्बन्धी सिद्धान्त मुख से भले ही उच्चरित होते हो, भले ही लोकतन्त्रात्मक आदर्शों और कल्पनाओ का व्यवधान खड़ा किया जाता हो पर उनके आवरण मे प्रचंड निरकुशता और वर्गप्रभुता की ही साधना की जाती है।

सरकारो की शक्ति और प्रभुता अपरिमित और अक्षुण्ण हो गई है। उसके पास सहारा रह गया है एकमात्र पशुबल का। उसका कर्तव्य हो गया है वर्गों और गुटो के स्वार्थ के लिये आवश्यकतानुसार जन-समाज के अधिकारो का निर्दलन करना। केन्द्रीभूत शक्ति और अधिकार की प्रचड प्रतिमा के रूप मे स्थित सरकार-नामधारी सस्था सम्प्रति विकराल और भयावनी हो चुकी है। 'जनतन्त्र' का अर्थ और उसका भाव तो यह रहा है कि शासन-शक्ति जन समाज मे समान रूप से वितरित हो। जो शक्ति और जो अधिकार किसी युग में अनियन्त्रित राजाओ के हाथ में थे, जो उनके परिवार अथवा कुटुम्बी जनो अथवा सामन्तो की मुट्ठी मे थे, उन्हें जनतन्त्र के द्वारा जन-समूह को समर्पित कर देने की चेष्टा ही लोकतन्त्र में मूर्त हुई थी। केन्द्रित और निरंकुश शक्ति का विघटन करने की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि मनुष्य ने यह अनुभव किया कि किसी व्यक्ति, वर्ग या समूह के हाथो में सर्वाधिकार प्रदान कर देना ऐसा भयावना रोग है जो जनता की स्वतन्त्रता और जनाधिकार के अपहरण तथा जनहित के निर्दलन की ओर अनिवार्यत' प्रवृत्त होगा।

इस रोग का निराकरण उसी दशा मे संभव है जब सब पर शासन करने का अधिकार सबको प्राप्त हो। उसी दशा मे प्रत्येक प्रत्येक के अधिकार और हित की चिन्ता करने के लिए बाध्य होगा, क्योकि बिना इसके किसी एक का भी हित सुरक्षित नहीं रह सकता। पर आज 'लोकतन्त्रात्मक' कही जानेवाली सरकारें निरंकुश हैं, जो स्वय प्रभु है और अपने से

उत्कृष्ट किसी दूसरे का अस्तित्व स्वीकार नहीं करतीं। उनकी दृष्टि मे उनके सिवा किसी दूसरे के अधिकार का भी अस्तित्व नहीं है और न उनके हित के सम्मुख किसी अन्य के हित का प्रश्न ही उठता है। मनुष्य-समाज अतीत मे शासन-सत्ता से उत्पीडित होता रहा है। लोकतन्त्र ने उस उत्पीडन से उसे मुक्त करने का प्रयास किया, पर हम देख सकते हैं कि स्थिति मे किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ। एक दृष्टि से उत्पीड़न की मात्रा पूर्व की अपेक्षा अद्यावधि कहीं अधिक है। आज की सरकारों के पास ऐसे साधन उपलब्ध हैं, जिनका पूर्वकाल मे कहीं पता भी न था। ये सरकारें महती शक्ति से संपन्न हैं जिसका उपयोग करके समाज मे जीवन का सारा सूत्र वे अपने हाथो में कर लेने मे समर्थ होती हैं। उनकी अकल्पित और यान्त्रिक-शक्ति से मानव-जगत् का क्षितिज अन्धकाराच्छन्न हो गया है।

उचित और अनुचित, नीति और अनीति के निर्णय करने का सारा अधिकार उन्होंने हडप कर रक्खा है। आज की सरकारें दूसरे देशों के सामने मनमाने दावे पेश कर सकती हैं, अपने देश की जनता को अपने चरणो मे स्वाधिकार समर्पण कर देने के लिए विवश कर सकती हैं और देश को जब चाहें युद्ध की अग्नि में झोंक सकती हैं। उन्हें अधिकार प्राप्त है कि अपनी सीमा में निवास करनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को अपने परिवार, अपने धन, अपनी संपत्ति तथा अपने प्राण तक को स्वाहा कर देने के लिए वाध्य कर दें। सरकारें यदि चाहेंगी तो आपको मनुष्य की हत्या करनी ही पड़ेगी, चाहे आप इसे पाप ही क्यों न समझते हों। आपकी सरकार युद्ध मे लिप्त होकर न्याय कर रही हो या अन्याय, जिन कारणो को लेकर वह मनुष्य द्वारा मनुष्य की हत्या करा रही हो वह उचित हो या अनुचित, पर आपको उसकी आज्ञा के सामने चुप-चाप शिर झुका देने के सिवा दूसरा अधिकार प्राप्त नहीं है।

सरकारों के लिए तो नैतिकता का भी कोई वन्धन नहीं रहा। असत्य, स्वार्थ, हत्या, प्रवंचन आदि भले ही व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में

अपराध माने जाते हों, भले ही सरकारें इनके लिए व्यक्ति को दंड का भागी बनाती हो, पर वे स्वयं इनसे परे हैं। वे जब चाहें इनका आश्रय ग्रहण करे, अपनी प्रजा को भी यही करने के लिए बाध्य करें और अपनी सफलता में गर्व करे। कोई शक्ति नहीं है जो उनसे जवाब भी तलब कर सके। व्यक्ति भले ही 'मैं' के सिवा 'तुम' की सत्ता स्वीकार करे, वह अपने सकुचित स्वार्थ की परिधि के परे जीवन के लिए अधिक उत्कृष्ट और उन्नत आदर्श भी भले ही स्वीकार करे, पर सरकारो के सामने इसकी भी कोई मर्यादा नहीं है। वे केवल अपने हित को जानती हैं और जो चाहती हैं वही करना उचित समझती हैं। सरकारो का, उन सरकारो का भी जो लोकतन्त्रात्मक होने का दावा करती हैं, यह स्वरूप है। उनमे भी शक्ति और अधिकार का कैसा भयावना केन्द्रीकरण हो गया है। देश की जनता के जीवन पर आज की सरकारो का कैसा स्वच्छन्द और सम्पूर्ण अधिकार स्थापित है। अपनी प्रभुता बनाए रखने के लिए वह अपने देश की जनता-स्वतन्त्रता पर आघात करती है। किसी को अधिकार नहीं है कि उसकी शक्ति, उसकी प्रभुता और उसके निर्णय के विरुद्ध चूँ भी कर सके।

आखिर क्या कारण है कि सरकारों ने यह रूप ग्रहण किया ? वह कौन-सी प्रक्रिया और परिस्थिति है जिसने उन्हें इस साँचे मे ढाल दिया ? जब हम इस प्रश्न पर विचार करते है और इतिहास के पन्नों पर दृष्टिपात करते हैं तो यह ज्ञात होता है कि लोकतन्त्र की धारा 'पूँजीवाद' के मरुस्थल में पहुँचकर सूख चली। अकल्पित और अभूत-पूर्व रूप से अत्यधिक मात्रा में पदार्थों का निर्माण जब संभव हुआ और उसे जगत् के सुदूर कोनों मे ले जाकर जब बेचना संभव हुआ और जब दुनिया के बाजारों पर अपना अधिकार स्थापित करना सरल हो गया तब 'यन्त्रवादी' उद्योग की कृपा से अप्रत्याशित लाभ उठाना भी संभव हो गया। 'पूँजीवाद' का जन्म और विकास इसी भाँति हुआ। केन्द्रीभूत पूँजी का परिणाम पूँजीवाद के रूप मे प्रकट हुआ। केन्द्रित पूँजी

परिणाम था यान्त्रिक उत्पादन प्रणाली का, जिसमें उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व स्थापित था पूॅजीपतियों का। यान्त्रिक उत्पादन-प्रणाली में उत्पादन के साधन केन्द्रीभूत होते है और उत्पत्ति की प्रक्रिया भी केन्द्रित ढंग से ही होती है। पूॅजी, उत्पादन, उत्पादन के साधन का श्रम सबका केन्द्रीकरण हुए बिना उत्पत्ति का यान्त्रिक प्रकार चल ही नहीं सकता।

बिना इस केन्द्रीकरण के पदार्थों का निर्माण उस व्यापक और विस्तृत परिमाण मे हो ही नहीं सकता जिस मात्रा मे आज किया जाने लगा है। उत्पादन भी इस पद्धति के द्वारा धरातल के समस्त मनुष्यों की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए सामग्रियो के निर्माण का एकाधिकार जब यरप के कुछ प्रमुख औद्योगिक देशो के मुट्ठी भर महाजनों और व्यावसायिको को प्राप्त हो गया तब उसका परिणाम हो ही क्या सकता था? माल की व्यापक बिक्री और खपत के फलस्वरूप अकल्पित लाभ उठाया गया।

ऐसी स्थिति मे पूॅजी की उत्तरोत्तर वृद्धि और एकत्रीकरण स्वाभाविक था। जगत् की सारी सपदा कुछ देशों के पूॅजीपतियो के करतलगत हुई। केन्द्रीकरण की जिस प्रवृत्ति ने पूॅजीवाद को जन्म दिया वही प्रवृत्ति सामाजिक जीवन के अंग-प्रत्यंग में छा गयी। व्यक्ति को तो उसने परावलम्बी बनाकर छोड़ा। जब उत्पादन, वितरण और विनिमय की सारी व्यवस्था केन्द्रीभूत होकर कुछ के हाथों का खेल बन गयी तब साधारण जनता को जीवन की आवश्यक सामग्रियों की उपलब्धि के लिए किसी केन्द्रीय व्यवस्था का मुखापेक्षण करना ही पड़ेगा। कार्यतः यह परावलम्बन उसकी पराधीनता का कारण हुआ, दूसरी ओर सामाजिक जीवन भी वर्गसत्ता और वर्गस्वार्थ से विताड़ित हो गया। जिस वर्ग के हाथों में उपर्युक्त आर्थिक व्यवस्था का सूत्र आ जायगा वह अपने हित और अपने स्वार्थ तथा लाभ की रक्षा और वृद्धि के लिए अधिकाधिक सतर्क और यत्नशील होता ही जायगा।

इसी प्रकार वर्गस्वार्थ का प्रजनन हो जाता है, जिसकी रक्षा के लिए वर्ग की प्रभुता आवश्यक हो जाती है। यह प्रभुता प्राप्त करना तब तक

संभव ही नहीं है, जब तक पूँजीपति वर्ग स्वतः शासन-यन्त्र पर आरूढ़ होकर उसके संचालन का सूत्र अपने हाथों में न ले ले। वर्गस्वार्थ की पूर्ति ही जिस अर्थनीति का आधार हो जाय वह विरोधी वर्गों की उत्पत्ति अवश्य ही कर देगी। सारा जन-समाज यदि किसी केन्द्रित आर्थिक व्यवस्था का परावलम्बी बना दिया जायगा तो निश्चित है कि पराधीनता, शोषण और दलन का सर्जन हो जायगा। यह स्थिति इतनी अप्राकृतिक, अन्यायपूर्ण और अनीतिमूलक है कि उसे स्थायी बनाने के लिए शक्ति और अधिकार के केन्द्र पर छापा मारना उस वर्ग के लिए अनिवार्य था जो उक्त व्यवस्था की रक्षा में अपने वर्गस्वार्थों की सिद्धि देख रहे थे। शासन-सत्ता, शक्ति और अधिकार की संस्था है ही जिसका उपयोग किए विना पूँजीपतिवर्ग के लिए न अपनी रक्षा करना संभव था, न प्रभुता प्राप्त करना। फलतः उन्होंने अपनी सारी प्रतिभा और धन के द्वारा लोक-तन्त्र की व्यवस्था का गला धर दबोचा। पूँजीवादी यान्त्रिक 'उद्योगवाद' में जिस केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति का आविर्भाव हुआ उसने सारे समाज में केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति ही पैदा कर दी। शासन-सत्ता भी इस प्रवृत्ति से अछूती नहीं रह सकती। वर्गस्वार्थ जैसे-जैसे उग्र होता गया वैसे-वैसे उसकी रक्षा की चेष्टा भी बढ़ती गई। इस चेष्टा में सफलता प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक होता गया कि शासन-तन्त्र के अधिकार और उसकी शक्ति का केन्द्रीकरण अधिकाधिक मात्रा में होता चले। 'पूँजी-वाद' के विकास के साथ-साथ शक्ति और अधिकार का केन्द्रीकरण इसी कारण होता गया। लोकतन्त्र आज इसी केन्द्रीकरण का विकृत स्वरूप ग्रहण कर चुका है। जैसा कि कह चुका हूँ, 'जनतन्त्र' शक्ति और अधि-कार के अधिकाधिक वितरण का ही नाम है। यदि वितरण की इस गति का अवरोधन कर दिया गया और उसके स्थान पर केन्द्रीकरण होने लगा तो लोकतन्त्र यों ही मर चुका।

'पूँजीवाद' का शत्रु बोलशेवी रूस यद्यपि 'पूँजीवाद' का विनाश करने चला पर उसने पूँजीवाद की केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति को बुरी तरह

अपना लिया। आज रूस की मजदूर सरकार केन्द्रित शक्ति और अधिकार का प्रचंड प्रतीक है। उत्पादन, वितरण और विनिमय के साधनों का, शक्ति और अधिकार का तथा शासनसत्ता का जो केन्द्रीकरण रूस में हुआ है वह अतुलनीय है। दूसरी ओर लोकतन्त्र का विरोधी 'फासिटीवाद' या 'नाजीवाद' शासनसत्ता के केन्द्रीकरण का बीभत्सतम रूप है। पर 'बोलशेवीवाद' और 'नाजीवाद' को छोड़ दीजिए तो भी जो 'लोकतन्त्रवादी' बने रह गए वे भी फासिस्टों या नाजियो से विशेप भिन्नता नहीं रखते। आज का लोकतन्त्र वस्तुतः 'पूँजीपति' तन्त्र के रूप मे ही प्रतिष्ठित है। अमेरिका और ब्रिटेन लोकतन्त्र के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण माने जाते है। पर दो दशको के उनके इतिहास पर दृष्टिपात कीजिए और आप देखेंगे कि 'लोकतंत्र' का आवरण रखते हुए भी उन देशों मे धीरे-धीरे शासन-शक्ति और अधिकार को अधिकाधिक उस सरकार के हाथो में केन्द्रित करते जाने की 'फासिटी' प्रवृत्ति विकसित होती रही है, जिस पर वहाँ के व्यावसायिको और महाजनो का प्रभुत्व स्थापित है।

उन देशो मे जन-समाज के अधिकारो का अपहरण धीरे-धीरे होता गया है। 'लोकतन्त्रवादी' देशों का उपयुक्त वर्ग स्पष्टतः 'फासिटियो' और 'नाजियो' के प्रति प्रशंसात्मक और सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि रखता रहा है। फ्रान्स, ब्रिटेन और अमेरिका की सारी अन्तर्राष्ट्रीय नीति जो गत दस वर्षो मे बढ़ती गई है, वह इसका अकाट्य प्रमाण है। प्रमुख और प्रभावशील राष्ट्रनायकों के एक नहीं अनेक ऐसे उद्गारों के उद्धरण उपस्थित किए जा सकते हैं, जिनमें उन्होंने इटली और जर्मनी की फासिटी पशुता के प्रति प्रेम प्रदर्शित किया है और खुले शब्दो में उनसे मित्रता तथा सहयोग की आवश्यकता बताई है। आज श्री चर्चिल ब्रिटिश जनता के नायक और लोकतन्त्र के परम पोषक होने का दम्भ रच रहे हैं, पर उन्हीं के एक वाक्य की ओर पाठको का ध्यान आकर्षित कर देना अनुचित न होगा। सन् १९२७ ई० में जब ब्रिटेन में 'बाल्डविन' की सरकार थी श्री चर्चिल

ने अर्थमन्त्री की हैसियत मे रोम की यात्रा की और इटालियन जनता के सामने भाषण किया।

आप अपने भाषण मे कहते हैं—"सिगनर मुसोलिनी की शान्त, अनासक्त तथा सौम्य मूर्ति को देखकर मै मुग्ध हुए बिना न रह सका। इतने संकटो और कठिनाइयो के रहते हुए भी उन्होने जो धीरता प्रदर्शित की है उससे प्रभावित हुआ हूँ। यदि मै इटालियन रहा होता तो मुझे निश्चय है कि 'लेनिनवाद' की पाशविकता के विरुद्ध मुसोलिनी ने जो सफल युद्ध छेड़ा है, उसमे आरम्भ से अन्त तक उनके साथ रहता और अपनी सारी शक्ति लगा देता। इस अवसर पर मै फासिज्म के अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप पर दो शब्द कहना उचित समझता हूँ। इस आन्दोलन ने स्पष्टत सारे जगत् की महती सेवा की है। इटली ने यह दिखा दिया कि वर्तमान सभ्य समाज की रक्षा का और उसे स्थिरता प्रदान करने का एक मार्ग है, जिसके द्वारा उन विनाशात्मक शक्तियो का प्रतिरोध किया जा सकता है जो आज जगत् के लिए भयावह हो गयी हैं। उसने वास्तव मे रूसी विप का परिहार करने के लिए औषध उपस्थित कर दिया है।"

ये वाक्य हैं चर्चिल महाशय के जो आज 'लोकतन्त्र' के सर्वोत्कृष्ट संरक्षक होने का दम भरते हैं। 'फासिटीवाद' की महिमा उन्हीं ने गायी थी; यद्यपि आज उसी को मानवता का शत्रु और बर्बरता का प्रवर्तक कहते हैं। यह मतपरिवर्तन केवल इसलिए हुआ है कि मुसोलिनी की सौम्य और शान्त मूर्ति तथा जगत् की सेवा करनेवाला फासिज्म समय आने पर विश्व पर छाई ब्रिटिश पताका की प्रभुता और 'साम्राज्यवादी' ऐश्वर्य के लिए भयावह हो उठा। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'लोकतन्त्रवाद' का दम भरनेवाले वास्तव में प्रच्छन्न फासिस्ट हैं जो 'पूँजीवादी' वर्गस्वार्थ की रक्षा के लिए 'लोकतन्त्र' की हत्या करने मे समर्थ हुए और जब उसी स्वार्थ को ठेस पहुँची तो लोकतन्त्र के रक्षक होने का दम भरने लगे। तात्पर्य यह है कि 'पूँजीवाद' ने जिन प्रवृत्तियों को जन्म दिया उन्होने लोकतन्त्र का भी विनाश कर डाला। उत्पादन के साधनो और

उत्पादन की पद्धति के केन्द्रीकरण से पूँजी का केन्द्रीकरण और पूँजी के केन्द्रीकरण से वर्गहित का केन्द्रीकरण तथा अन्त में उसकी रक्षा के लिए शक्ति और अधिकार का केन्द्रीकरण, इस केन्द्रीकरण के फलस्वरूप लोक-तन्त्र का तिरोभाव—संक्षेप मे यही प्रक्रिया थी जिसने 'लोकतन्त्र' का विनाश कर डाला।

शक्ति और अधिकार के केन्द्रीकरण पर स्थापित व्यवस्था की रक्षा करने के लिए भी कोई न कोई उपाय आवश्यक था। इस उपाय को ढूँढ़ निकाला गया शस्त्र के बल मे। आज जगत् की सरकारों ने शस्त्रबल को भी वह सुसंघटित केन्द्रीय रूप प्रदान किया है जिसके भार से धरती डग-मगा उठी है। ब्रिटेन और अमेरिका आदि देशो का ऐसा प्रगतिशील वर्ग अपने अपने देशो में उदीयमान इस प्रवृत्ति से त्रस्त है। अमेरिका के उपराष्ट्रपति श्री हेनरी वैलेस ने भाषण करते हुए अभी हाल मे कहा है कि "अमेरिका में नये प्रकार के 'फासिटीवाद' का उदय हो रहा है। मैं देख रहा हूँ कि यह अमेरिकन फ़ासिज्म मानवता की प्रगति के लिए भयावह हुआ चाहता है। युद्धोत्तर व्यवस्था में अमेरिकन राष्ट्र का एकमात्र महान् कर्तव्य यह होना चाहिए कि वह इस नये अमेरिकन 'फासिटीवाद' का विकास रोक दे।"

विचार कीजिए कि यह अमेरिकन 'फासिटीवाद' क्या है ? क्यों उस देश के बडे-बडे उद्योगो और व्यवसायों तथा पूँजी के प्रभुओं का गुट शासन-सत्ता पर अपने निरंकुश अधिकार की स्थापना के लिए प्रबल प्रयास में संलग्न हो गया है। उसके लिए वाल्स स्ट्रीट का हित अमेरिका के हित से, मानव-समाज के हित से और जगत् के हित से कहीं बढ़कर है। वह अपने देश की सरकार को अपने हाथों में रखकर राष्ट्र की आर्थिक, राजनीतिक और अन्तर्राष्ट्रीय नीति का संचालन इस प्रकार करना चाहता है कि अधिक से अधिक विश्व का शोषण हो सके, व्यवसाय से लाभ उठाया जा सके और अपने धनकोष को आकंठ भरा जा सके। आज अमेरिकन लोकतन्त्र भी पूँजीपतिवर्ग-सत्ता की ही अभिव्यक्ति है।

अमेरिका के मानवाधिकार (राइट्स आफ मैन) की घोषणा ने मनुष्य को स्वतन्त्र नहीं बनाया। स्वयं अमेरिका के काले 'नीग्रो' की दशा संसार के सम्मुख है। एक अमेरिकन राष्ट्रपति को फिलिपाइन्स द्वीपसमूह पर अपना अधिकार स्थापित करके उसे अपना पराधीन बनाने के लिए दैवी उत्प्रेरणा तक मिल गयी। मनुष्यमात्र की स्वतन्त्रता का उनका सिद्धान्त न जाने कहाँ चला गया है। एशिया-निवासियों के विरुद्ध अमेरिका के वर्णभेदमूलक कानून आज भी उस महासिद्धान्त का मखौल उड़ा रहे है जिसका प्रतिपादन और अभिषेचन अमेरिकन रक्त से हुआ था। फ्रांस की राज्यक्रान्ति की नयी कल्पना ने भी मनुष्यमात्र की समानता, बन्धुत्व और स्वतन्त्रताकी सत्ता स्थापित न की। फ्राँसीसी साम्राज्यवाद का शिकार होकर न जाने कितना बड़ा जन-समाज शताब्दियों तक परितप्त रहा है। उसकी साम्राज्य-लिप्सा और प्रभुता-प्राप्तिकी कामना तथा वर्गहित की साधना फ्राँसीसी राष्ट्र को ही ले डूबी। ब्रिटेन की 'बहुजनहिताय' और 'बहुजनसुखाय' की कल्पना भी अपना विशेष अर्थ रखती है। इंगलैण्ड के मिल-मालिक, महाजन और औद्योगिक प्रभुओ के सिवा वहाँ की शासन-सत्ता की दृष्टि मे कदाचित् कोई 'जन' है ही नहीं। उनमे से अधिक से अधिक का हित और अधिक से अधिक का सुख ही उसका लक्ष्य है। वसुधा उसके सिद्धान्त से प्रवंचित है क्योंकि उसके अक में परिपालित और उसी के गर्भ से उद्भूत अतिव्यापक जनवर्ग 'बहुजनहिताय' तो नहीं पर 'अगरेज-महाजनहिताय' शोषित, दलित और विताड़ित है। युद्ध के पूर्व तक फ्राँस और इन पक्तियों के लिखने के समय तक ब्रिटेन, दो सर्वश्रेष्ठ साम्राज्याधिपति राष्ट्र है। इन दोनों देशों की सम्मिलित जन-संख्या नौ करोड़ से अधिक नही है, जो स्वय सयुक्त रूप से पृथ्वी के साठ करोड़ नर-नारियों की पराधीनता के कारण हो गये हैं। अकेले इगलैंड के अधीन प्राय. ४८ करोड़ नर-नारी शोषण और निर्दलन तथा पराधीनता का जीवन यापन कर रहे हैं। उनकी एकमात्र सार्थकता ब्रिटिश पूँजीपतियों, शासकवर्गों और

हाजनो के स्वार्थ, उनकी वासना और प्रवृत्ति की पूर्ति करते रहने में ही समझी जाती है।

आज किस देश मे मनुष्य स्वतंत्र है और कहाँ की राजनीति व्यक्ति और समाज के व्यापक हित के लिए परिचालित है? यूरप की फासिटी व्यवस्थाओं से दलित देशो मे राज्य-सत्ता की कल्पना तो वैसी ही है जैसी बर्बर युग मे रही होगी। "राज्यसत्ता स्वतंत्र और अक्षुण्ण है और व्यक्ति तथा समाज का अस्तित्व यदि है तो केवल उसी लिए।" मुसोलिनी का यही सिद्धान्त है जो समझते है कि मानव के उत्तम गुण और उसके उज्ज्वल अशो का विकास तभी सभव है जब जगत् मे समरानल प्रज्व-लित होता रहे। मानव-जीवन की उपयोगिता केवल इतनी समझी जाती है कि उसे कुचलकर शासक अपनी प्रभुता की प्रवृत्ति तृप्त कर सके। मनुष्य के खून से इस व्यवस्था का सेचन हो इसलिए कि वह अधिका-धिक उसका रक्त पान करने में समर्थ हो। हिटलर का नाज़ीवाद तो इससे भी एक पग और आगे बढ़ गया। उनकी कल्पित 'आर्यजाति' का प्रतीक नाज़ी जर्मनी है जिसे, उसके मतानुसार, प्रकृति, ईश्वर और इतिहास से यह अधिकार प्राप्त हुआ है कि आसमुद्र भूमंडल पर वही एकमात्र शासन कर सके। हिटलर की दृष्टि में मानवता का कल्याण इसी बात मे है कि वह चुपचाप नाज़ी पदाघात को अपने वक्षःस्थल पर स्थापित कर ले। नाज़ियो की दृष्टि में यही वह ऐतिहासिक प्रक्रिया है जिसे परिपूर्ण करने के लिए हिटलर का अवतार हुआ है। जगत् की जो शक्ति इसमें बाधक हो उसे विनष्ट कर देने का दिव्य कार्यभार विश्वात्मा ने मानो हिटलर पर ही छोड़ा है।

अधिनायक-सत्ताधीन किस देश में जनवर्ग स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व का उपभोग कर रहा है? कहाँ है मनुष्य का नैसर्गिक अधिकार और कहाँ है अधिक से अधिक लोगों की रक्षा और हित तथा सुख के सम्पादन का आदर्श? जाति-विद्वेष उग्रतम रूप मे, पशुबल घृणित मात्रा मे और बर्बरता का नग्न नर्तन! यहूदियो का लहू पी लिया गया

क्योंकि वे अनार्य समझे गये। विश्व की प्रभुता के लिए जर्मन जनता बलि चढ़ा दी गयी। अब समाजवादी रूस की ओर चलिए। रूस की सोवियट शासन-पद्धति ने कब व्यक्ति की स्वतंत्रता स्वीकार की ? समाजवाद की विचार-धारा में व्यक्तिवाद का उन्मूलक तत्त्व ही विकसित हुआ। व्यक्ति-सत्ता यदि है तो उसकी एकमात्र उपयोगिता और सार्थकता यही है कि समाज के लिए उसकी बलि चढ़ा दी जाय। मार्क्स को इसी में व्यक्ति की उन्नति और उसका हित भी दिखाई देता है। वे कहते हैं—"मानव-जाति का विकास और इस प्रकार व्यक्ति का विकास भी केवल उस ऐतिहासिक प्रक्रिया के द्वारा ही संभव है जिसमे व्यक्ति की बलि चढ़ा दी जाती है।" फलतः सोवियट-पद्धति व्यक्ति की भावना, स्वतन्त्रता और अधिकार का अस्तित्व स्वीकार ही नहीं करती। यही कारण है कि उसके शासन का यन्त्र व्यक्तिवाद को कुचल कर ही चलता है।

समाजवादी, व्यक्ति के स्थान पर समाज को स्थापित करता है, पर उसके समाज की सीमा वह नहीं है जो उक्त शब्द के साधारण अर्थ मे गर्भित है। उसके समाज का अर्थ श्रमिकवर्ग से है जो मज़दूरी लेकर उत्पादनक्रिया में संलग्न है। मजदूरो का वर्ग ही वह समाज है जिसके हित में, विकास मे और उन्नति मे समस्त अ-श्रमिकवर्ग को बलि चढ़ा देने में मानवता के कल्याण का साधन और ऐतिहासिक प्रक्रिया की पूर्ति समझी जाती है।

उसका आदर्श है जगत् में ऐसे समाज की रचना करना जो वर्गहीन हो। तर्क यह है कि जब वर्ग ही समाप्त हो जायगा तो शोषक और शोषित का भेद भी मिट जायगा और मिट जायगा वर्गों का परस्पर विरोधी स्वार्थ। इस समाज के अधिकार मे उत्पादन और वितरण के सारे साधन रहेंगे। उसी समय राज्य-सत्ता का अस्तित्व भी क्रमश क्षीण होते होते एक दिन पूर्णत विलुप्त हो जायगा। यह है उनका आदर्श। पर जब तक उसकी उपलब्धि नहीं होती तब तक कम्यूनिस्टों की ऐतिहा-

सिक प्रक्रिया का परिचालन इसी बात मे है कि मजदूर वर्ग की अधिनायक सत्ता स्थापित की जाय जो बलपूर्वक अन्य सब वर्गों को कुचल कर वर्गहीनता की ओर बढ़े। श्रमिको की अधिनायकता का संचालन वह पार्टी करती है जो मजदूरो का प्रतिनिधि होने का दावा करती है और जिसने मजदूर क्रान्ति को सफल बनाकर शासन-व्यवस्था पर जबरदस्ती अधिकार स्थापित कर लिया है।

रूस में आज उसी बोलशेविक पार्टी का आधिपत्य है। वर्गहीन समाज की स्थापना और अराजक समूह-सत्ता का आदर्श कभी व्यावहारिक रूप ग्रहण करेगा या नहीं यह तो भविष्य के गर्भ मे है, पर सम्प्रति जो कुछ हो रहा है वह इतना ही है कि उक्त व्यवस्था ने उस लौह-युग का प्रजनन कर दिया है जिसके दुर्धर्ष वेगमे व्यक्ति की स्वतन्त्रता पीस डाली गयी है। निरंकुश और दलगत अधिनायकवाद के सम्मुख मानव-जीवन का कोई मूल्य बाकी नहीं रहा। उसकी लम्बी भुजा व्यक्ति और समाज के जीवन के अंग-प्रत्यंग को अपनी मुट्ठी मे रखने में समर्थ हो रही है। उसकी इच्छा और संकेत के अनुसार ही प्रत्येक व्यक्ति और वर्ग इच्छा करे, विचार करे, मत व्यक्त करें, कल्पना करें, मिले-जुले, पढ़े-लिखे, मनोरंजन करे, भोजन-शयन करे और अपनी रोटी कमाने का उपाय करे। पूँजीवादी लोकतन्त्र यदि महाजनो और पूँजीपतियो के एक छोटे से वर्ग का हित संपादन करने में ही व्यस्त है, यदि हिटलर की आर्य जाति की कल्पना नाजीदल को जगत् की प्रभुता प्रदान करने के निमित्त मानवता के हृदय का रक्त पान करने के लिए उभाड़ रही है, यदि राजसत्ता के अक्षुण्ण अस्तित्व की कल्पना मुसोलिनी को उन्मुक्त शासक बनने के लिए अग्रसर कर रही है तो मजदूर वर्ग के अधिनायकत्व की स्थापना के लिए और अपनी ऐतिहासिक प्रक्रिया की पूर्ति के निमित्त स्टालिन भी अभूतपूर्व दलाधिराज बनकर उस कठोर नौकरशाही सरकार के विधाता बन गये हैं जिसने रूस के जीवन को भी वहाँ की भूमि के सदृश यान्त्रिक जड़ता प्रदान कर दी है। उन देशों के राजनीतिक

संकट की तो बात ही मत पूछिए जो दुर्भाग्य से किसी साम्राज्यवादी राष्ट्र के शासनाधीन प्रदेश या उपनिवेश हैं। भारत का रोम-रोम उस संकट से भली भांति परिचित है। यह महाराष्ट्र सहस्राब्दियों की उथल-पुथल देख चुका है और देख चुका है कि मानवता किस प्रकार लड़खड़ाती, गिरती, उठती और पुनः आगे बढ़ती चली गयी है। जब से सभ्यता के युग का आविर्भाव हुआ है तब से आज तक धरातल के राजनीतिक रंगमंच पर जितने भी अभिनय हुए उन सबमें अभिनेता की दृष्टि से भारत का स्थान प्रमुख रहा है। कौन नहीं जानता कि यूनान और रोम से प्रायः शताब्दियों पूर्व भारतीय क्षितिज पर राजनीतिक प्रकाश की उज्ज्वल रश्मियाँ चमक चुकी थीं। वही भारत आज उन सभ्यों की शासन-व्यवस्था के अधीन है जो महान् और उन्नत राजनीतिक कल्पना के जनक तथा परिपोषक माने जाते हैं। जब जगत् का अधिकांश बर्बर था, उस समय सभ्यता की जो लहरी प्रवाहित हुई थी उसे भारत ने देखा था। आज जब जगत् का अधिकांश सभ्य है तब बर्बरता की जो उत्कट और उत्ताल तरंगे उठ रही हैं उन्हें देखनेवाला भी उसके समान दूसरा नहीं है। श्वेत जातियों द्वारा शासित और निर्दलित देशों पर आये हुए रोमांचकारी राजनीतिक संकट का प्रकांड साक्षी भारत के समान दूसरा कौन मिलेगा? क्या आज उसकी विवेचना की आवश्यकता है? मैं समझता हूँ कि भारत का एक एक प्राणी इस भूमि का एक एक कण उससे परिचित है। फिर मानव-सभ्यता के इस घृणित अध्याय का वीभत्स वर्णन करके लेखनी कलंकित क्यों की जाय?

अन्तर्राष्ट्रीय संकट की ओर चलिए तो यह देखिएगा कि वह इतना व्यापक, इतना भयावना, और इतना स्पष्ट है कि उसके सम्मुख सारा मानव-समाज आपाद-मस्तक काँप रहा है। सुनते हैं कि किसी युग मे आदि मानव अपनी बर्बरावस्था मे छोटी-छोटी टुकड़ियों मे विभक्त हो, नदी-नालो के तट पर, पर्वतों की कन्दरा, उपत्यका या अधित्यका मे, जंगलो के झाड़-झंखाड़ों की आड़ में डेरा डाले पड़ा रहता था। धरणी

और धन-धाम के लिये ये टुकड़ियाँ परस्पर टकराया करती थीं और बलपूर्वक एक दूसरे को कुचल कर जीवन यापन किया करती थीं। संभवतः उनका इतना ही लक्ष्य था और यही था कार्यक्रम। हिंस्र पशुओं की भांति मृगया करना उनका काम था। फिर वह आखेट पशुओं का हो या अपने ही समान दूसरी टुकड़ी के मानव का। यही लक्ष्य उनके जीवन का आधार था जिस पर उनकी सारी राजनीति, अर्थनीति या समाजनीति स्थापित हुई रही होगी। एक फिरके को दूसरे से कितना भय रहता रहा होगा? भेड़ियों के झुण्ड से, सिंह की दहाड़ या अजगर की लोल जिह्वा से उन्हें जितना त्रास न होता रहा होगा उससे कहीं अधिक भय और संकट अपने ही पार्श्व में बसे हुए अपने समान मानव से रहा होगा। सदा भय, संशय और आशंका यही जीवन की विभूति थी। हिंसा, निर्दलन और रक्तपात यही कार्य-योजना थी। आदि-सभ्यता का कदाचित् यही रूप था। इसी पर जातीय और अन्तर्जातीय नीति स्थापित थी। पर सुसंस्कृत मानव-समाज की आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय नीति का आधार क्या है? पारस्परिक भय, संशय और आशंका ही है या कुछ और भी? हिंसा, रक्तपात और प्रतिशोध के सिवा और कौन-सी उत्प्रेरणा है जो उक्त नीति की परिचालिका बनी हुई है? बर्बरता की ओर संस्कृति का यह प्रत्यावर्तन कैसा? गत पचास वर्षों में मेदिनी का जो मर्दन हुआ है वह क्या मनुष्य की संस्कृति का परिचायक है? छोटे-मोटे युद्धों की गणना न कीजिए पर दो दो विश्वव्यापी महासमरों की प्रज्वलित अग्नि में भूमंडल का भस्म होना क्या उपेक्षणीय है? तुर्रा यह है कि जो कुछ किया जाता है वह सभ्यता और मानवता, न्याय और नैतिकता, स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र के नाम पर किया जाता है; और इस प्रकार अपने कृत्य का औचित्य सिद्ध करने में संकोच भी नहीं किया जाता। जो शस्त्र उठाता है वह शान्ति, व्यवस्था और लोककल्याण के लिए उठाने का दावा करता है। गत महायुद्ध में अमेरिका को युद्ध संलग्न करते हुए तत्कालीन राष्ट्रपति विल्सन ने अमेरिकन कांग्रेस को जो सन्देश भेजा था उसमें घोषणा की

गयी थी कि "अमेरिका किसी अपने स्वार्थ के लिए नहीं प्रत्युत मानव-समाज के कल्याण के लिए समरांगण मे उतर रहा है।" ब्रिटिश राज-नीतिज्ञों ने भी युद्ध मे कूदने के पूर्व कुछ ऐसी ही घोषणा की थी। आधुनिक महायुद्ध मे भी हम दोनो पक्षो से इसी प्रकार की घोषणाएँ सुनते जा रहे है। हिटलर भी कहते हैं कि हम संसार की व्यवस्था और शान्ति के लिए युद्ध की आग भड़काने को अग्रसर हुए है। दूसरी ओर चर्चिल के हृदय मे ब्रिटेनके स्वार्थ का लेशमात्र भी ध्यान नहीं है। वे कहते हैं कि हमे ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार की इच्छा नहीं है। हमारे हृदय में रंच-मात्र भी स्वार्थ नही है ब्रिटेन भीषण बलिदान कर रहा है इसलिए कि जगत् आततायी आक्रमणकारियो की पशुता से सदा के लिए मुक्त हो जाय। जिधर से देखिए यही दावा है कि वह शान्ति, व्यवस्था और न्याय का पुजारी है। एक ओर हिटलर तो दूसरी ओर चर्चिल दोनो एक ही ईश्वर को अपना साक्षी और सहायक समझते है और घोषणा करते है कि उसी ने उनको जगत् की रक्षा के लिए अपना निमित्त बनाया है। पर इतिहास इस बात का साक्षी है कि इन दावेदारो के द्वारा न न्याय की रक्षा हुई, न मानवता की, न स्वतन्त्रता की, न सभ्यता की। युद्धो के द्वारा जिन उद्देश्यो की सफलता की घोषणा की गयी उनके विपरीत परिणाम सारा ससार भोगने का बाध्य हुआ है। न्याय की रक्षा के नाम पर घोर अन्याय किया गया और स्वतन्त्रता तथा सभ्यता की रक्षा के लिए उन्हीं का गला घोट दिया गया।

अपने स्वार्थ पर जगत् के कल्याण का आवरण डालकर निर्लज्जता-पूर्वक उसकी सिद्धि करने मे सारे संसार का उद्योग करना आज के सुसभ्य और सुसस्कृत मानव की परमपटुता का द्योतक हो गया। डायसी का यह कहना सोलहो आना सत्य है कि 'मनुष्य सरलता से यह स्वीकार कर लेता है कि जो व्यवस्था और प्रबन्ध उसके लिए लाभ-जनक तथा उसके स्वार्थ की पूर्ति का साधक है वही दूसरे के लिए भी लाभ-जनक होगा।' फलतः सार्वजनिक हित के नाम पर जिन सिद्धान्तो का

स्थापन और प्रतिपादन किया जाता है उनका पट उठाकर देखिए तो स्पष्ट हो जाता है कि वे अपने स्वार्थ पर सुन्दर और आकर्षक आवरण डालने मे सफल मनुष्य की कूटबुद्धि और प्रवंचनात्मक शक्ति के सिवा दूसरे कुछ नहीं हैं। जो जगत् के लिए कल्याणकर है उसी मे अपना भी कल्याण है यह स्वीकार करने के बदले अस्वीकार किया जाने लगा है कि जो मेरे लिए कल्याणकर है उसी मे जगत् अपना कल्याण देखे। स्वार्थ-प्रवृत्ति की यह पराकाष्ठा है जिस पर आज मानव-समाज अग्रसर हो रहा है। अंगरेज समझता है कि विश्व में ब्रिटेन की प्रभुता जगत् के हित के लिए आवश्यक है। जगत् का दोहन और पृथ्वी के विस्तृत भूभागो पर अपना शासन तथा विभिन्न राष्ट्रो को अपने चरणों के नीचे दबा रखना सभ्यता, विकास तथा प्रगति के लिए आवश्यक है। अंगरेज ही नहीं, बल्कि समस्त श्वेत जातियाँ यह समझती हैं कि जगत् पर उनके राष्ट्र-विशेप की प्रभुता मे ही मानव-संस्कृति का विकास संभव है। कारलाइल कहते है कि 'प्रकृति का यह विधान है कि काला आदमी यदि अपनी योग्यता और शक्ति के अनुसार श्वेत प्रभुओ के लिए कार्य नहीं करता तो उसे अधिकार ही नहीं कि वह उस भूमि से उत्पन्न पदार्थों का उपयोग कर सके जिस पर वह निवास करता है। इसके विपरीत श्वेत प्रभु को यह अधिकार है कि वह उससे बलपूर्वक काम करावे और इस प्रकार काम लेकर उसकी जीविका का उपाय करे।' यही क्यों? श्वेत जातियो को अधिकार है कि वे अश्वेतों की हत्या कर डालें, उनके कलेजे को गोलियो से छेद डालें, उनकी स्वतन्त्रता छीन लें और उनकी इज्जत तथा कमाई लूट ले जायँ। अपने इसी अधिकार में वे सभ्यता की रक्षा और मानवता का कल्याण देखते हैं। तभी तो मनुष्य के अधिकारो की घोपणा करनेवाले अमेरिका में काला आदमी आज भी जीवित जला डाला जाता है और एशिया की भूरी, पीली जातियाँ वहाँ के भेदमूलक कानूनो के द्वारा अपमानित होती हैं। इसी अधिकार के कारण ब्रिटेन के श्वेत उपनिवेशो मे भारतीय दलित है और अपने ही देश में पराधीन

हैं। इसी अधिकार के बल पर अभी दो वर्ष पूर्व तक चीन मे बसनेवाले सफेद चमड़े के लोग 'सुविधा-प्राप्त विशेष अधिकार क्षेत्रों' की रचना करने मे समर्थ हुए थे।

सेसिल रोड्स लिखते हैं कि "अंगरेज जगत् की सर्वप्रथम उत्कृष्ट जाति है, फलतः पृथ्वी का जितना अधिक भूभाग उसके अधीन हो उतना ही अधिक मानव-समाज का कल्याण होगा।" एक और अंगरेज लेखक के मत से "ईश्वर ने मानवता के विकास की क्रिया सपादित करने के लिए अंगरेजों को ही नियुक्त किया है"। जब एक की यह दृष्टि है तो हिटलर का नाजीवाद धरित्री का कल्याण जर्मन राष्ट्र की अधीनता मे क्यो न देखे और क्यो न इटालियन फासिटीवाद उस विलुप्त हुए रोमन साम्राज्य की पुनः स्थापना का स्वप्न देखे जो इतिहास के किसी युग मे यूरप की सभ्यता का प्रवर्तक रहा है। स्पष्ट है कि बड़े-बड़े सिद्धान्तों और आदर्शों का उद्घोषण करने मे सब एक दूसरे से बढ़कर है और वास्तव मे उनकी ही आड मे अपने स्वार्थ और अपनी लोलुपता की पूर्ति करने मे एक दूसरे से बाजी मार ले जाने की चेष्टा करते हैं।

आदर्श और सिद्धान्त का उल्लेख केवल जगत् का प्रवंचन करने के लिए किया जाता है। युद्ध की आग लगाई जाती है सभ्यता और न्याय के नाम पर किन्तु लक्ष्य होता है अपने स्वार्थ का साधन। गत महायुद्ध के बाद जिस व्यवस्था की स्थापना की गयी वह अपना हित साधन करने के लिए थी पर गुहार लगाई गयी सामूहिक रक्षा और विश्वशान्ति की। मानवता के कल्याण की परिभाषा यह थी कि विजयी ब्रिटेन और फ्रॉस का कल्याण जिसमे हो उसी में संसार का कल्याण है। उनकी प्रभुता बनी रहे, संसार के बाजारो की नकेल उनके हाथो मे रहे, विस्तृत साम्राज्यों का आधिपत्य प्राप्त रहे, ऐश्वर्य के भोग की प्रवृत्ति पूरी होती चले और सारा मानव उनकी कल्याणसिद्धि में सर्वस्व समर्पण करता रहे। ब्रिटिश नेताओं ने जो घोषणाएँ बारबार की थीं वे आज भी कानो मे गूँज रही हैं। क्या यह नहीं कहा था कि "ब्रिटेन वर्षों से युद्ध में संलग्न

है पर किसी अपने स्वार्थ के लिए नहीं। उसके हृदय में न कोई आकांक्षा है न अपना हितसाधन करने की चाह। वह मानव जाति के आध्यात्मिक कल्याण की कामना लेकर ही महान् बलिदान कर रहा है।' वर्त्तमान महायुद्ध मे चर्चिल और रूजवेल्ट की घोषणाओ मे भी वार-वार इसी प्रकार के उद्‌गार प्रकट किए जा रहे है। अमेरिकन जनता के सामने वाशिंगटन मे चर्चिल ने यह दावा किया कि ब्रिटेन को न प्रभुता की चाह है न भूमि की। उसे अपने लिए कुछ चाहिए भी नहीं वह तो मानवता की विभूति की रक्षा के लिए ही रणलिप्त है। जिसके अभाव मे यह पृथ्वी नरक बन जायेगी। गत युद्ध में विल्सन ने १४ महा मन्त्रो का उच्च घोष किया था और इस बार रूजवेल्ट ने अतलांतक घोषणा घोषित की है।

पर मानव जाति की जो आध्यात्मिक कल्याण-कामना युद्ध के बाद की गई वह जगत् के सामने स्पष्ट है। विल्सन की घोषणाओ का परिणाम भी दुनिया देख चुकी। इस बार जो होने जा रहा है उसके लक्षण स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहे हैं। अतलातक घोषणा का गला तो उसका जन्म होते ही घोट दिया गया। चर्चिल ब्रिटिश साम्राज्य को ज्यो का त्यो बनाये रखने के लिए बद्धपरिकर हैं। सिद्धान्तों की जो छीछालेदर तब हुई वही अब न होगी यह मानने का कोई कारण नहीं है। जगत् का प्रवंचन जैसे तब हुआ वैसे ही इस बार न होगा यह स्वीकार कर लेना अपने आपको धोखा देना है। स्पष्ट संकेत इस का मिल रहा है कि गत युद्धके बाद यदि ब्रिटिश और फ्रेंच साम्राज्य जगत् मे अनन्य प्रभुता स्थापित करने के लिए अग्रसर हुए तो इस बार भूमंडल को ब्रिटिश और अमेरिकन साम्राज्यवाद की विभीषिका का साक्षात्कार करना पड़ेगा। तमाम बड़ी-बड़ी बातो के आवरण मे इसी स्वार्थपरता का नग्न नाच होने जा रहा है।

इसी मनोवृत्तिपर सारा अंतर्राष्ट्रीय संघटन और अंतर्राष्ट्रीय नीति तथा संबन्ध स्थापित है। राष्ट्रों का जो गुट जगत् का दोहन और शासन

करने में समर्थ होता है वह अपने हित और स्वार्थ की रक्षा में ही जगत् का कल्याण समझता है। इसी दृष्टि के आधार पर सारी अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता, शिष्टाचार और विधान की रचना की जाती है। प्रसिद्ध अंग्रेज लेखक प्रोफेसर टोयन वी कहते हैं कि "अन्तर्राष्ट्रीय विधान और व्यवस्था मानवता के सामूहिक तथा चरम कल्याण के लिये आवश्यक है। जो इसके विरुद्ध विश्व की व्यवस्था में हिंसा को स्थान देना चाहते हैं वे मानव समाज के द्रोही हैं।" प्रोफेसर के इस कथन मे किसे सन्देह हो सकता है पर प्रश्न तो यह है कि वे जिस अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था और विधान का नामोल्लेख करते हैं,उसका अर्थ उनकी दृष्टि में क्या है? ब्रिटेन और फ्रांसकी प्रभुता बनी रहे, अंग्रेजी भापा-भाषियो मे सारा विश्व विभक्त हो जाय, ब्रिटिश साम्राज्य सुदृढ़ रहे और अंग्रेज व्यवसाइयो और महाजनो के लिये मुक्त रहे। यही है आपकी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था और विधान अथवा दूसरा कुछ? जो दलित हैं, अभाव से परितप्त हैं और शोषित हैं वे अपने प्रभुओं की लोलुपता की पूर्ति के साधक चुपचाप बने रहें इसके सिवा आपके विधान और आपकी व्यवस्था का क्या अर्थ है? जो है उसे वनाए रखने के लिए विधान और व्यवस्था का नाम लिया जाता है और उसकी रक्षा करना नैतिकता घोपित कर दी जाती है। जो इसके विरुद्ध आवाज उठाए उसे अनैतिक, मानव-द्रोही तथा संस्कृति का शत्रु एलान कर दिया जाता है।

धरती का यह संकट और भी अधिक उग्र हो गया है क्योंकि मनुष्य की शक्ति अपरिमित मात्रा में बढ़ गई है। लोभ और भोग की कामना तथा प्रभुता की पिपासा का शिकार तो मनुष्य सदा से रहा है। उसके इतिहास के पन्नो मे उसकी पशुता की कहानी भी भरी पड़ी है। जगत् में सहस्राब्दियो से युद्ध होते चले आ रहे हैं और मनुष्य मनुष्य की हत्या और निर्दलन भी करता रहा है। पर आज संकट ऐसा है जैसा मानव समाज के इतिहास में कभी नहीं आया था। मनुष्य ने कभी भी इतनी उग्रता, विकरालता और भयानकता नहीं प्राप्त की थी। प्राप्त कर भी नहीं

सकता था क्योंकि कभी उसे इतनी शक्ति उपलब्ध नहीं हुई थी और न उसकी वुद्धि के लिए कभी इतने साधन प्रस्तुत हुए थे। कब सारा भूमण्डल वेर की भाति उसकी मुट्ठी मे समा गया था और कब दिक्काल की वाधा का सर्वथा लोप हो गया था ? आज आकाश और पाताल, पारावार का असीम वक्ष'स्थल तथा नभचुम्बी हिमाकीर्ण गिरि-शिखरो का सारा रहस्य और अभिमान मानव के वैज्ञानिक ज्ञान ने विचूर्ण कर डाला है। मनुष्य पक्षी वन जाता है, मछली हो जाता है और निश्शक चरणो से समस्त पृथ्वी को माप लेता है। कदाचित् मनुष्य विधिप्रपच का सवसे शक्तिमान् और साधन—सपन्न प्राणी हो गया है। पर उसकी इस शक्ति ने उसे सवसे अधिक विकराल भी बना दिया है। शक्ति वह वस्तु है जा एक ओर वरदान है तो दूसरी ओर अभिशाप भी। यदि वह कल्याणका साधन बन सकती है तो विनाश-कारण के रूप मे भी सन्मुख आ सकती है। उसका सदुपयोग यदि अभ्युदय का मार्ग प्रशस्त कर सकता है तो दुरुपयोग पतन, मृत्यु और प्रलय का दृश्य भी उपस्थित कर सकता है। फ्रायड के शब्दो मे कह सकते हैं कि, "मनुष्य ने प्रकृति को वशीभूत कर के अपनी शक्ति को उस विन्दु पर पहुँचा दिया है, जब उसका उपयोग करके वह अपनी ही जाति के अन्तिम प्राणो तक को मिटा देने में समर्थ हो सकता है। मनुष्य इसे जानता है और सम्भवतः आज जो असन्तोष, नैराश्य तथा सशय और अविश्वास फैला हुआ है उसका मुख्य और मूल कारण मनुष्य का अपनी ही शक्ति के सम्बन्ध में भयभीत हो उठना ही मुख्य है"। विडम्बना यह है कि शक्ति-वृद्धि के साथ-साथ उसी अनुपात मे मनुष्य का लोभ, उसकी आक्रमणशोलता और उसका स्वार्थ भी बढ़ता गया। मानव-समाज के लिए यही स्थिति आशका का कारण हो रही है। एक ओर मनुष्य की शक्ति वढ़ी और दूसरी ओर उसके अतःस्थ पाशव का जागरण हो चला जिसके फलस्वरूप वह अपनी शक्ति का दुरुपयोग करने मे मस्त हो गया है। आज उसकी सारी शक्ति विनाश की ओर उन्मुख और उन्मुक्त है जो धरती को मनुष्य से विहीन कि

बिना शान्त होती दिखाई नहीं देती। गत २५ वर्षों का इतिहास इसी का इतिहास है। अपनी इसी पशुता को मनुष्य ने सभ्यता का नाम प्रदान किया है। जगत् मे घृणा और क्रोध का कैसा भयानक विष उबल रहा है। गत महायुद्ध के समय लगातार चार वर्षों तक लोमहर्षक पशाचिक प्रवृत्तियाँ उच्छृखल होकर नाचती रही पर परिणामस्वरूप विश्व मे न्याय का साम्राज्य स्थापित न हो सका। यदि हुआ होता तो हिटलरीय प्रवृत्ति का उदय न हुआ होता। युद्ध को सदा के लिए समाप्त कर देने तथा जगत् की शान्ति के लिए, मनुष्य ने मार्ग ग्रहण किया, द्वेष और अशांति का। आज देख रहे है कि न शान्ति स्थापित हुई और न युद्ध का लोप हुआ। न सभ्यता की रक्षा हुई न जगत् से दासता और दलन का नामनिशान मिटा। मानव मानवीय भी न हुआ प्रत्युत अमानवता उत्तरोत्तर उत्तेजित होती गई। पागलपन और पशुता यदि एक बार अनि-यंत्रित होकर उमड चलती है तो अपनी चरम सीमा तक गए बिना बीच मे रुकना नहीं जानती। परस्पर के इस बीभत्स द्वेप, अविश्वास और प्रतिशोध की आग जलाकर मनुष्य भूमण्डल को भस्मीभूत करता दिखाई दे रहा है। मानव-समाज के संमुख उपस्थित हुआ यह अन्तर्राष्ट्रीय संकट उस साकृतिक महाविनाश का कारण हो रहा है जो यदि इसी प्रकार चलता रहा तो मनुष्य जाति को ही ले डूबेगा।

मनुष्य पीड़ित है मनुष्य की पशुता से और यही है उसकी महती समस्या। यही है आधुनिक जगत् का विकराल और भयावह रूप। सारी धरती उससे त्रस्त है और सारे जगत् का विचारशील वर्ग भय तथा शंका से पीडित हो चुका है। एक समय था जब यूरोप के विचारक यह समझते थे कि मानवसमाज सहज ही विकास और प्रगति की ओर अभिमुख है। पर आज स्वय यूरोप के विचारको की इस धारणा की जड़ हिलने लगी है। आज स्पष्टत यह देख रहे है कि यूरोप के विचारको का एक वर्ग यह प्रश्न करने लगा है कि आज जगत्की सास्कृतिक स्थिति प्रगति की द्योतिका है अथवा पतन की परिचायिका ? क्या जो आदर्श,

जो पथ, जो प्रकार और जो व्यवस्था आज के मनुष्य के सम्मुख उपस्थित है वही उसके विकास और अभ्युत्थान का सच्चा साधन है ? यदि वर्तमान व्यवस्था मनुष्य के विकास की द्योतिका है तो फिर उसकी गति का कुंठन कैसा ? इस संस्कृति के गर्भ से सम्भूत यह भयावनी बर्बरता कैसी ? प्रश्न किया जाने लगा है कि जीवन, संस्कृति और इतिहास के सारे प्रवाह मे आज कहाँ विकार है और कहाँ है त्रुटि जिसका परिणाम मानव-जगत् को भोगना पड़ रहा है ? विश्व के सम्मुख जो जटिल समस्याएँ उपस्थित हैं उनकी न जाने कितनी विवेचनाएं कर डाली गयीं, संकट को सुलझाने के लिए न जाने कितने कारण ढूँढ़ निकाले गये और तरह-तरह की व्यवस्थाओ को जन्म प्रदान कर डाला गया पर स्थिति सुधरने की अपेक्षा विगडती ही चली गई। धीरे-धीरे अनुभव किया जाने लगा है कि मानवता के कल्याण और उसके सास्कृतिक विकास की धारा को सुरक्षित प्रवाहित होने देना है तो आधुनिक स्थिति मे समूल और अपेक्षित परिवर्तन करना ही होगा। यह अनुभव किया जाने लगा है इसलिए कि मनुष्य अपनी सास्कृतिक गति से सम्भूत दुर्गति में फँसता दिखाई दे रहा है।

पी० डरूर नामक प्रसिद्ध विद्वान् अपनी पुस्तक 'दी एन्ड आफ इकनामिक मेन' में लिखते हैं कि यूरप की जनता यह अनुभव करने लगी है कि उसके समाज का सचालन करने वाली शक्ति मे बुद्धि और विवेक नहीं है। वह अंध, शैतानी और उच्छृंखल ज्ञात होती है। अपनी सभ्यता के प्रति ऐसी ही शका प्रगट करते हुए 'मैन दी अननोन' नामक ग्रन्थ मे अमेरिका के प्रसिद्ध वैज्ञानिक विद्वान् एलेक्सिस कैरेल लिखते है कि "मनुष्य पतनाभिमुख है। आधुनिक सभ्यता का जो प्रवाह है उसके अनुकूल प्रवाहित होने मे मनुष्य असमर्थ दिखाई दे रहा है। जड भौतिक पदार्थों के सौंदर्य को देख कर मनुष्य मोहित हो गया पर यह भूल गया कि उसका शरीर और उसकी चेतना उन प्राकृतिक विधानो के अधीन है जो अदृश्य होने के कारण भौतिक नियमों की अपेक्षा कहीं

अधिक सूक्ष्म हैं। वह यह न देख सका कि विश्व की अज्ञात व्यवस्था मे उसका और उसके अंतर्लोप का कोई अटूट संबन्ध भी है। मनुष्य सर्वोपरि प्राणी है अतः यदि उसका पतन होता है तो सस्कृति का सौंदर्य मिट जायगा और इस भौतिक जगत् की महिमा भी लुप्त हो जायगी। मानवता के ध्यान को आज भौतिक जगत् तथा कल-कारखानो से हटाकर मानव शरीर और उसकी आत्मा की ओर ले जाना है। हम आज अपनी सभ्यता के दौर्बल्य और उसकी त्रुटि का अनुभव करने लगे है। हममे ऐसे लोग उत्पन्न हो गये हैं जो यह समझ रहे हैं कि इस सभ्यता को उलट कर नयी धारणाओ के आधार पर समाज की रचना करने से ही कदाचित् मानवता की रक्षा हो सकेगी।'

एक के बाद दूसरे ऐसे अनेक उद्धरण उपस्थित किये जा सकते है जिनमे वर्तमान अवस्था के प्रति शका और जगत् की सहज प्रगतिशीलता के सिद्धांत के संबंध मे संदेह प्रकट किया जाने लगा है। फ्रायड के समान विचारशील व्यक्ति यह कह चुके हैं कि "मनुष्यता के भाग्य का निपटारा इस प्रश्न पर अवलम्बित है कि मनुष्य का सास्कृतिक विकास उसके हृदय की आक्रमणशीला और स्वविनाशोन्मुखी प्रवृत्ति पर विजय प्राप्त करने मे समर्थ होता है या नहीं।" आज जगत् मे मनुष्य की उक्त प्रवृत्ति पर सास्कृतिक विकास की विजय के लिये गत पचीस वर्षों मे व्यापक उपाय किए गये हैं। संकट को सुलझाने के लिए आधुनिक व्यवस्था के परिवर्तन करने की चेष्टा की गयी है और नयी धारणाओ तथा आदर्शों को उपस्थित किया गया है पर क्या मनुष्य को सफलता मिली और क्या जगत् की समस्या सुलझ सकी? इन प्रश्नो का उत्तर तथा यूरप द्वारा प्रयुक्त कुछ प्रयोगो की विवेचना आगामो पृष्ठों में की जायेगी पर इतना कह देना आवश्यक है कि अवतक जो उपाय किए गये वे स्थिति को सुलझाने की अपेक्षा जटिल ही बनाते दृष्टिगोचर हो रहे हैं। ऐसी स्थिति मे अधकाराच्छन्न जगत् के सम्मुख एक अभिनव उपाय लेकर गाँधीजी उपस्थित होते हैं। उनके विचारो मे, उनके पथ मे और उनकी पद्धति मे कुछ

अनोखापन दिखाई देता है। उनकी धारणा और ध्वनि दूसरे लोगों की दृष्टि और उनके व्यवहार से सर्वथा भिन्न है। आज यद्यपि भारत मे गाँधीजी का प्रयोग चल रहा है तथापि वे जगत् की व्यापक समस्याओ के हल के लिए नये उपाय की ओर स्पष्ट संकेत कर रहे हैं। आवश्यकता इस बात की है कि वे लोग जिनके हृदय मे मानवता की पीड़ा वेदना का सचार कर रही है, जो मानव-समाज के उत्थान और विकास के आकांक्षी हों गम्भीरता-पूर्वक विश्व को गतिविधि की समीक्षा करे। वे देखे कि आधुनिक समस्याओं को सुलझाने के लिए अब तक जो प्रयोग हुए उनमे त्रुटि कहाँ है और गाँधीजी जिन तथ्यो को उपस्थित कर रहे हैं वे समस्या के मूल का स्पर्श करते है अथवा नहीं ?

राष्ट्रसंघ और विश्व-समस्या

गत महायुद्धके बाद विश्व की समस्याओ को सुलझाने के लिए यूरोप मे मुख्यत: तीन प्रयोग हुए। एक प्रयोग हुआ पूजीवादी देशो की ओर से जो राष्ट्रसंघ तथा अन्य विश्व-सम्मेलनो के रूप मे मूर्त हुआ। दूसरा प्रयोग हुआ रूप मे मार्क्सवाद का जो बोलशेवी क्रान्ति के रूप मे व्यक्त हुआ। तीसरा प्रयोग हुआ इटली और जर्मनी मे जो 'फासिटीवाद' और 'नाजीवाद' के रूप में विख्यात हुआ। इन तीनो प्रयोगों के सम्बन्ध मे आगामी पृष्ठों मे कुछ लिखने का प्रयास करना चाहता हूँ। मनुष्य के अन्त:करण पर, उसके विचारों पर बहुत सी बातो का प्रभाव पड़ता रहता है। वह एक ही प्रश्न को विभिन्न दृष्टिकोण से देख सकता है और विभिन्न समाधान उपस्थित कर सकता है। परिस्थिति एक होते हुए भी सब पर एक ही प्रकार का प्रभाव नहीं डालती। एक ही परिस्थिति मे पड़े हुए अनेक व्यक्तियो पर उसका प्रभाव भिन्न-भिन्न पड सकता है। फिर सर्वत्र परिस्थित एक ही प्रकार की होती भी नहीं। मनुष्य की अपनी आवश्यकता होती है और तदनुकूल अपना दृष्टि-कोण होगा और परिस्थिति का जैसा प्रभाव उस पर पड़ता होगा उसी के अनुसार उसके अन्तर मे प्रतिक्रिया होगी, वैसे ही उसके विचार होगे और उसी के अनुकूल वह कार्य करने के लिए अग्रसर होगा।

फलत: गत महायुद्धके बाद विश्व मे जो परिस्थिति उत्पन्न हुई उसका विभिन्न प्रभाव विभिन्न राष्ट्रो पर पड़ा। फ्रास, ब्रिटेन और अमेरिका आदि विजयी पूँजीवादी देशों की आवश्यकता विशेप प्रकार की थी, उनका दृष्टिकोण अपने हित के अनुकूल दूसरा था अत: परिस्थिति भी विशेप रूप में प्रतिभासित हुई। इसी प्रकार रूस के लिए परिस्थिति

दूसरी आवश्यकता प्रकट कर रही थी और जर्मनी तथा इटली के लिए दूसरी। फलतः तीनो ने अपनी-अपनी आवश्यकता, अपने-अपने हित और अपने-अपने दृष्टिकोण से परिस्थिति को देखा और उसी मे जगत् का कल्याण और उसकी समस्याओ का समाधान देखा जिसमे उनकी आवश्यकता की पूर्ति हो रही थी। उनकी विचार-धारा वास्तव मे प्रतिच्छाया थ उन आवश्यकताओ की जिन्हें तत्कालीन परिस्थिति प्रकाश मे ला रही थी।

तत्कालीन विभिन्न देशो की आवश्यकता पर विचार कीजिए। विजयी राष्ट्रो की शक्ति की सत्ता जगत् मे स्थापित हो गयी थी, उनका शत्रु और प्रतिद्वन्दी धराशायी था- विश्व के शोषण और उस पर अपनी प्रभुता बनाए रखने का मार्ग उनके लिए अकंटक हो गया था। बड़ी कठिनाई और रक्तदान के बाद विजय प्राप्त हुई थी। विजयी देख रहे थे कि उनके सम्मुख विश्व का उपभोग करने का अवसर उपस्थित है। उसी समय इस अभिलाषा की पूर्ति हो सकती थी जब विश्व अपने वर्तमान रूप मे पूँजीवादी विधि और व्यवस्था के साथ बिना किसी परिवर्तन के जैसा था वैसा बना रहता। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए जगत् में शान्ति अपेक्षित थी। कोई उक्त व्यवस्था को ललकारने वाला न हो, उसे उलटने-पलटने की चेष्टा करने का साहस कोई न करे और युद्ध तथा संघर्ष के द्वारा स्थिति के बदले जाने का कोई खतरा न रहने पावे। यह तब उसी दशा मे सम्भव था जब जगत् में शान्ति बनी रहती और विजयी परस्पर की रक्षा और सहायता मे तत्पर रहते। इसी में उन्हें अपनी भलाई दिखाई पड़ी पर आपकी ही नहीं वे जगत् की भलाई भी इसीमें देखने लगे। युद्ध और संघर्ष यदि न हो तथा विश्व मे शान्ति बनी रहे और पृथ्वी उस रक्तपात और महाविनाश से बच जाय जिसका परिचय गत महासमर मे मिल चुका था तो इससे बढ़कर दूसरी बात क्या हो सकती थी।

उनकी समझ मे आया कि इसीमे दोनों का कल्याण है। एक को

जगत् की प्रभुता मिलेगी लौर दूसरे को मिलेगी शान्ति। फलतः राष्ट्र-संघ और विश्व-सम्मेलनों के रूप में अपनी तथा जगत् की समस्या को हल करने का प्रयोग आरंभ हुआ। रूस में भी बोलशेवी क्रान्ति जिन परिस्थितियों में हुई उस पर दृष्टिपात कीजिए तो आप देखेंगे कि वह देश यद्यपि पूँजीवादी औद्योगिकता की ओर बढ़ने लगा था पर पूँजीवादी देशों के समान वहाँ लोकतंत्र की स्थापना अब तक नहीं हुई थी। अब तक रूसमें एक प्रकार की पूँजीवादी औद्योगिकता तथा दकियानूसी सामन्तशाही की मिली-जुली व्यवस्था ही चल रही थी। यूरोप में सामंतवाद के पतन पर ही पूँजीवादी लोकतन्त्र का भवन निर्मित हो पाया था। पर जब गत महायुद्ध छिड़ा और जार उसमें सम्मिलित हुए तो उस समय रूस विकृत आधुनिकता और भ्रष्ट तथा जर्जरीभूत पुरातनता का ही शिकार था। जिस समय बोल्शेवी क्रान्ति हुई उस समय रूस की हार हो रही थी, दस लाख सैनिक आवश्यक सामग्रियों के न मिलने से विनष्ट हो चुके थे, देश दरिद्र हो गया था, किसान दाने-दाने को मुहताज थे। इतने पर भी निरंकुश राजसत्ता युद्ध लिप्त बने रहने का हठ पकड़े हुए थी। रूसी क्रान्तिकारी एक ओर अपने देश के निकम्मे, अनुत्तरदायी, भ्रष्ट और निरंकुश शासक-वर्ग से क्षुब्ध थे तो दूसरी ओर पूँजीवादी यूरोपियन राष्ट्रों के दुश्चक्रों में पड़े अपने देश को व्यर्थ के युद्ध से बरबाद होते देख रहे थे। तीसरी ओर वे अपने राष्ट्र की छाती पर होने वाले दरिद्रता, दैन्य और दासता के वीभत्स नर्त्तन से उत्तप्त थे। मार्क्स की विचार-धारा के लिए, जो निरंकुशता, वर्ग-सत्ता तथा पूँजीवादी व्यवस्था का मूलोच्छेद करने का भाव लेकर अग्रसर हुई थी वहाँ फूलने-फलने के लिए उर्वर क्षेत्र मिल गया। लेनिन के समान महाप्रतिभाशील व्यक्ति, जो जन्मतः विद्रोही और जन्मजात नेता था, यह देख रहा था कि न केवल रूस का प्रत्युत सारे जगत् का भयावना संहार इस पूँजीवादी निरकुशता तथा वर्गमूलक प्रभुता के कारण हो रहा है। जगत् के कल्याण का मार्ग फिर सिवा इसके और क्या था कि धरती

से पूँजीवादी सत्ता मिटा दी जाय ? फलत: रूस समाजवादी जनक्रान्ति का प्रयोग करने के लिए अग्रसर हुआ।

इटली और जर्मनी में 'फासिटी' और नाजी प्रवृत्तियो के उदय के प्रबल कारण वर्तमान थे। युद्धोत्तर विश्व की परिस्थिति ने ही वे कारण उपस्थित कर दिए थे। इटली अपने मित्रो द्वारा प्रवंचित था और जर्मनी था विजयोन्मत्त विजेताओ द्वारा अपमानित और विताड़ित। युद्ध के बाद जर्मनी की जो दशा की गयी उस पर थोड़ा सा प्रकाश आगामी पृष्ठों में यथास्थान डाला जायेगा। यहाँ इतना कह देना असंगत न होगा कि जर्मन तथा इटालियन राष्ट्र के हृदय मे प्रतिशोध की जो ज्वाला थी वह नाजीवाद या 'फासिटीवाद' के रूप मे फूट पड़ी। 'नाजीवाद' वस्तुत: कोई प्रयोग नहीं किन्तु प्रहार है, मानवता पर जिसका परिणाम जगत् भोग रहा है। ये दोनो न केवल अपनी ही आग में भस्म हो रहे है प्रत्युत अपने साथ जगत् को भी जलाने मे समर्थ हुए हैं। इस प्रकार यूरोप मे जो प्रयोग हुए वे भिन्न-भिन्न दिशा से आरंभ हुए! उनका स्वरूप परस्पर भिन्न था और उनका मार्ग भी भिन्न ही था। उनके पीछे जो उत्प्रेरक प्रवृत्तियाँ काम कर रही थीं वे भी परस्पर भिन्न ही थीं।

पर युद्धोत्तर पश्चिम में जहाँ उपर्युक्त प्रकार के प्रयोग हुए और उपर्युक्त प्रकार की विचार-धाराएँ प्रवाहित हुईं, वहीं ठीक उसी युग में भूमण्डल के प्राची में एक ऋषि ने ऐसी अभिनव पद्धति को जन्म दिया जो प्रतीची की सारी प्रवृत्ति और प्रक्रिया तथा प्रकार से मूलतः भिन्न, स्वरूपत विषम तथा स्वभावत विपरीत है। मेरा तात्पर्य सेगाँव से सम्भूत उस स्वर-लहरी से है जो अपने आकार और अपनी आत्मा मे, अपने भाव और अपनी उत्प्रेरणा में, अपने पथ और अपनी गति में भिन्न है जगत् की उन समस्त ध्वनियोसे जो धरित्री के अम्बर को सम्प्रति आलोडित कर रही हैं। लण्डन और वाशिंगटन से आनेवाली आवाज हो या रोम और बर्लिन का वीभत्स चीत्कार अथवा मास्को का प्रचंड गर्जन, उस स्वर का मेल उनमे से किसी के साथ नहीं बैठता। वह पश्चिम की सारी

पुकार से भिन्न है। धारणाओं की जिस आभा मे और भावो के जिस आलोक मे पश्चिम ने जीवन-चित्र को चित्रित किया है और उसके फल-स्वरूप जिस दृश्य का सर्जन हुआ है उन सबसे पृथक् वह कल्पना है जो आज वर्धा से उठकर भारतीय वातावरण मे व्याप्त हो रही है।

जहाँ यूरोप की सारी प्रयोगपद्धतियाँ केन्द्रीकरण की ओर बढ़ती हैं वहाँ गाँधी विकेन्द्रीकरण की ओर अग्रसर होता है। जहाँ यूरोप के सभी प्रयोग किसी न किसी रूप में वर्गप्रभुता और वर्गहित को सर्वोपरि स्थान देते हैं वहाँ गाँधी की पद्धति व्यापक और सामूहिक रूप से समस्त मानव-जाति के हित को लक्ष्य के रूप मे प्रतिष्ठित करती है। और विरोधी वर्गों के हितो मे वह सम्बन्ध और सामजस्य स्थापित करना चाहती है जो वर्गसघर्ष का ही अंत कर दे। यूरोप की सभी प्रयोगपद्धतियाँ जहाँ हिसा का आश्रय ग्रहण करती है वही गाँधी अहिसा का मार्ग पकड़ता है और साधन तथा साध्य मे एकात्मता स्थापित करके यह आशा करता है कि जैसा कारण है वैसा ही परिणाम भी उपस्थित होगा। अन्त मे यूरोप की समस्त विचार-सरणि और दृष्टिधारा मे, चाहे वह व्यक्तिवाद हो या समाजवाद, उपयोगितावाद हो या बुद्धिवाद जहाँ भौतिकवाद का गहरा सम्मिश्रण हो गया है वहाँ गाँधी स्थूल अथवा पर्थिव दृष्टि से जीवन और जगत् पर दृष्टिविक्षेप करने का अभ्यस्त ही नही है। वह न तो जीवन के मूल मे केवल जड़ता का दर्शन करता है न जगत् को आकस्मिक और लक्ष्यहीन घटना के रूप मे देखता है और न भोजन और प्रजनन तथा अस्तित्व रक्षा की प्रवृत्तियो को ही सृष्टि की एकमात्र सचालिका शक्ति के रूप में स्वीकार करता है।

यूरोप के भौतिकवाद ने मनुष्य को एकदेशीय और एकांगी बनाकर जीवन को निषिद्धपथ प्रदान कर डाला है। भौतिक सत्ता सत्य है इसे स्वीकार न करना दुराग्रह है, पर उससे भी बड़ा दुराग्रह यह स्वीकार कर लेना है कि वही एकमात्र सत्य है। भौतिकता का अपना स्थान है जिसकी उपेक्षा करना मूढ़ता है, पर जीवन उस सीमा से परे नहीं है

यह मान लेना भी अंधमूढ़ता ही है। यूरोप की और गाँधीजी की दृष्टिमे यही सब से बड़ा मौलिक भेद है। फलत' मौलिक दृष्टि के आधार पर निर्मित की गयी प्रयोग-पद्धतियो मे गहरी विषमता का होना अनिवार्य है। वे इन पृष्ठो मे मेरा उद्देश्य गाँधीजी की पद्धति की तुलना यूरोप की विचार-धाराओ से करना और उनके पारस्परिक भेद पर प्रकाश डालना। इस बात की भी विवेचना करना चाहते है कि यूरोपियन पद्धतियाँ या उस आदर्श को प्राप्त करने मे सफल हुई जिनकी ओर जगत् को ले जाने का दावा करके उनका प्रयोग आरम्भ किया गया था ?

गत २५ वर्षों से यूरोप मे जो प्रयोग हुए हैं वे जगत् की समस्याओं को हल करने की दृष्टि से आरम्भ हुए। आक्रमणकारिता, हिसा, शोपण, दासता और मनुष्य की ही पशुता से उत्पीड़ित हुई मानवता की रक्षा करना आवश्यक देखकर यूरोप ने उपर्युक्त विभिन्न प्रकार के उपायों का प्रयोग आरम्भ किया। सन् १९१४ ई० मे युद्धका जो भयावना ज्वाला-मुखी फूट पड़ा और जिसके कारण वर्षों तक भयानक विनाश होता रहा तथा ८० लाख नवयुवको के खून से धरती लाल की गयी, उसने अन्ततः यूरोप को यह अनुभव करने के लिए बाध्य किया कि उसकी गति विधि मे, उसकी व्यवस्था और अवस्था में कहीं न कहीं दोप है जिसका परिहार किए बिना सारी पाश्चात्य संस्कृति का महासंहार अवश्यम्भावी है। तथोक्त लोकतन्त्रात्मक किन्तु पूँजीवादी राष्ट्रों ने उपर्युक्त दिशा में जो प्रयास किया उसकी विवेचना पहले कर लेना उचित होगा।

गत महायुद्ध के बाद युद्ध-विदग्धा शोणित-पूरिता और महाश्मशान बनी पृथ्वी को शान्ति प्रदान करने का कार्यभार स्वभावतः उनके कन्धो पर था जो सौभाग्य से विजयी हुए थे। भूमण्डल विक्षत, विरूप और विकृत हो चुका था। महासंहार के प्रलयंकर नर्तन से चतुर्दिक् त्राहि-त्राहि मची हुई थी। युद्ध के बाद भी जगत् के विभिन्न कोनो में छोटी-मोटी २३ लड़ाइयाँ लड़ी जा रही थीं। शस्त्रधारी अनेक गुट मध्य यूरोप और पूर्वी यूरोप में अपने शस्त्र के बल से नयी-नयी सीमाओं की स्थापना

मनमाने ढंग से करते जा रहे थे। न जाने कितने देशों मे भयावनी बीमारियाँ फूट पड़ी थीं जो त्रस्त और सताये हुए असहाय प्राणियों को अपना ग्रास बना रही थीं। जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी, रूस आदि देशों में दावाग्नि की भाँति अकाल फैल रहा था और लाखों नर-नारी भूख की आग मे कीट-पतिंगो की भांति भस्म होते जा रहे थे। कतिपय देशों में विद्रोह भड़क उठा था। चारो ओर भयंकर अव्यवस्था, घोर दुर्दशा और रोमांचक चीत्कार मची हुई थी। इन सबके सिवा वे समस्याएँ मौजूद ही थीं जिनके कारण महायुद्ध उत्पन्न हुआ था। यूरोप के यान्त्रिक उद्योगवाद ने जिस पूँजीवाद को जन्म प्रदान किया था उसके विकास के साथ-साथ भयावनी आर्थिक और राजनीतिक प्रतिद्वन्द्विता का प्रजनन हो जाना स्वाभाविक था। निर्मित पदार्थों को खपाने के लिए और कच्चे माल को प्राप्त करने के लिए बड़े-बड़े साम्राज्यों की स्थापना हो चुकी थी। फलत. जिनके पास साम्राज्य था वे उसकी रक्षा के लिये और जिनके पास नहीं था वे उसे प्राप्त करने के लिये सन् १९१४ मे व्यापक रूप से भिड़ गये। वर्षों तक महासंहार होने के बाद जगत् की आँखे खुलीं और परिस्थिति के प्रकाश मे मनुष्य ने नयी आवश्यकताओं की अनुभूति की।

युद्ध के बाद आवश्यकता थी इस बात की कि पुरानी व्यवस्था में ऐसा परिवर्तन किया जाय और नयी व्यवस्था ऐसी स्थापित की जाय जिसमे मानव-जाति के महासंहार की स्थिति की पुनरावृत्ति की सम्भावना न रह जाय। ठीक ऐसे ही समय जब जगत् की उपर्युक्त स्थिति और आवश्यकता थी, अमेरिका के तत्कालीन राष्ट्रपति स्वर्गीय विल्सन ने ८ जनवरी सन् १९१८ को अपने प्रसिद्ध १४ सिद्धान्तो की घोषणा की। उन्होंने उन सिद्धान्तो के आधार पर जगत् मे नयी व्यवस्था स्थापित करने तथा विश्व के सन्मुख प्रस्तुत समस्त समस्याओं का समाधान ढूँढ़ निकालने का प्रस्ताव भी किया। विरामसन्धि के एक मास बाद विल्सन ने यूरोप की भूमिपर पदार्पण किया। विल्सन की घोषणा विद्युत्-लहरी

की भांति जगत् के एक कोने से दूसरे कोने तक लहरा उठी। विकल मानवता ने राहत की साँसली और विल्सन को अपने सहायक तथा उद्धारक के रूप मे देखा। विल्सन जगत् के अति शक्तिशाली और महान् राष्ट्र के विधाता थे। जगत् यह देख रहा था कि स्वतन्त्रता, लोकतंत्र और न्याय तथा शान्ति का सबसे बड़ा समर्थक और पोपक अमेरिका है जिसके सर्वोत्कृष्ट नायक की ओरसे उक्त प्रस्ताव उपस्थित किए गये है। युद्धोत्तर विश्व पर अमेरिका की धाक वैसे ही बैठ गयी थी। सारा यूरोप उस समय अमेरिका की दया पर आश्रित था। विजयी राष्ट्रो को उसकी सहायता ने विजय प्रदान की थी। धन और भोज्य सामग्री के लिए भी यूरोप उसका मुँह देख रहा था। ऐसी सर्वश्रेष्ठ शक्ति और महत्तम राष्ट्र के विधाता ने जब भावी विश्व की व्यवस्था और शान्ति की स्थापना के लिए उन्नत, उदार तथा प्रगतिशील सिद्धान्तो को आधार के रूप से उपस्थित किया तो स्वाभाविक था कि जगत् उनमें मानवता के लिए नव-युग की आभा देखता।

मित्रराष्ट्रो ने, मध्य यूरोप के देशों ने, यूरोप और एशिया तथा अफ्रिका की समस्त दबी हुई और त्रस्त जातियो ने समान रूप से उन प्रस्तावो मे उज्वल भविष्य की योजना देखी। ज्ञात हो रहा था कि मनुष्य समाज सचमुच विकास की यात्रा में एक लम्बा डग बढ़ाने जा रहा है और ये प्रस्ताव भावी युग की स्वतन्त्रता और सुरक्षा के लिए जागरण-महामन्त्र के रूप मे प्रकट हुए हैं। ११ नवम्बर सन् १९१८ ईसवी को विराम सन्धि हुई। जर्मनी धराशायी था, कैसर भाग चुके थे और जर्मन-सेना उन तमाम भूप्रदेशों से जिन्हें उसने पददलित किया था वापस हो रही थी। विराम सन्धि के साथ-साथ महान् जर्मन साम्राज्य और इतिहासप्रसिद्ध प्रशियन सैनिक के दम्भ तथा उद्दंडता का मस्तक चूर हो चुका था। जर्मन साम्राज्य ही नहीं प्रत्युत रूसी साम्राज्य, आस्ट्रो हंगेरियन साम्राज्य तथा आटोमन साम्राज्य धरती से लुप्त होकर इतिहास के लिए अतीत की गाथा बन चुके थे। ऐसे समय पेरिस में सन्

१९१९ ईसवी की जनवरी मे सन्धि सम्मेलन का सूत्रपात हुआ जहाँ जगत् के भविष्य का निर्माण होने जा रहा था। भूमंडल की विभिन्न जातियों के अनेक राष्ट्र-नायक, छोटे-बड़े देशो के राजनीतिज्ञ और नेता विशेषज्ञ तथा अर्थशास्त्री बड़ी संख्या मे एकत्र हो चुके थे। स्वतन्त्रता के लिए लडनेवाली अफ्रीका और एशिया की जातियों के प्रतिनिधि भी एकत्र थे। तात्पर्य यह कि पेरिस सम्मेलन मे प्रायः समस्त पृथ्वी के प्रतिनिधि एकत्र होकर नव-निर्माण की चेष्टा मे संलग्न हुए। स्वभावत जगत् को यह आशा हुई थी कि अव वह समय आ गया है जब युद्ध के कटु-अनुभव के बाद जगत् की शान्ति और व्यवस्था के लिए एक नयी किन्तु न्याय-सम्मत तथा स्थायी योजना बनायी जा सकेगी।

आज पचीस वर्षों के बाद हमारे सामने प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या पेरिस-सम्मेलन जगत्को शान्ति-प्रदान कर सका? क्या विल्सन की आदर्शवादिता उन समस्याओं को हल कर सकी जिनके परिणामस्वरूप गत महायुद्ध का प्रजनन हुआ था? क्या पेरिस मे एकत्र हुए तत्कालीन जगत् के प्रतिनिधि उस स्थिति का परिमार्जन करने और उन दोषों के परिहार करने मे सफल हुए जो अशान्ति और अव्यवस्था के कारण थे? विजयी राष्ट्र जो यह घोषणा कर रहे थे कि "युद्ध का अन्त करने के लिए यह युद्ध हो रहा है" तथा "मनुष्य की स्वतन्त्रता, लोकतन्त्र और न्याय की स्थापना करना मित्र राष्ट्रों का लक्ष्य है", मनुष्य की स्वतन्त्रता लोकतन्त्र की रक्षा और न्याय की स्थापना करने मे समर्थ हुए? क्या अंतर्राष्ट्रीय सहयोग और शील की अभिवृद्धि हुई? मनुष्य के सौख्य और कल्याण का मार्ग क्या प्रशस्त हुआ और क्या धरातल सुन्दर तथा मानवीय हो सका? पर इन प्रश्नों का उत्तर क्या स्पष्ट नहीं है? गत २० वर्षों का जगत् का इतिहास क्या इसका एक ही उत्तर नहीं है? १९३९ ईसवी की १ सितम्बर क्या इसका उत्तर नहीं हैं जब जर्मन रणवाहिनी पोलैण्ड पर चढ़ दौड़ी और सारे जगत् मे युद्ध की आग भड़क उठी? गत ५

वर्षों से भूमण्डल की छाती पर महाकाल का जो पैशाचिक नर्तन हो रहा है वही क्या इसका उत्तर नहीं है ?

माना कि सन्धि-सम्मेलन में विल्सन का वह प्रस्ताव स्वीकार किया गया जिसके द्वारा राष्ट्रसङ्घ की स्थापना की गयी। कहा गया कि "अन्त-र्राष्ट्रीय सहयोग की वृद्धि तथा अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा और सुव्यवस्था के लिए ही राष्ट्रसङ्घ की स्थापना की जा रही है"। निश्चय किया गया कि जगत् में सहयोग और न्याय के लिए शान्ति और सुव्यवस्था के लिए विश्वव्यापी व्यवस्था बनायी जायगी। कहा गया कि अब भविष्यत् के लिए "शस्त्र उठा कर युद्धाग्नि प्रज्वलित न करने की प्रतिज्ञा की जायगी। विभिन्न राष्ट्रों के न्यायसम्मत अधिकार और सम्मान की रक्षा की जायगी। पारस्परिक सम्बन्ध की स्थापना खुले रूप से की जायगी। सदा अन्तर्राष्ट्रीय नियम तथा विधान के अनुकूल आचरण किया जायगा और सदा न्याय की नीति तथा सन्धियों और समझौता के उत्तरदायित्वका निर्वाह किया जायगा।"

लक्ष्य उत्तम था, बातें भी परिपूत् थीं पर गत बीस वर्षों का इतिहास इस बात का साक्षी है कि लोकतंत्र के पूजक और स्वतंत्रता के उपासक इन महाराष्ट्रों के प्रतिनिधि न जगत् की आर्थिक समस्या को हल कर सके न राजनीतिक और न अन्तर्राष्ट्रीय। न निःशस्त्रीकरण करा सके न युद्ध के मार्ग का अवरोधन कर सके और न आक्रमणशीलता की प्रवृत्ति का विलोप। हम तो यह देखते हैं कि इन महान् कार्यों की पूर्ति तो दूर रही युद्ध में विजयी हुए राष्ट्र पराजितों से सन्धि करने में सफल न हुए। उनका प्रयोग समस्याओं को हल करने की अपेक्षा रोग-वृद्धि का कारण हुआ। पवित्र आदर्शों का उद्घोष करते हुए भी मानव-पशुता का नग्न प्रदर्शन किया गया। क्लेमेंशो और लायडजॉर्ज ने विल्सन को ऐसा मूर्ख बनाया कि वे १४ महासिद्धान्त जिन पर जगत् की शान्ति और व्यवस्था आश्रित होने वाली थी जन्म के पहले ही मर मिटे। सन्धि-सम्मेलन में फ्रांस और ब्रिटेन ने कौन-कौन सी गोटियां-

चाली की, कितनी धूर्तता और प्रवंचना का सहारा लिया, असत्य और दम्भ का कैसा परिचय दिया और किस प्रकार विल्सन की आँखों में धूल झोंक कर अपना काम साधा—आदि बातों का वर्णन करना प्रस्तुत ग्रन्थ का विषय नहीं है, पर इतना स्पष्ट है कि द्वेष और दम्भ तथा स्वार्थ और प्रभुता की कामना में अन्धे हुए विजयी राष्ट्रों ने जो पाप उस समय किया और लूट के माल के बँटवारे के लिए उसमें जो प्रतिस्पर्धा भड़क उठी उसने आहत पृथ्वी के व्रणों को घृणित प्रकार से कुरेद डाला।

विचार करके देखिए कि राष्ट्र-संघ का प्रयोग तथा सधि-सम्मेलन ही, क्या जगत् को आज की भयावनी स्थिति में झोंक देने का मुख्य कारण नहीं हुआ है। वारसेई का सन्धिपत्र क्या था धराशायी जर्मनी के लिए मौत का परवाना था। उस सन्धियोजना के द्वारा पराजित राष्ट्रों की क्रूर हत्या कर देने की चेष्टा की गयी। जर्मनी के मस्तक पर ४४० धाराओं का सन्धिपत्र मढ़ दिया गया और उसका गला घोट देने की पूरी व्यवस्था कर दी गयी। इन तमाम धाराओं का एकमात्र लक्ष्य यह था कि जर्मनी को इस प्रकार जकड़ दिया जाय कि वह सदा के लिए पगु हो जाय। उसे आर्थिक दृष्टि से असहाय और राजनीतिक दृष्टि से दास्य-स्थिति में सदा के लिए रख देने की चेष्टा की गयी। सन्धिवार्ता के लिए जर्मन प्रतिनिधि जब वारसेई पहुँचे तो उन्हें रत्ती भर भी पता न था कि इस प्रकार की सन्धि उनके गले मढ़ी जाने वाली है। उन्हें आशा थी कि सन्धि का आधार विल्सन के वे सिद्धान्त होंगे जिनका डंका पीटते हुए अमेरिकन राष्ट्रपति ने यूरोप की उत्पीड़ित भूमि पर पदार्पण किया था। विराम-सन्धि के दो सप्ताह पूर्व ही जर्मन जनता ने अपने उन शासकों के विरुद्ध विद्रोह किया था जिन्होंने उन्हें युद्ध में झोंक दिया था। कैसर पदच्युत किये जा चुके थे, जर्मनी में प्रजातन्त्र की स्थापना की जा चुकी थी और यही विद्रोह युद्ध की समाप्ति का कारण हुआ था। स्वाभाविक था कि जर्मनी यह आशा करता कि विजयी राष्ट्र उन्हीं सिद्धान्तों के

आधार पर सन्धि करेंगे जिनकी घोषणा की जा रही थी। पर जो हुआ वह यह था कि जर्मन प्रतिनिधि सन्धि-सम्मेलन में इस प्रकार लाए गये जिस प्रकार बन्दी न्यायालय के सामने लाया जाता है।

तदुपरान्त सन्धिपत्र का मोटा पोथा जो पहले से ही तैयार था उनके सामने हस्ताक्षर के लिए रख दिया गया। इस सन्धि के अनुसार जर्मनी की अष्टमांश यूरोपियन प्रजा उससे छीन ली गयी। न केवल 'आल्सेस लोरेन' प्रत्युत 'सार' का कोयले का क्षेत्र फ्रांस को दे दिया गया। डैंजिग और मेमल मित्रराष्ट्रों के कमीशन के अधीन कर दिए गये। (उसके अंग काट कर पोलैण्ड और चेकोस्लोवाकियामें मिला दिए गये।) कोयले और लोहे के उसमे क्षेत्र ले लिए गये, उपनिवेश छीन लिए गये, व्यापारी जहाजी बेडा हजम कर लिया गया और उन नदियों तक पर विजयी राष्ट्रों के कमीशन की सत्ता स्थापित कर दी गयी जिनके जल-मार्गों से वह व्यापार करता था। उसकी सेना इस प्रकार छिन्न-भिन्न कर दी गयी कि वह अपनी रक्षा करने लायक भी न रहा। अस्त्र-शस्त्र के निर्माण और सैन्य-सग्रह पर भी उग्र प्रतिबन्ध लगा दिये गये। यह सारी तबाही और अपमान करने के बाद भी प्रतिशोध की आग मे जलने वाले विजयी देशों को सतोष न हुआ। वे जर्मनी को पीसकर धूल मे मिला देने के लिए और पराजित शत्रु के मस्तक पर पदाघात करने के लिए आतुर थे। फलतः युद्ध का सारा उत्तरदायित्व और अपराध जर्मनी के शिर थोप दिया गया। उसके ऊपर हरजाने की ऐसी प्रचण्ड रकम लाद दी गयी जिसे अदा करते-करते उसकी कमर टूट जाती। संक्षेप मे किसी राष्ट्र को सदा के लिए कुचल देने के उद्देश्य से मानव-मस्तिष्क जो व्यवस्था ढूंढ निकाल सकता था वही प्रस्तुत कर दी गयी।

जर्मन प्रतिनिधियों के विरोध और रोने-कलपने का कुछ भी परिणाम न निकला। अतत. जर्मनी को सन्धि स्वीकार करनी पड़ी पर एक जीवित राष्ट्र के क्षोभ और प्रतिशोध की भावना ने ही आज हिटलरवाद के रूप मे जन्म ग्रहण किया।[1] जर्मनों के साथ जैसा व्यवहार

किया गया वैसा ही आस्ट्रिया के साथ, हंगरी के साथ और सेव्र की संधि में तुर्कों के साथ किया गया। इटली को, जो जर्मनी का साथ छोड़ कर मित्रराष्ट्रों से मिल गया था, तथा जिसकी भूपिपासा और लोभ की पूर्ति का वचन दिया गया था, युद्ध के बाद अँगूठा दिखा दिया गया। मध्य पूर्व में अरबों को धोखा दिया गया और शाम, फिलस्तीन तथा इराक में मोसल के प्रदेश साम्राज्यवाद के शिकार हुए। आत्म-निर्णय के अधिकार की घोषणा करते हुए भी न भारत की स्वतन्त्रता स्वीकार की गयी और न चीन के उन अधिकृत प्रदेशों को छोडा गया जहाँ यूरोपियन राष्ट्रों की पताका फहरा रही थी। अफ्रीका के उपनिवेश ज्यों के त्यों बने रहे और मिश्र को विजयी ब्रिटिश जाति के चरणों के नीचे पिसते रहने के लिए छोड़ दिया गया। शस्त्र के बल पर जो विजय-लाभ किया गया था उसकी रक्षा के लिए शस्त्र का सहारा लेना ही उचित समझा गया।

इतनी कथा कहने का मेरा लक्ष्य केवल यह दिखाना था कि पूँजी-वादी लोकतंत्रात्मक विजयी राष्ट्रों ने युद्ध में यद्यपि विजय पाई, यद्यपि बड़े-बड़े आदर्शों की घोषणा की तथापि युद्ध के बाद शांति-स्थापन के लिए की जाने वाली संधि न कर सके। वारसेई के अनर्थ को रोकने में न विल्सन की आदर्शवादिता समर्थ हुई और न राष्ट्रसङ्घ सफल हुआ। सफल होना तो दूर रहा संघ के रङ्गमञ्च पर साम्राज्यवादी विभी-षिका विश्वशांति के पर्दे के पीछे भयावना अभिनय करने में समर्थ हुई जिसके फलस्वरूप अशांति और अन्याय का ही प्रजनन तथा अभिषेक हुआ। राष्ट्रसङ्घ राष्ट्रपति विल्सन का मानस पुत्र था जिसका जन्म वारसेई की संधि के गर्भ से हुआ था। यह संघ दुनिया के स्वतंत्र देशों का समूह था जिसके निर्माण का उद्देश्य "भविष्य में न्याय और सम्मान के आधार पर जगत् के राष्ट्रों में सहयोग और मैत्री का सम्बध स्थापित करके युद्धों को सदा के लिए रोक देना था।" उद्देश्य बड़ा सुंदर था पर राष्ट्रसंघ निर्जीव और नपुंसक सिद्ध हुआ। संघ का संघटन करते हुए यह प्रतिज्ञा

की गयी कि उसका प्रत्येक सदस्य-राष्ट्र तब तक किसी दूसरे राष्ट्र
युद्धलिप्त नहीं होगा जब तक शांतिपूर्वक समस्या को हल करने के सा
उपाय असफल न हो जायँ। किसी झगड़े के उठने पर नौ महीने के
भीतर तो किसी भी हालत मे शस्त्र उठाया ही न जायेगा। यदि कोई
सदस्य-राष्ट्र यह प्रतिज्ञा भङ्ग करे तो अन्य सभी राष्ट्र उससे अपना
आर्थिक सम्बंध विच्छेद कर लेगे।

संघ का विधान वारसेई के संधि-पत्र का अंग था। इस विधान मे
यह उल्लिखित था कि अस्त्र-शस्त्र की संख्या सभी देश घटा कर उतना ही
कर देगे जितना राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए आवश्यक हो। जर्मनी का
नि शस्त्रीकरण इस दिशा से पहला कदम होगा और दूसरे सब राष्ट्र उसी
का अनुगमन करेगे। विधान की धारा मे यह भी लिख दिया गया था
कि यदि कोई राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र पर आक्रमण करे तो आक्रमण-
कारी के विरुद्ध काररवाई की जायगी। बाते बडी अच्छी थीं। इन
घोषणाओ से जगत् मे उत्साह और आशा उमड पडी। मनुष्य समाज
ने समझा कि जगत् मे शाति और सुव्यवस्था तथा न्याय और समता
का राज्य स्थापित होने जा रहा है। पर मनुष्य के हृदय का पाप बड़े-
बडे विधान और आदर्शों को नष्ट भ्रष्ट करने में सफल हुआ। संघ
का निर्माण करते हुए जो तिकडम की गयी उससे जगत् का प्रवंचन
अवश्य हुआ पर दुनिया की समस्या हल नहीं हो सकती थी। विधान
मे जहाँ बडी-बड़ी बाते थीं वहीं यह व्यवस्था भी थी कि उसके प्रत्येक
सदस्य-राष्ट्र की प्रभुसत्ता अक्षुण्ण रहेगी। जब विभिन्न राष्ट्रों ने इस
अंतर्राष्ट्रीय संघटन के सम्मुख अपने किसी अधिकार का रत्ती भर भी
विसर्जन नहीं किया तो संघ की सत्ता केवल एक छत्र के सिवा और
क्या रह गई? उसके निर्णय को मानना किसी के लिए अनिवार्य नहीं,
निर्णय मनवाने के लिए संघ के पास कोई साधन नहीं। नियम यह था
संघ का कोई भी निर्णय तभी निर्णय माना जा सकता है जब वह
सर्वसम्मत हो। यह नियम ऐसा था जो निर्णय करने के मार्ग को ही

रोक देने का कारण हुआ। स्पष्ट है कि कोई भी निर्णय सर्वमान्य हो ही नहीं सकता और एक के भी विरोध करने पर निर्णय का मार्ग रुक जाना निश्चित था। इस प्रकार विधान मे ही ऐसी व्यवस्था कर दी गयी जो सङ्घ को निकम्मा बनाने का साधन हुआ।

ऐसा संघ जगत् मे भला शांति की क्या व्यवस्था कर सकता था? नि:शस्त्रीकरण आरम्भ से ही उसका परम वाञ्छित और प्रिय लक्ष्य रहा है। युद्ध मे हुए लोमहर्षक हत्याकांड के बाद यह आवश्यक समझा गया कि संहार के साधनों को सीमा-बद्ध कर दिया जाय। जगत् ने उसी समय यह अनुभव किया कि विज्ञान का दुरुपयोग और मनुष्य की शक्ति की अकल्पित अभिवृद्धि किस प्रकार संसार के लिए अभिशाप बन जा सकती है। फलतः राष्ट्रसंघ की स्थापना करते समय नि:शस्त्रीकरण के संबंध में संघ के विधान की धारा मे यह कहा गया "राष्ट्रसंघ के सभी सदस्य यह स्वीकार करते हैं कि जगत् की शांति बनाए रखने के लिए सभी राष्ट्रों के अस्त्र-शस्त्रों मे जहाँ तक संभव हो कमी कर देना आवश्यक है। संघ की 'काउन्सिल' प्रत्येक राष्ट्र की भौगालिक स्थिति और राष्ट्रीय रक्षा की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए अशस्त्रीकरण के लिए विभिन्न सरकारों के विचारार्थ योजना उपस्थित करेगी।"

इस दिशा में संघ का प्रयत्न जिस दयनीय और उपहास्य स्थिति का प्रदर्शन करता है उस पर स्वयम् मानवता लज्जित है। युद्धोत्तर काल मे यद्यपि जर्मनी, आस्ट्रिया और हंग्री आदि पराजित राष्ट्र बलपूर्वक नि:शस्त्र बनाये गए पर दूसरे सभी देशों ने अपने अस्त्र-शस्त्र घटाने की अपेक्षा उनकी वृद्धि में ही सारी शक्ति लगा दी। स्वयं वे राष्ट्र जो राष्ट्रसंघ के विधाता थे और जिन पर उसके संचालन का भार था इस कुकृत्य मे अपेक्षाकृत आगे थे। विभिन्न राष्ट्रों के तत्कालीन बजट पर साधारण दृष्टि भी इन राष्ट्रों की धूर्तता और राष्ट्रसंघ की पोल खोल देती है। ग्रेट ब्रिटेन युद्ध के पूर्व अस्त्र-शस्त्र मे अपनी राष्ट्रीय आय में से जहाँ केवल पौने चार सौ मीलियन (मीलियन=१० लाख) पौंड खर्च करता

था वहाँ सन् १९३० ई० मे ५३५ मीलियन पौंड खर्च कर रहा था। फ्रांस सन् १९१३ से इस मद में केवल साढ़ेतीन सौ मीलियन खर्च कर रहा था पर सन् १९३० मे उसका खर्च ४॥ सौ मीलियन हो गया था। अमेरिका भी इसमे किसी से पीछे न रहा। उसने २॥ सौ मीलियन से बढ़ा कर अपना व्यय प्रायः सवा सात सौ मीलियन कर दिया था।

एक ओर यह सब हो रहा था और दूसरी ओर निःशस्त्रीकरण का राग अलापा जा रहा था। इस वायुमंडल में निःशस्त्रीकरण सम्मेलन का आयोजन राष्ट्र संघ के उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया गया। कई बार ऐसे सम्मेलन हुए पर किसी मे भी सफलता न मिली। स्वार्थ तथा अहङ्कार की भावना उन लोगो की बुद्धि और दृष्टि को मलिन कर दिया था जिनके हाथो मे जगत् की बागडोर थी। सारी धरती पर अपनी प्रभुता बनाए रखने की कामना लेकर निःशस्त्रीकरण की बात करने वाले भला शान्तिस्थापना में कैसे सफल होते ? सन् १९२७ में जिनेवा में जो निःशस्त्रीकरण सम्मेलन हुआ वह असफल हुआ; क्योकि ब्रिटेन ने अपने क्रूज़रो की संख्या कम करना अस्वीकार कर दिया। भला ब्रिटेन के लिए अपने जल-सैनिक बल को घटाना कैसे सम्भव होता ? उसे तो संसार के जलमार्गों की नकेल अपने हाथ में रखनी थी और पृथ्वी के सुदूर भागो के उन भूखंडो को दबाए रखना था जिनके शोषण और दलन पर ब्रिटिश साम्राज्य, ब्रिटिश पूँजीपतियों का व्यवसाय, उनका ऐश्वर्य और वैभव आश्रित था। सन् १९३२ से ३४ तक जिनेवा में दूसरा सम्मेलन भी सयोजित हुआ जिसकी गति भी वही हुई जो पहले की हुई थी। यह सम्मेलन क्या था घृणित धूर्तता और कूटनीति का, अधस्वार्थपरता और दंभ का निर्लज्ज नर्तन था।

कहा गया कि "नि शस्त्रीकरण के लिए आवश्यक है कि अस्त्र-शस्त्रों में दो प्रकार के भेद कर दिए जायँ। एक शस्त्र होते हैं आक्रमणात्मक और दूसरे होते है रक्षात्मक। आवश्यकता यह है कि आक्रणात्मक अस्त्र-शस्त्रों का परिहार कर दिया जाय, पर जो रक्षात्मक हैं उनका निर्माण और

संग्रह स्वीकार किया जाय। इस निर्लज्ज तर्कको उपस्थित करते हुए यह भी सोचा गया कि सभी शस्त्र रक्षात्मक या आक्रमणात्मक दोनों हो सकते है। जिन शस्त्रो से रक्षा की जा सकती है उन्हीं से आक्रमण भी किया जा सकता है। फलतः अस्त्रो मे रक्षात्मक या आक्रमणात्मक का भेद किया ही नहीं जा सकता। पर यदि यही मान लिया जाय कि ऐसा भेद करना सम्भव है तो भी प्रश्न यह था कि कौन से शस्त्र आक्रमणात्मक है और कौन से रक्षात्मक ? उनका निर्णय करे कौन ? निर्णय करने वाले भी तो यही लोग थे। फलतः जिसके पास जो अस्त्र न थे उन्हें वह आक्रणात्मक घोपित करने लगा और जो थे उन्हें कहने लगा रक्षात्मक। ब्रिटेन को यह कहते सकोच न हुआ कि गोताखोर जहाज, तथा २० टन से अधिक के टैंक उग्ररूप से आक्रमणात्मक है। पर बमवर्पी विमान और विशाल तथा भयावने रणपोत सर्वथा निर्दोष और रक्षात्मक है। पाठकों को यह जान कर आश्चर्य होगा कि उस समय ब्रिटेन न केवल गोताखोरों से विहीन था वरन २० टन से अधिक का टैंक उसके पास एक ही था

सम्मेलन मे रूस और अमेरिका के प्रस्ताव अवश्य ऐसे थे जो सचमुच निःशस्त्रीकरण के लक्ष्य को सामने रख कर उपस्थित किए गये थे सोवियट रूस ने यह प्रस्ताव किया कि सभी देशो के अस्त्र-शस्त्रो मे सामान्य रूप से ५० प्रतिशत की कमी कर दी जाय। अमेरिका ने एक तिहाई कमी का प्रस्ताव किया। रूस ने आक्रमणकारी की परिभाषा करते हुए यह प्रस्ताव भी रखा कि जो किसी देश की सीमा का उल्लंघन अपनी सशस्त्र सेना के द्वारा करे वह आक्रमणकारी घोपित कर दिया जाय। पर इन बातो को सुनने वाला कौन था ? सम्मेलन मे उपस्थित प्रायः सभी राष्ट्रो ने स्वार्थपूर्ण दृष्टि ही ग्रहण कर ली थी। फ्रास, ग्रेट ब्रिटेन और जापान की स्वार्थपरता तो अपनी सीमा पार कर रही थी इन सब ने मिल कर रूस का विरोध किया। जापान तो उस समय जब नि.शस्त्रीकरण सम्मेलन हो रहा था और आक्रमणकारी की व्यवस्था करने की चेष्टा की जा रही थी, मचूरियापर चढ़ दौडा था। फलतः उसने

लिए इसका विरोध करना अनिवार्य था। ब्रिटेन को अपने साम्राज्य को दबाए रखना था, फलतः उसे भी विरोध करना ही था। उसने तो एक दूसरी योजना भी उपस्थित कर दी, जिसका अर्थ यह था कि संसार भर की जातियों की सैनिक शक्ति अवश्य परिमित कर दी जाय, पर ब्रिटिश शक्ति की कोई सीमा न रखी जाय क्योंकि उसे विस्तृत साम्राज्य का रक्षण करना है। फ्रांस को जर्मनी से सदा भय था फलतः उसे अपनी रक्षा के लिये ऐसा उपाय वांछित था जिसके फलस्वरूप किसी राष्ट्र के लिए आक्रमण करना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाय। फलतः उसने यह प्रस्ताव कर दिया कि संघ के अधीन एक अन्तर्राष्ट्रीय सेना संघटित कर दी जाय और दुनिया भर की आकाश सेना को उसी के हवाले कर दिया जाय। इस शक्ति का उपयोग आवश्यकता पड़ने पर आक्रमणकारी के विरुद्ध हो। फ्रांस के इस प्रस्ताव का अर्थ यह था कि वह न केवल जर्मन आक्रमण के भय से मुक्त हो जाय बल्कि राष्ट्रसंघ में अपने प्रभाव के फलस्वरूप सारे यूरोप की नकेल अपने हाथ में रखने में समर्थ हो।

जहाँ ऐसी दशा हो रही हो वहाँ अशस्त्रीकरण का प्रश्न ही कहाँ रह जाता है? बेचारे जर्मनी को, जो पराजित था अवश्य दबा दिया गया, उसकी सैनिक शक्ति विघटित कर दी गयी। अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण और संचय पर रोक लगा दी गयी और इस प्रकार राष्ट्रसंघ के विधान के उस अंग का परिपालन किया गया जो जर्मनी को निरस्त्र करने से संबन्ध रखता था। पर दूसरे अंश की, जिसमें अन्य सभी के अस्त्र-शस्त्र घटाने की बात कही गयी थी, भरपूर मखौल उड़ाई गयी। निःशस्त्रीकरण सम्मेलन में जगत् को मूर्ख बनाने के सिवा दूसरा प्रयत्न नहीं किया गया। निःशस्त्रीकरण का आयोजन शस्त्रवृद्धि का कारण हो गया। सम्मेलन के आवरण में कुचक्र रचने की चेष्टा की जाती रही। यूरोप के बड़े-बड़े औद्योगिक देशों के शस्त्रनिर्माण के कारखानों के बहु-वेतन भोगी 'एजेन्ट' परदे के पीछे से निःशस्त्रीकरण की योजना को

विनष्ट करने की चेष्टा करते रहे। पूँजीवादी दुनिया में हथियारो और विनाश के साधनों के निर्माण का व्यवसाय बड़ा भारी है जिसमें गहरा मुनाफा उठाया जाता है। ये कारखाने दुनिया की सरकारो के लिए शस्त्र बनाते हैं पर होते हैं बड़े-बड़े पूँजी पतियो की निजी संपत्ति। ये पूँजीपति हथियार बेच कर अकल्पित लाभ उठाते और धन-कुवेर बन जाते हैं। बड़ी-बडी कम्पनियाँ और हिस्सेदारो मे गहरे मुनाफे बाँटती हैं। बहुधा देशों के प्रतिष्ठित राजनीतिज्ञ और नायक इन कम्पनियों के हिस्सेदार होते हैं। युद्ध और युद्ध की तैयारियाँ इन कारखानो के लाभ का साधन होती हैं।

अपने धन के प्रभाव से इन कारखानो के मालिक अपनी सरकारों पर गहरा प्रभाव रखते हैं। बड़े-बड़े सरकारी अफसर घूस देकर मिलाए जाते हैं। अखबारो के जरिए देश की रक्षा के नाम पर शस्त्रवृद्धि का प्रचार किया जाता है। विभिन्न देशो के पारस्परिक सम्बन्ध को बिगाड़ने और उनमे शत्रुता उत्पन्न करने की चेष्टा की जाती है और यह इसलिए किया जाता है कि शस्त्रो की खरीद-बिक्री का व्यवसाय धूम से चलता रहे। यह सिद्ध हो चुका है कि विभिन्न देशों के शस्त्रव्यवसाइयो ने मिल कर अपना अन्तर्राष्ट्रीय संघटन बनाया था जिसका एकमात्र प्रयत्न होता है किसी प्रकार नि.शस्त्रीकरण की योजना को विफल कर देने का। उनके एजेन्ट लम्बी-लम्बी तनखाहे पाते हैं और जगत् की सरकारो के ऊँचे से ऊँचे अधिकारियो तक पहुँचते हैं, उन्हें प्रभावित करते हैं, चाँदी-सोने से उनकी पूजा करते हैं, परराष्ट्र विभाग के दफ्तर की गुप्त से गुप्त बातो का पता लगाते हैं और विभिन्न देशो के पारस्परिक सम्बंध को विषाक्त करके अपना काम साधते हैं। परिणाम यह होता है कि एक ओर जो शक्तियाँ मंचूरिया पर हुए जापानी आक्रमण की निन्दा करती हैं वही दूसरी ओर चीन और जापान दोनों के हाथ अस्त्र-शस्त्र बेचकर धन कमाने की चेष्टा करती हैं। शान्ति और नि:शस्त्रीकरण के लिए अन्तर्राष्ट्रीय ढंग से हुए प्रयत्न की उपहास्य और

दयनीय स्थिति तथा उसकी लज्जाजनक विफलता का प्रमाण इससे बढ़कर और क्या हो सकता है। सब शांति की बात करते हैं पर तैयारी करते हैं युद्ध की। निःशस्त्रीकरण का प्रयत्न हुआ पर की गई अस्त्र-शस्त्रों की अकल्पित वृद्धि।

पूँजीवादी लोकतंत्रात्मक राष्ट्रों का प्रयोग यदि न्यायसंगत संधि-थापन में सफल न हुआ, यदि प्रभावकर अन्तर्राष्ट्रीय संघटन की स्थापना मे वे समर्थ न हुए और यदि निःशस्त्रीकरण करने और आक्रमण-शीलता को रोक कर अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की स्थापना में वे समर्थ न हुए तो आर्थिक समस्या और प्रश्न को भी न सुलझा सके। पूँजीवाद जिस अर्थनीति का प्रतिनिधित्व करता है और जिसके आधार पर आश्रित है उसी से संभूत समस्याओं को पूँजीवादी राष्ट्र न तो सुलझा सके और न उससे उत्पन्न परिस्थिति को सँभाल सके। युद्धोत्तर विश्व में यह आशा की जाती थी कि उन आर्थिक प्रश्नों का समाधान किया जा सकेगा जिनका प्रजनन विज्ञान द्वारा प्रदत्त उत्पादन की यांत्रिक प्रणाली के गर्भ से हो गया था। सभी स्वीकार करते हैं कि विश्वव्यापी महा-युद्ध के मूल मे मुख्य कारण आर्थिक ही रहे हैं। पूँजीवाद अप्रतिहत प्रतिस्पर्धा तथा उत्पादन की यांत्रिक प्रणाली और प्रतिबन्धहीन व्यवसाय पर पलता फूलता है। एक युग आया जब कच्चे माल को प्राप्त करने और उत्पन्न पदार्थों को खपाने के लिए बाजारो की खोज करते हुए महान् औद्योगिक पूँजीवादी राष्ट्र एक दूसरे के गले पर झपट पड़े और धरती युद्ध की धधकती आग मे भस्म हुई। आशा की जाती थी कि युद्ध के बाद ऐसी व्यवस्था चलेगी जिसमे उन कारणों का परिहार तो हो ही जायगा जो युद्ध के मूल मे थे, साथ ही साथ वे दोष भी मिटा दिए जायेंगे जिनके कारण आर्थिक विषमता फैलकर जगत् के बहुसंख्यक वर्ग को भूख और अभाव से भस्म किया करती है। पर युद्धोत्तर विश्व की आर्थिक स्थिति क्रमशः बिगड़ती चली गई और बिगड़ती हुई उस बिन्दु को पहुँची जब सारे जगत् में गहरी मन्दी महामारी की तरह

व्याप्त हो उठी। इस विश्वव्यापी मन्दी ने गजत् का गला ऐसा धर दबोचा कि उसकी सारी सक्रियता नष्ट हो चली।

जगत् का व्यवसाय रुका, वे उर्वर खेत जो भोज्य पदार्थों का उत्पादन कर रहे थे ऊसर छोड़ दिए गये, कही-कहीं खड़ी फसले सूखने के लिए छोड दी गयीं। खाने और उपभोग के अन्य आवश्यक सामान जो गोदामो मे भरे पड़े थे न कर दिए गयें, सारी दुनिया मे व्यापार रुका और पदार्थों की कीमत तेजी से गिरने लगी। सन् १९३३ ई० मे सारे जगत् का व्यवसाय सन् १९२९ ही अपेक्षा ३५० प्रतिशत कम हो गया था। राष्ट्र संघ ने इस व्यवसाय की कमी की जाँच करके जो संख्या प्रकाशित की थी उसमे बताया गया है कि १९२९ ई० के प्रथम तीन महीनों में जगत् भर के आयात-निर्यात व्यवसाय का मूल्य जहाँ १५ हजार मीलियन डालर से अधिक था वहाँ सन् १९३२ ई० मे यह संख्या घट कर ५ हजार मीलियन डालर के करीब हो गयी। यह संख्या इस बात को स्पष्ट कर देती है कि जगत् की आर्थिक स्थिति किस सीमा तक पहुँच गई थी।

व्यापार की मन्दी का परिणाम यह हुआ कि जगत् का व्यवसाय ठप होने लगा। चारों ओर कल-कारखाने रुकने लगे। बेकारो की संख्या भयजनक रुप से बढ़ चली। केवल यूरोप और अमेरिका मे तीन करोड़ से अधिक मजदूर बेकार हो गए। फिर दूसरे भूखण्डो के बेकारों से कोई मतलब नहीं। भोज्य पदार्थों का मूल्य इतना गिरा कि जगत् के किसानो की हड्डी-पसली चूर हो उठी। यूरोप मे लाखों की सख्या में बेकार नर-नारी रोटी की खोज मे इधर-उधर भटकते दिखाई देने लगे। अमेरिका के समान धनी श्रीसपन्न और साधनयुक्त देश मन्दी की मार से अपेक्षाकृत सबसे अधिक पीड़ित हुआ। हजारो की सख्या मे अमेरिकन बैंको का दिवाला पिट गया और भूख तथा अभाव चतुर्दिक् व्याप्त दिखाई देने लगा। स्मरण रखने की बात है कि बेकारी, भूख, व्यापार और व्यवसाय की मन्दी फैली हुई थी पर इसका अर्थ

यह नहीं था कि जगत् मे भोज्य और उपभोग्य पदार्थों का अभाव हो गया था। संसार पूर्व की अपेक्षा दरिद्र नही, धनी और सम्पन्न था। पहेली विश्व के सम्मुख यही थी। सम्पन्न और सर्वथा परिपूर्ण जगत् मे यह अभाव कैसा?

एक ओर खेतो मे खडी फसले सूख रही थीं; निर्मित पदार्थों से भरे भंडार अपने माल को सड़ा रहे थे, फलो से लदे वृक्ष नष्ट हो रहे थे पर कोई उन्हें पूछने वाला न था दूसरी ओर भूखो और वेकारो की भीड थी और कोई उन्हे दो रोटी देने वाला न था। सर हेनरी स्ट्रेकाश नामक ब्रिटिश अर्थशास्त्री लिखते है कि "सन् १९३१ मे दुनिया की बाजारो मे इतना माल भरा पड़ा था कि सारे जगत् का परिपोषण दो वर्षो तक बिना किसी प्रकार का काम किए भली प्रकार किया जा सकता था।" श्री डी० बी एच० कोल लिखते हैं कि "युद्ध के बाद बारह वर्षों मे अर्थात् सन् १९३० तक, दुनिया की जनसंख्या मे जितनी वृद्धि हुई उपयोग की जाने वाली वस्तुओं की उत्पत्ति मे उससे ११ प्रतिशत अधिक वृद्धि हुई।" एक ओर पदार्थों की यह स्थिति थी और दूसरी ओर विश्वव्यापी आर्थिक संकट तथा भूख की व्यापकता और अभाव का उच्छृङ्खल नर्तन ऐसा भयावन था जैसा कि आधुनिक औद्योगिक दुनिया के जीवन मे कभी दिखाई नहीं पडा था।

मन्दी की इस महा विपत्ति ने जगत् को उसी प्रकार त्रस्त किया जिस प्रकार महायुद्ध ने त्रस्त किया था। इसके बोझ के नीचे सारा पूँजीवादी लोकतंत्रात्मक सघटन बुरी तरह चरचरा उठा। जो पूँजीवादी दुनिया के विधाता थे और जो यह समझ रहे थे कि बीसवीं शती के प्रथम चरण मे हुए युद्ध मे विजय प्राप्त करने के बाद वे आगामी शताब्दियों मे जगत् पर अपनी प्रभुता बनाए रखेंगे वे सिहर उठे। उनके सामने भी यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि उनकी दुनिया भी क्या अंतिम सांस लेने जा रही है? घबरा कर पूँजीवादी देशो ने स्थिति को संभालने के लिए और अपनी रक्षा करने के लिए अनेक उपाय किए। पर जब

हम उनके द्वारा किए गये उपायों पर दृष्टिपात करते हैं तो यह पाते हैं कि समस्या सुलझने के बजाय और अधिक उलझती ही गई। तत्कालीन यूरोप का आर्थिक इतिहास उस अर्थनीति का इतिहास है जिसे ग्रहण करके यूरोपियन राष्ट्रों ने अपनी सारी आर्थिक व्यवस्था और व्यापारिक गति को विचूर्ण तथा जड़ बना दिया। यह सङ्कट और मन्दी जगत्-व्यापिनी थी। फलतः उसका उपाय भी अंतर्राष्ट्रीय आधार पर ही हो सकता था। पर न तो दूरदर्शिता के साथ अंतर्राष्ट्रीय उपाय ढूँढे गए और न जो प्रयत्न उस दिशा में हुए वे सफल हुए। जो उपाय किया गया वह यही था कि सभी राष्ट्रों ने अपने अपने हित को सामने रख कर अर्थनीति सञ्चालित की।

जिसे देखिए वह विदेशों से होने वाले आयात को रोकने और अपने देश के माल को अपने देश में तथा बाहर खपाने की चेष्टा करने लगा। औद्योगिक देशों ने युद्ध के कारण ध्वस्त हुए अपने कल-कारखानों को जब सजीव करना आरंभ किया और यह देखा कि माल की खपत के लिए दुनिया की बाजारें तो उपलब्ध हैं ही नहीं बल्कि दूसरे प्रतिस्पर्धी राष्ट्रों से अपने देश में ही अपने व्यवसाय का खतरा उत्पन्न हो रहा है तब उन्होंने तट-कर की ऊँची दीवारें खड़ी करके विदेशी माल का आयात रोकने और अपने व्यवसाय को संरक्षण प्रदान करने की चेष्टा की। उन्हें यही एकमात्र मार्ग सुझाई पड़ा। उन्होंने देखा कि इसी के द्वारा वे अपने देश के निर्मित पदार्थों की खपत अपने देश में सुरक्षित रख सकते हैं और अपने व्यवसाय की रक्षा करके बेकारी दूर कर सकते हैं। स्वयम् इंगलैंड ने भी मुक्त-व्यापार की अपनी पुरानी परम्परा को छोड़ कर विदेशी माल पर लम्बी चौड़ी जकातें बैठा दीं। निस्संदेह यह उपाय क्षणिक लाभ पहुँचा सकता था पर समस्या को अंततः अधिक उलझाने का कारण होता। तत्कालीन स्थिति की विवेचना कीजिए तो आप देखेंगे कि परिणाम यही हुआ। इस नीति से अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की गति रुकने लगी। जगत् की संपत्ति का आदान-प्रदान होने

से धन में जो सञ्चलन होता था वह जड़ होने लगा। माल की खपत के के लिए एक ओर बाजारें बन्द होने लगीं तो दूसरी ओर यान्त्रिक पद्धति से उत्पादन अधिकाधिक होने लगा। इस स्थिति में पदार्थों का मूल्य और अधिक गिरना अनिवार्य था।

पदार्थों का मूल्य बढ़ाने के लिए दूसरे अप्राकृतिक उपाय की शरण ली गयी। विविध राष्ट्रों ने अपनी-अपनी मुद्रा का पतन करना आरंभ कर दिया। मुद्रा के पतन का अर्थ होता है उसकी संख्या को बढ़ा देना। अर्थशास्त्र का मोटा सा सिद्धांत है कि मुद्रा की संख्या बढ़ जाने से मुद्रा सस्ती हो जाती है। अर्थात् मुद्रा की सस्ती के फलस्वरूप पदार्थों का मूल्य बढ़ जाता है। विभिन्न देशों में जब इस उपाय का अवलंबन किया किया गया तो सारे जगत् में मुद्रा के पतन की ही होड़ लग गई। जब एक देश में मुद्रा का पतन किया जाता है तो दूसरे देश भी वही करने को बाध्य होते हैं क्योंकि एक देश की मुद्रा यदि दूसरे देश की मुद्रा की तुलना में गिरी हुई हो तो गिरी हुई मुद्रावाले देश का माल उस देश में जाने लगेगा जहाँ की मुद्रा का मूल्य ऊँचा होगा। मुद्रा गिरा कर राष्ट्र इसी प्रकार दूसरे देशों में लगाए गए तट-कर को व्यर्थ करके अपना माल खपाने की चेष्टा करते हैं। इस स्थिति में स्वाभाविक था कि सभी एक दूसरे के मुकाबिले में अपनी-अपनी मुद्रा का पतन करते चलते। पर इस अवस्था ने और भी उलझन पैदा कर दी। एक ओर अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय की तुला बुरी तरह डगमगा गयी और दूसरी ओर अपने अपने देशों में ही सरकारों की शाख समूल हिल उठी। कागजी सिक्कों को चला कर ही उनकी संख्या बढ़ाई जाती थी और संख्या इतनी अधिक हो जाती थी कि सरकारी स्वर्ण भंडार उसके आधार नहीं बने रह सकते थे। फलत. कानून बना कर स्वर्णमान का भी परित्याग किया जाने लगा।

पाठक इस आर्थिक दुर्व्यवस्था, अराजकता और भ्रष्टता की कल्पना भली भांति कर सकते हैं। जब सरकारों की राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय

साख चौपट हो गई हो, जब विनिमय की दर मे विश्वास उठ गया हो, जब मुद्राओ का कोई मूल्य न रह गया हो, तब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की गति का सम्पूर्ण अवरोध न हो जाय तो आश्चर्य ही क्या है? इसके फलस्वरूप व्यापक महामन्दी का और उग्र हो उठना क्या स्वाभाविक नहीं था? इस मन्दी के फलस्वरूप कल-कारखानो का रुकना अनिवार्य होने लगा। परिणामतः बेकारी बढ़ने लगी। बेकारी के कारण जनवर्ग की क्रय शक्ति का ह्रास होते जाना अवश्यम्भावी था। जब जनता निर्मित पदार्थों की खपत करने मे असमर्थ हो तो यंत्र मे अपरिमित मात्रा में उत्पन्न माल का मूल्य अधिकाधिक गिरता ही जायगा। जैसे-जैसे यह मूल्य गिरेगा वैसे-वैसे बेकारी फैलेगी और वैसे-वैसे माल की खपत रुकती जायगी। पूँजीवादी लोकतंत्रात्मक विजयी राष्ट्रों की नीति ने ऐसा ही दुश्चक्र प्रवर्तित कर दिया जिसमे फँस कर सारा जगत् स्वयं पूँजीवादी समाज के सहित पिस उठा।

एक ओर माल से भरे हुए भंडार और दूसरी ओर दावाग्नि की धधकती भूख दिखाई दे तो कोई आश्चर्य न था। जिन लोगो ने और जिनकी व्यवस्था तथा प्रयोग ने इस अनर्थ का सर्जन किया था वे यह न देख सके कि रोग का मौलिक उपचार क्या हो सकता है? उन्होने पदार्थों का मूल्य बढ़ाने के लिए दूसरे पैशाचिक उपाय किए। भोज्य और भोग्य पदार्थों का उत्पादन रोका जाने लगा और उत्पन्न पदार्थों का विनाश किया जाने लगा। इङ्गलैंड मे सन् १९३० मे लगभग १३ करोड रुपये पूँजी से एक नैशनल शिप बिल्डर्स सिक्योरिटी लिमिटेड नामक कम्पनी की स्थापना की गई। इस कम्पनी का उद्देश्य यह था कि जहाज बनाने के कारखानों को खरीद कर उन्हें नष्ट किया जाय, और उनकी भूमि को जहाँ कारखाना बना है दूसरों के हाथ इस शर्त पर बेच दिया जाय कि वहाँ जहाज बनाने का कारखाना न खोला जायेगा। कपडे की उत्पत्ति घटाने के लिए सन् १९३३ में 'लङ्का-शायर काटन कार्पोरेशन' की स्थापना हुई और कुछ समय बाद टेकुआ कानून बना कर एक करोड़ ४० लाख

टेकुए नष्ट किए गए और उस लोहे को रद्दी के भाव बेच दिया गया। कहा जाता है कि उपर्युक्त 'कारपोरेशन' ने १४४ मिलों को खरीदा था जिनमे से ८० सन् १९३६ तक नष्ट की जा चुकी थीं।

भोज्य पदार्थों की उत्पत्ति भी रोकी गयी। रूई, रबर, चाय, गेहूँ आदि के बोने पर अमेरिका आदि देशों मे गहरी रुकावटें लगाई गयीं। केवल अमेरिका मे १ अरब ८४ करोड़ ८० लाख पौंड काफी नष्ट की गयी। कहते हैं कि सारी दुनिया के प्रत्येक व्यक्ति को एक पौंड काफी बाँट देना केवल उस परिमाण मे सम्भव था जितना नष्ट कर दिया गया। गेहूँ, रूई, शकर आदि भी इसी प्रकार नष्ट की गई। गोदमों में पटे माल सड़ा डाले गए। यह सब किया गया इसलिए कि पदार्थों का मूल्य बढ़ाया जा सके। स्मरण रखिए कि बन्धन और विनाश की यह सारी प्रक्रिया एक ओर जारी थी और दूसरी ओर जगत् का व्यापक जन-समाज दो रोटी और गज भर कपड़े के लिए तरस रहा था। औरों की बात जाने दीजिए। अमेरिका धरती का सबसे सम्पन्न और धनी देश समझा जाता है। कहते हैं कि सन् १९२७ ई० मे अमेरिकन राष्ट्र का कुल राष्ट्रीय धन चार खरब डालर था। उस समय अमेरिका की जन-संख्या पौने बारह करोड़ के लगभग थी और इस हिसाब से औसतन प्राय. ३॥ हजार डालर प्रतिव्यक्ति उक्त धन का अनुपात पड़ा। युद्ध के बाद सारा यूरोप अमेरिका का ऋणी था। उसे सारे जगत् से कुछ न कुछ पाना था। सारी दुनिया का दो तिहाई सोना अमेरिकन राष्ट्र की जेब मे रखा हुआ था। पर यह सारी सम्पत्ति उसके किस काम आई। मन्दी की मार से तीन करोड़ नर-नारी अमेरिका मे बेकार हो गये थे जो दाने-दाने को तरस रहे थे। अमेरिका के कृषक भूख और अवसाद की आग मे इस प्रकार जले कि स्वयम् वहाँ के किसान विक्षुब्ध हो कर विद्रोह तक करने को तैयार हो गये।

पैसे के अभाव में अमेरिकन किसानों के खेत बैंकों के हाथ रेहन और बय होने लगे और उनका जीवनोपाय छिनने लगा। धनी अमेरिका

में पैसे का ऐसा अभाव था कि पदार्थों के विनिमय की सारी प्रक्रिया रुक गयी। सैकड़ों संस्थाएँ ऐसी पैदा हो गई जो पदार्थों का विनिमय पदार्थ से करने के पुराने ढंग को अपनाने लगीं। मुद्रा के द्वारा विनिमय का आधुनिक ढग ही चूर हो गया। एक दूध वाला एक विश्वविद्यालय को दूध देता था और विश्वविद्यालय एवज मे उसके बच्चे को शिक्षा प्रदान करता था। ऐसी पद्धतियाँ अन्य देशो मे भी चल पड़ीं। तात्पर्य यह कि लक्ष्मी की गोद मे विलास करने वाले औद्योगिक देशों की सारी सम्पदा पड़ी सड़ती रही और लोग भूखो मरते रहे। पूँजीवादी देशो की इस ज्वलंत असफलता पर अधिक टीका करना व्यर्थ है। राष्ट्र संघ के तत्वावधान में सन् १९३३ ई० में विश्व-आर्थिक-सम्मेलन किया गया। पर इसमें भी विभिन्न राष्ट्रो की स्वार्थपरता और प्रतिस्पर्धा का ही नग्न प्रदर्शन हुआ। महीनो तक माथापच्ची करने के बाद सम्मेलन विघटित हो गया। न वह जगत् की मौद्रिक अव्यवस्था को दूर कर सका न व्यवसायिक गतिरोध मिटा सका और न मन्दी का परिहार कर सका। संक्षेप में उसके किए न कोई निर्णय हो सका और न वह कोई समुचित उपाय ढूँढ़ सका।

लंदन की यह कांफ्रेन्स पूँजीवादी दुनिया की असफलता का एक और प्रमाण उपस्थित करके लुप्त हो गयी और दुनिया असहाय, निराश, हतबुद्धि पड़ी हुई एक दूसरे का मुँह देखती रही। स्वयम् पूँजीवादी देशो ने अपनी असफलता का अनुभव किया सन् १९३२ ई० मे ब्रिटिश सरकार ने अमेरिकन सरकार को एक नोट लिखा था जिसमे कहा गया था "सर्वत्र अंधाधुन्ध कर-वृद्धि की गई है, खर्च घटाया गया है पर स्थिति को सुलझाने के लिये जो भी उपाय किए गए वे उसे अधिकाधिक जटिल और उग्र बनाने में ही समर्थ हुए"। यह है युद्धोपरात जगत् की असफलता की संक्षिप्त कहानी। पूंजीवादी देशो की प्रतिस्पर्धा बढ़ गई, उनका आर्थिक संघटन चूर हो गया, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध विपाक्त हो गया, नि शस्त्रीकरण के स्थान पर शस्त्रीकरण आरंभ हो गया और

शान्ति के स्थान पर अशान्ति के काले बादल क्षितिज मे एकत्र होते दिखाई देने लगे। कौन कह सकता है कि वाशिङ्गटन, लंदन और पेरिस के तथोक्त लोकतन्त्रवादी गुट ने राष्ट्रसंघ के रूप में जिस प्रयोग का सूत्रपात किया था वह बुरी तरह असफल नहीं हुआ। गत दो दशकों की घटनाओ से तो यह भी सिद्ध होता है कि रोग के उपचार की पद्धति से उपसर्गों का शमन होना तो दूर रहा उन्हें उत्तेजन ही मिलता गया। आज रोग असाध्य हुआ दिखाई दे रहा है। दुनिया ने देखा कि राष्ट्रसंघ साम्राज्यवादी यूरोपियन राष्ट्रो की स्वार्थान्धता और प्रभुता की लिप्सा की पूर्ति का निमित्तमात्र है। न्याय, लोकतंत्र, स्वतन्त्रता और विश्वशाति की बाते थोथी हैं। उसने यह भी देखा कि वह न तो आर्थिक सकट टालने मे समर्थ हुआ, न नि:शस्त्रीकरण के द्वारा जगत् की शान्ति को सुरक्षित रखने में और न न्याय तथा समानता के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग तथा सम्बन्ध की अभिवृद्धि करने मे। किए गए अन्याय को मिटाने की बात तो दूर रही उसे स्थायी बनाए रखने में ही उसकी सारी शक्ति लगी हुई है।

यूरोप की छोटी कौमो ने और एशिया तथा अफ्रीका की दबी हुई जातियो ने यह भी देखा कि राष्ट्रसंघ उनकी रक्षा करने मे तथा उनके साथ न्याय कराने मे भी असमर्थ है। वह न तो भारत ऐसे पराधीन देशो को आत्मनिर्णय का अधिकार दिला सका, न जापान और इटली ऐसे देशो की आक्रमण शीलता रोक सका और न विश्वसंघ की कल्पना को जीवन प्रदान कर सका। जगत् ने यह भी देखा कि हाथों में खड्ग लेकर जो अन्याय मिटाना चाहे उनके सामने बड़े-बड़े दंभी शिर झुकाते लज्जा का अनुभव नहीं करते। जो गुंडई का उत्तर डंडे से दे वही पूज्य और आदरणीय है पर जो सौजन्य, शील और व्यवस्था का आश्रय ग्रहण करे वह न तो सुरक्षित है और न कोई उसकी सुनने वाला है। पूँजीवादी देशो की असफलता ने सारे जगत् में कुछ ऐसी ही मन:स्थिति उत्पन्न कर दी थी। यह मन:स्थिति उस लोकतंत्र को भी खा जाने का

कारण हुई जिस पर यूरोप के राष्ट्रों को गर्व रहा है। लोकतंत्र न्याय सहयोग और दूसरे के हित में अपने अधिकार को संकुचित करने वातावरण में ही फलता-फूलता है। उनके अभिषेचन के लिए शस्त्र नहीं किन्तु सहिष्णुता की रस-धारा अभीष्ट होती है।

स्वयम् तथोक्त लोकतन्त्रात्मक देशों ने जो आदर्श उपस्थित किया वह सर्वथा उपर्युक्त कल्पना के विरुद्ध था। अभी कुनीति ने जगत् को न्याय, सहयोग और सहिष्णुता मे विश्वास खो देने के लिए बाध्य किया। सब ने अनुभव कर लिया कि अपने हित, अपने स्वार्थ और अपनी रक्षा के लिए अपने बल का भरोसा करना होगा। सबने देखा की शस्त्र का बल ही एकमात्र साधन है और अपने ही स्वार्थ की चिन्ता करना एक-मात्र लक्ष्य। अतर्राष्ट्रीयता के स्थान पर उग्र राष्ट्रवादिता ने और सह-योग तथा पारस्परिक विश्वास के स्थान पर शस्त्र ने अपनी सत्ता प्रति-ष्ठित की। प्रतिशोध का प्रतिशोध से, अन्याय का अन्याय से, स्वार्थ का स्वार्थ से और हिसा का हिंसा से उत्तर देने मे ही सफलता दिखाई देने लगी। यह मनोधारा लोकतंत्र का विनाश करके जगत् को एक बार पुनः मध्ययुगीन निरंकुश राजसत्ता की ओर ले वही। जिन्हें देखने को आँखे और समझने को बुद्धि है वे स्वीकार करेगे कि रोम और बर्लिन में जिस फासिस्ट और नाजी व्यवस्था का उदय हुआ उसके लिए सबसे अधिक उत्तरदायी वे हैं जो राष्ट्रसंघ के प्रवर्तक और विश्वशांति के ठेके-दार बन कर उपस्थित हुए थे।

रोम और बर्लिन में ही नहीं वरन् समस्त युद्धोत्तर यूरोप मे हम अधिनायकवाद का जन्म होते देखते हैं। यह परिणाम हुआ उस पद्धति और मनोवृत्ति का, नीति और कार्य का जिसका प्रदर्शन महती पूँजीवादी शक्तियों ने किया था। उन्होंने स्वयम् ऐसी समस्याओं की सृष्टि कर दी, जिससे पार पाने के लिये शक्ति और अधिकार के केन्द्रीकरण की ओर बढ़ना अनिवार्य हो गया। ऊपर जिस आर्थिक और अन्तर्राष्ट्रीय अरा-जकता का चित्र खींचा गया है उसमें भला लोकतत्र के लिये इष्ट वाता-

वरण कहाँ मिल सकता था ? जब बेकारो की भीड़ खड़ी हुई जीविका के लिये हल्ला मचा रही हो, जब राष्ट्रों का दीवाला निकल रहा हो जब भूख की आग लगी हुई हो, जब व्यापार और व्यवसाय के फलस्वरूप अस्त्र-शस्त्रो के संग्रह का पागलपन सवार हो गया हो और जब पूजीपति-सम्पन्न वर्गों के शिर पर स्वार्थ का भूत चढ बैठा हो और उनके पैर के नीचे की धरती खिसकती जा रही हो उस समय सारी शक्ति और सारे अधिकार को कुछ हाथो मे केन्द्रित करके अपनी रक्षा करने की चेष्टा की ओर बढ़ाव होना स्वाभाविक ही था। फलतः सारे यूरोप मे अधिनायकवादिनी सत्ताएँ एक के बाद दूसरी पनप उठी। लोकतन्त्र धराशायी था और उसके मस्तक पर इटली और स्पेन मे, युगोस्लाविया और ग्रीस मे, आस्ट्रिया और हंगरी मे, बलगेरिया और रोमानिया मे, पोलैन्ड और रूस मे अधिनायक सत्ताएँ स्थापित हो गयीं।

और तो और लोकतन्त्रवादी देश जहाँ 'पार्लिमेन्ट्री' पद्धति प्रचलित थी धीरे-धीरे शक्ति और अधिकार के केन्द्रीकरण की ओर बढ़ चले। उनमे फासिटी प्रवृत्तिया स्पष्टत दृष्टिगोचर होती हैं। अमेरिका के राष्ट्रपति के हाथो में सदा से बडे अधिकार केन्द्रित रहे हैं। पर गत कुछ वर्षों से उसके अधिकार की भारी वृद्धि की गई है। फ्रॉस और इगलैंड, जो लोकतन्त्रवाद के गढ़ माने जाते हैं, पार्लामेन्टें अपनी पुरानी शक्ति धीरे-धीरे खोती गयी है और अधिकारका केन्द्रीकरण मन्त्रिमंडलो के रूप मे प्रतिष्ठित गुट के हाथ मे होता गया है। पार्लमेंटो का काम धीरे-धीरे परामर्श देनेमात्र का रह गया है। इङ्गलैंड मे पुराने जमाने से साधारण सभा का जो अधिकार था वह यद्यपि विधानत आज भी मौजूद है, पर व्यवहारत तमाम बड़े-बडे मसलों का निर्णय मंत्रिमंडल ही कर देता है और साधारण सभा का काम मुख्यत स्वीकृति देनामात्र रह जाता है। आज इगलैंड में ऐसी परम्परा वर्धमान हो चली है जिसमे पार्लमेंट किसी कानून के साधारण

सिद्धान्त पर अपना मत तो व्यक्त कर देते है पर उसकी रूप-रेखा चित्रित करके उसे साकार बनाने का काम मन्त्रिमंडल पर ही छोड दिया जाता है।

यह सच है कि 'पार्लमेंट' को यह अधिकार विधानत प्राप्त है कि वह किसी सरकार को पदत्याग करने के लिये वाध्य करे, पर इस उग्र शस्त्र का प्रयोग न करने की अथवा यथासंभव न करने की भावना दिन-दिन प्रबल होती जा रही है। आज की वदलती हुई दुनिया मे जहाँ प्रतिक्षण नई समस्याएँ उपस्थित हुआ करती हैं और तत्क्षण निर्णय की अपेक्षा करती हैं, पार्लमेन्टें सरकारों के हाथों में अधिकाधिक अधिकार का विसर्जन करती जा रही है। प्रसिद्ध ब्रिटिश विद्वान् 'लारक' इसी स्थिति की ओर सकेत करते हुए कहते हैं कि हमारी सरकार वास्तव मे मन्त्रिमंडल की अधिनायकवादिनी सरकार हो गई है। यह अवस्था उस इंगलैंड की है जहाँ लोकतंत्र का जन्म शताब्दियों पूर्व हो चुका था। आज वहाँ भी लोकतंत्र क्षयग्रस्त हो गया है। वास्तव मे लोकतंत्र का अस्तित्व पूँजीवादी सामाजिक व्यवस्था में सम्भव ही नहीं है, क्यों कि उन दोनों मे नैसर्गिक विरोध है। पूँजीवाद और लोकतंत्र का संघर्ष सजात और अवाध है। लोकतंत्र का अर्थ यदि कुछ हो सकता है तो वह यही है कि शक्ति और अधिकार का विकेन्द्रीकरण इस प्रकार किया जाय कि जन-जीवन आथिक, सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से समता प्राप्त कर सके। पूँजीवाद आर्थिक केन्द्रवाद पर स्थित है जो स्वभावतः शक्ति और अधिकार के केन्द्रीकरण की ओर अग्रसर होगा। विना इसके वह उस वैपम्य की रक्षा कर ही नहीं सकता जो पूँजीवाद का प्रकृत रूप है। फलतः लोकतंत्र और पूँजीवाद का संघर्ष भीतर-भीतर चलता रहा है जो महायुद्ध के वाद उग्र होकर स्वयम् लोकतन्त्र को निगल गया। यह हुआ परिणाम लोकतन्त्रात्मक देशो के प्रयोग और उनकी पद्धति का। उसकी असफलता का इससे बढ़कर और क्या प्रमाण हो सकता कि वे न पूँजीवाद की रक्षा कर

सके न लोकतन्त्र की। उन दोनों को नष्ट करते हुए जगत् को भी विनाश के गर्त मे ला पटका।

गत बीस वर्षो मे जगत् की समस्याओ को हल करने मे जिस प्रकार पूॅजीवादी लोकतन्त्रात्मक राष्ट्रों का प्रयोग असफल हुआ उसकी सक्षिप्त रूपरेखा उपस्थित की जा चुकी। यह असफलता आश्चर्य की वस्तु नहीं है, क्योंकि जो हुआ वह होना अनिवार्य था। राष्ट्रसंघ की कल्पना मे अंतर्राष्ट्रीयता, विश्वशान्ति और न्याय तथा स्वतन्त्रता की रक्षा के आदर्श मे कोई त्रुटि नहीं थी। पर त्रुटि थी रोग का मौलिक निदान करने मे तथा उस रोग के फलस्वरूप प्रकट हुए उपसर्गों का शमन करने की उपचार-पद्धति मे। आदर्श के अनुकूल यदि पथ ग्रहण न किया जायगा तो असिद्धि नितान्ततः अनिवार्य है। 'पूॅजीवादी' उपर्युक्त लोकतन्त्रात्मक देशो मे आदर्श का उचित निर्धारण करते हुए भी पथ वह पकडा गया जो उसके विपरीत था। रोग का उपचार ऐसा किया गया जो उसे उत्तेजित करने का कारण हुआ। आवश्यकता इस बात की थी कि मानव समाज को सकट के गर्त मे से निकालने के लिए वर्तमान व्यवस्था को सर्वथा मिटा दिया जाता। जगत् की स्थिति वास्तव मे उस पूॅजीवादी व्यवस्था के विकार से उत्पन्न हुई थी जो अपना जीवन और अपनी उपयोगिता समाप्त कर चुकी थी। उसके सड़े हुए शरीर से वह विष प्रवाहित हो रहा था जो सारे सामाजिक जीवन को विषाक्त कर रहा था। यदि जगत् की रक्षा करनी है तो यह अपेक्षित था कि पूॅजीवाद की अन्त्येष्टि कर दी जाय। पर लोकतंत्रात्मक देशों ने यही नहीं किया। पूॅजीवाद से उत्पन्न समस्याओ ने युद्ध का प्रजनन किया था पर युद्ध उसे हल नहीं कर सकता था। उसी से उत्पन्न समस्याओं ने आर्थिक, राजनीतिक और अन्तर्राष्ट्रीय दुरवस्था उत्पन्न की थी पर उनका समाधान पूॅजीवादी पद्धति को ज्यो का त्यों बनाए रखकर कदापि नहीं किया जा सकता था।

यूरोप के विचारशील लोग सर आकलैन के शब्दों में "यह अनुभव

कर रहे थे कि समाज का विघटन आरंभ हो गया है और यूरोप में एक युग समाप्त हो रहा है।" पर यह अनुभव करते हुए भी अनुभव करनेवालो ने नवनिर्माण के लिए नव-पद्धति और अनुकूल नव-उपायो का अवलम्बन नहीं किया। कदाचित् उनका स्वार्थ उनकी दृष्टि को मलिन किए हुए था। फलतः वे गहराई में प्रवेश करके वस्तुस्थिति को देख न सके। महामन्दी आई पर क्यो आई और उसके परिहार का उपाय क्या था? किसी ने कहा कि मन्दी के मूल मे युद्ध का ऋण है जो जगत् की रीढ़ तोड़े दे रहा है, किसी ने कहा कि सोने की कमी दुनिया में हो गयी है जिसके फलस्वरूप मुद्रा का आधार डगमगा गया है। दूसरो ने यह मत प्रगट किया कि सारे अनर्थ की जड़ वह आर्थिक राष्ट्रीयता है जिसे अपनाकर जगत् के विभिन्न देशो ने तरह-तरह के प्रतिबन्ध लगाए और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की गति को रुद्ध कर दिया। जो और गहराई में गए उन्होंने यह कहा कि सारी कठिनाइयाँ पदार्थों का आवश्यकता से अधिक उत्पादन होने के कारण उत्पन्न हुई हैं।

पर विचार करके देखा जाय तो उपर्युक्त बाते मन्दी के कारण नही थे परन्तु किसी मौलिक दोष का उपसर्गमात्र थे। मन्दी स्वत किसी मूल दोप का ही परिणाम था। यदि अत्यधिक उत्पादन ही मुख्य कारण था तो भी यह पूछा जा सकता है कि अत्यधिक उत्पादन के रहते हुए भी लाखो की संख्या में नरनारी आवश्यक पदार्थों के अभाव से उत्पीड़ित कैसे हुए। कैसे लाखों अन्न और वस्त्र के समान जीवन के लिए नितान्त आवश्यक समान से भी वञ्चित थे? मौलिक प्रश्न यह था कि यह स्थिति आई क्यो और इसका उपचार किस प्रकार किया जा सकता था? कहा जाता है कि जनता की क्रय-शक्ति का ऐसा क्षय हो गया था कि वह निर्मित पदार्थ को खरीद कर उसका उपभोग करने मे समर्थ ही नहीं रह पाई थी। परिणाम स्वरूप एक ओर माल पड़ा सड़ता था और दूसरी ओर अभाव की आग धधक रही थी। प्रश्न किया जा सकता है कि आखिर जनता की क्रय-शक्ति का ऐसा ह्रास ही क्यो

हुआ ? अर्थ शास्त्री तो यह कहते रहे है कि उत्पादन की वृद्धि के साथ-साथ जनता की क्रय-शक्ति का बढ़ना अनिवार्य है। वे कहते है कि मालका उत्पादन और उसकी खपत होगी तो उत्पादक जनवर्ग के हाथ मे पैसे आवेगे, उसे काम मिलेगा, धन मे संचलन होगा और उसका वितरण हो सकेगा। पर यहाँ स्थिति उल्टी क्यों हुई ? उत्पादन यदि हुआ तो जनता की क्रय-शक्ति बढ़ने के बजाय घटती क्यो चली गई और क्यो माल की खपत रुकती गई, मन्दी फैलती गई और बेकारी बढ़ती गई ?

वस्तुत बात यह है कि उत्पत्ति की वृद्धिमात्र से उपभोग की शक्ति नही बढ जाती। यह बात जगत् की गत दो दशकों की स्थिति से सिद्ध हो चुकी है। श्रीविश्वेश्वरैया ने अपनी 'प्लैण्ड इकनामीं' नामक पुस्तक मे लिखा है कि "इस समय भी उद्योग प्रधान देशो की उत्पादनशक्ति सारे ससार के लोगो की क्रय-शक्ति से पचास प्रतिशत अधिक है।" पर जहाँ उत्पादन-शक्ति इतनी अधिक है वहाँ क्रय-शक्ति का कम होना क्या यह सिद्ध नही करता कि उत्पत्ति की वृद्धि से जनवर्ग की क्रय-शक्ति का बढ जाना जरूरी नहीं हुआ करता ? उपभोग करने की इच्छा उपभोग करने की आवश्यकता और उपभोग करने की शक्ति में महान् अन्तर है। इच्छा और अवश्यकता रहते हुए भी यदि पदार्थ को प्राप्त करने का साधन जन-समाज को उपलब्ध नही है तो उत्पत्ति के बढ जाने से भी उसकी क्रयशक्ति मे वृद्धि नहीं हो सकती। क्रयशक्ति में वृद्धि उसी दशा मे हो सकती है जब माल को खरीदने और उसका मूल्य चुकाने के लिये जनता के पास आवश्यक पैसा हो। प्रश्न यह किया जा सकता है कि आखिरकार जन-समाज के पास पैसे का यह अभाव ही क्यो हो गया ? ये तमाम प्रश्न थे जिनका समुचित उत्तर खोज निकाले विना जगत् का आर्थिक प्रश्न हल हो ही नहीं सकता था। पूँजीवादी लोकतन्त्रात्मक राष्ट्रो ने या तो इन प्रश्नो का उत्तर खोजा नहीं अथवा यदि खोजा तो उसके उत्तर की उपेक्षा की। उपेक्षा इस लिये की कि वे उत्तर पूँजी-

वादी व्यवस्था के विरुद्ध निर्णय प्रदान करने वाले थे और पूँजीवादी देश उन्हें ग्रहण करके अपने संकुचित स्वार्थ को छोड़ने के लिये तैयार न थे।

जनता की क्रय-शक्ति का ह्रास हुआ था पूँजीवादी अर्थ-नीति के परिमाणस्वरूप। पूँजीवादी व्यवस्था मे धन का उचित और सम बटवारा संभव ही नहीं है। पदार्थ का उत्पादक उस लाभ और आय का साझीदार होता ही नहीं जो उत्पन्न सम्पत्ति की खपत के द्वारा होती है। इस सम्पत्ति का स्वामी वह वर्ग होता है जिसकी संख्या मुट्ठी भर से अधिक नहीं है और जो स्वयम् अनुत्पादक है। इसके सिवा सारी पूँजीवादी अर्थनीति व्यक्तिगत सम्पत्ति, व्यक्तिगत लाभ, और अबाध निरंकुश तथा अव्यवस्थित प्रतिस्पर्धा पर आश्रित है। जन वर्ग उत्पादक भी है और उपभोक्ता भी है। वह माल तैयार भी करता है और मूल्य चुका कर उसे खरीदने के लिए बाध्य भी होता है। परिणामत: उसका दोहरा शोषण होता है। इस स्थिति मे धन का दोषपूर्ण और विषम वितरण अवश्यम्भावी है। सारी सम्पत्ति का कुछ के हाथों मे एकत्र हो जाना भी अनिवार्य है। जब यह दशा होगी तो जनवर्ग की क्रय-शक्ति का ह्रास हुए बिना बाकी नहीं रह सकता। इसके फलस्वरूप माल की खपत रुकेगी, मन्दी आवेगी, कल कारखाने शिथिल होने लगेगे, बेकारी बढ़ेगी और जनता माल की खरीद करने में अधिकाधिक असमर्थ होती जायगी। स्पष्ट है कि इस दुश्चक्र का मूल पूँजीवाद है। इसके परिहार का उपाय यही है कि धनका उचित बटवारा हो और उत्पादन, उपभोग तथा वितरण मे ऐसा सामंजस्य स्थापित किया जाय कि धन का एकत्रीकरण तथा उसकी विषमता दूर की जा सके। ऐसा करने के लिए पूँजीवादी अर्थनीति को और उस पर स्थापित सारी सामाजिक व्यवस्था को मिटाना होगा। पूँजीवादी लोकतन्त्रात्मक राष्ट्रों के लिए ऐसा करना अपने हित का और उस दुनिया का जिससे वे परिपालित थे, विसर्जन करना होता। इतना बड़ा त्याग करने के लिए वे तैयार न थे। फलत: आर्थिक सकट को दूर भी न कर सके। जो उपाय किये गये वे किसी

प्रकार प्रत्यक्ष प्रकट हुए दोषो को छिपा कर वर्तमान को यथासंभव बनाए रखने के लिए ही किए गये। परिणाम यह हुआ कि समस्या सुलझने के बजाय उलझती चली गई और स्थिति सँभलने की अपेक्षा बिगडती ही गई।

आर्थिक संकट न सुलझ सकने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय संबन्ध भी विषाक्त होता गया और युद्ध की सम्भावना बढ़ती गई। युद्ध का भय बढ़ेगा तो निःशस्त्रीकरण के लिये स्थान रह ही नहीं सकता। आर्थिक संकट के कारण सभी देशो का आन्तरिक राष्ट्रीय स्वरूप भी विकृत हो चला। जो अर्थ और सम्पत्ति के प्रभु थे और जिनके हाथों में प्रभुता तथा अधिकार था उन्हें आर्थिक अव्यवस्था ने भयभीत कर दिया। अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध के खतरे से भी वे सशंक हो उठे। असाधारण स्थिति मे, और ऐसी स्थिति मे जब अशान्ति के बादल उमड़ रहे हों लोकतंत्र यों ही शिथिल होने लगता है। इसके सिवा जब पूँजीवादी वर्ग यह देखता है कि उसका बना-बनाया भवन ढहना चाहता है तो उसके लिये अपनी सारी शक्ति लगा कर उसकी रक्षा करना एकमात्र मार्ग रह जाता है। फलतः वह लोकतन्त्र को तिलाञ्जलि देकर शक्ति और अधिकार के केन्द्रीकरण की ओर अग्रसर होता है। इस केन्द्रीकरण द्वारा ही निरंकुश और असाधारण उपायो का अवलम्बन करके वर्तमान को बनाए रखने की चेष्टा करता है। एक वर्ग की यह प्रवृत्ति अधिनायकवाद की जननी होती है। इसका परिणाम और भी भयावह होना स्वाभाविक है। वर्गप्रभुता और वर्गस्वार्थ का केन्द्रीकरण दूसरे वर्गो से घोर विक्षोभ उत्पन्न कर देता है। वर्ग-संघर्ष तीव्र हो जाता है। जनता की बेकारी, दलन और अधिकारापहरण वर्ग-संघर्ष की तीव्रता को और उग्र बना देता है। परिणामतः दूसरा वर्ग भी विद्रोही हो जाता है और बल-पूर्वक शासनसत्ता पर अधिकार स्थापित करके अपने हाथो मे अधिकार का केन्द्रीकरण करने की चेष्टा करता है। तात्पर्य यह कि जनवर्ग हो या पूँजीवाद-वर्ग दोनों की ही गति अधिनायकवाद तथा

वर्ग-प्रभुता-वाद की ओर हो जाती है। विचारा लोकतन्त्र दोनो ओर से मारा जाता है और उसके शव पर कहीं फासिटीवादी और कहीं कम्युनिस्ट समाज-वादी वर्गमूलक अधिनायक-वादिनी व्यवस्था अट्टहास करती दिखाई देती है जो परस्पर विरोधी वर्गों का रक्तपान करती हुई नरमुड मालिनी भयावनी विभीपिका के रूप मे दृष्टिगोचर होती है।

यही है युद्धोत्तर विश्व की कहानी। कहा जा सकता है कि यह स्थिति न उत्पन्न हुई होती यदि गत महायुद्ध मे विजयी हुए राष्ट्रनायकों ने, जो जगत् की समस्या सुलझाने चले थे, दूरदर्शिता, कल्पनाशीलता और मानव समाज के सामूहिक हित की भावना से काम लिया होता। यह स्थिति तब तक सुलझ भी नहीं सकती जब तक आवश्यकता और परिस्थिति के अनुकूल जगत् की सारी व्यवस्था मे इष्ट और मौलिक परिवर्तन नहीं कर दिया जाता। जगत् को दुर्दशा के गर्त से निकालने के लिए आज की व्यवस्था को बदल कर वह स्थिति लानी होगी जिसमे अर्थ का समुचित बटवारा हो सके। आर्थिक विषमता को दूर करना होगा और मानव समाज को शोषण, दलन तथा दासता से मुक्त करना होगा। ऐसी व्यवस्था परिचालित करनी होगी जिसमे राष्ट्रो का सबन्ध गला-घोटू प्रतिस्पर्धा तथा द्वेष पर न होकर सहयोग तथा सहायता पर स्थापित हो। विज्ञान ने दिक्काल और भौगोलिक बाधाओ को दूर करके यदि धरती को एक परिवार का रूप प्रदान कर दिया है और मानव-समाज परस्पर निकट आ गया है तो अन्तर्राष्ट्रीयता और विश्व की सामूहिक हित की कल्पना से काम लिए बिना और उसी के आधार पर आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, तथा सास्कृतिक व्यवस्था को परिचालित किए बिना कोई दूसरी गति है ही नहीं।

अन्तर्राष्ट्रीयता और विश्वशान्ति के लिये उन सीमाओ का उल्लंघन करना होगा जो उसमे बाधक हो रही हैं। मनुष्य को इस योग्य बनाना होगा कि वह अपने स्वार्थ, अपने अहम् और अपनी कामना की सीमा को तोड़ दे और जगत् के सामूहिक हित मे उसे लय हो जाने दे। जीवन

के प्रति उसकी सारी कल्पना और दृष्टि को क्रमशः बदल लेने की चेष्टा करनी होगी। जगत् के सामने प्रश्न यह है कि यह सम्भव कैसे हो और कैसे इस लक्ष्य की पूर्ति की जा सके। इतना तो सर्वमान्य है कि पूंजीवाद की सारी कल्पना, दृष्टि, विधि और व्यवस्था इस लक्ष्य के ही प्रतिकूल है। फलत यह भी सभी को स्वीकार होगा कि पूँजीवादी व्यवस्था को बदलना ही एकमात्र उपाय है। पर प्रश्न यह है कि यह व्यवस्था पलटी कैसे जाय और उसका स्थान ग्रहण करने वाली वस्तु कैसी हो जो उपर्युक्त लक्ष्य की पूर्ति कर सके। पूँजीवादियो ने स्वयं सुधार करने के लिए जिस पथ, पद्धति और प्रयोग का अवलम्बन किया वह किस प्रकार असफल हुआ इस पर गत पृष्ठो मे प्रकाश डाला जा चुका है। दूसरा उपाय समाजवाद उपस्थित करता है जिस पर अगले अध्याय में विचार करने की चेष्टा की जायेगी। पर यहाँ इतना कह देना असगत न होगा कि समाजवाद जो उपाय उपस्थित करता है वह वर्गमूलक द्वेष और हिंसा का आधार ग्रहण करता है। यद्यपि वह आदर्श रखता है आर्थिक समता और राजनीतिक स्वतन्त्रता का, वर्गभेद के नाश और विश्व की शान्ति का; पर पथ पकड़ता है वर्ग-प्रभुता और वर्ग-मूलक हिंसा तथा निरंकुश अधिनायकवाद का।

फलत उसकी पद्धति उसे आदर्श से विमुख ले जाती है। गांधी इन सब से भिन्न तीसरा उपाय उपस्थित कर रहा है। वह उपाय है जगत्-समस्या को अहिंसक ढंग से हल करने का। वह पद्धति आर्थिक समता के स्थापन की, पूँजीवाद के विसर्जन की, स्वत्वापहारिणी, हिंसाश्रिता राजनीतिक सत्ता के विघटन की मौलिक पद्धति है। गांधी जी आधुनिक पूँजीवाद के, आर्थिक विषमता के, राजनीतिक दासता और राष्ट्रीय तथा अन्तराष्ट्रीय हिंसावाद के मूल कारण को ही लुप्त करने की चेष्टा और उपाय का अवलम्बन कर रहे हैं। वे समझते हैं कि पूँजीवाद के मूल में उत्पादन की वह यांत्रिक पद्धति है जो उत्पत्ति की प्रक्रिया का, उत्पन्न सम्पत्ति का, वर्ग स्वार्थ की रक्षा के लिए शक्ति और अधिकार

की सत्ता का केन्द्रीकरण कर देती है। वे उत्पादन की इस पद्धति का ही लोप चाहते हैं क्योंकि उस पर प्रतिष्ठित सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था स्वभावतः वर्ग-भेद पर, दलन और दोहन पर तथा हिंसा और शस्त्र पर आश्रित हो जाती है। आर्थिक विषमता और जन-दास्य तथा अन्तराष्ट्रीय द्वेष और युद्ध का मार्ग उक्त स्थिति मे प्रशस्त हुए बिना बाकी नहीं रह सकता। यंत्र से काम ले कर मनुष्य बेकार बनाया जाय और आशा यह की जाय कि उसकी क्रयशक्ति बढ़ेगी, विशुद्ध भ्रान्ति के सिवा कुछ नहीं है।

अत्यधिक उत्पादन यदि समस्या है तो इसका सर्जन भी यंत्रवाद के गर्भ से ही होता है। यदि धन का समुचित बँटवारा न होना आर्थिक संकट के मूल मे है तो इसका कारण भी वह पूँजीवाद है जिसका जन्म यंत्र के द्वारा ही हुआ है। गाँधीजी यह मानते हैं कि यंत्र की उपयोगिता मनुष्य के लिये ही स्वीकार की जा सकती है न कि मनुष्य का अस्तित्व यंत्र के लिये है। मनुष्य को निकम्मा, निर्धन, निस्सत्व और निरुत्साह तथा निर्दलित करके यंत्र को ग्रहण नहीं किया जा सकता। हाँ, यंत्र को बेकार करके भी यदि आवश्यक हो तो मनुष्य को काम दिया जा सकता है और उसके योगक्षेम, उसकी स्वतन्त्रता और सुख तथा उसके स्वत्व और शान्ति की वृद्धि करना उचित हो सकता है। किसी अर्थशास्त्री ने अथवा यांत्रिक उत्पादन-पद्धति के समर्थक ने अब तक ऐसा चिट्ठा और ब्योरा उपस्थित नहीं किया है जिसमे यह सिद्ध किया गया हो कि जगत् में मनुष्य की जितनी शक्ति उपलब्ध है वह उतना उत्पादन करने में समर्थ नहीं है जितने की आवश्यकता मानव-समाज को अपने जीवन की रक्षा के लिये प्रतीत होती है। अब तक किसी ने यह हिसाब लगा कर नहीं बताया कि मनुष्य को पदार्थों की कितनी कमी है तथा उसे उत्पन्न करने की उसकी शक्ति कितनी कम है जिसकी पूर्ति के लिये अमुक निश्चित सीमातक यंत्र की सहायता अपेक्षित है।

आज तो हम यही देख रहे हैं कि यंत्र से काम लेकर मनुष्य मनुष्य

को बेकाम बनाया जा रहा है, उसकी आर्थिक शक्ति का क्षय करता जा रहा है, आर्थिक विषमता फैलाता जा रहा है और अत्यधिक उत्पादन तथा दोषपूर्ण साम्पत्तिक वितरण की समस्या उपस्थित करके जगद्व्यापी आर्थिक संकट उपस्थित करता जाता है। श्री विश्वेश्वरैया ने महान् औद्योगिक देशो के उद्योग और व्यवसाय मे लगे नर-नारियो की एक तालिका उपस्थित की है। मै पाठको से निवेदन करता हूॅ कि वे नीचे लिखी तालिका पर दृष्टिपात करे।

	उद्योग धन्धो मे		व्यवसाय और यातायात में	
		करोड़		करोड़
ग्रेट ब्रिटेन	·९१	„	·४०	„
अमेरिका	१·५४	„	१·२०	„
जर्मनी	१·३२	„	·५२	„
फ्रास	·७१	„	·३६	„
जापान	·५७	„	·०५	„
कुल	·०५	करोड़	२·५३	करोड़

इस तालिका से स्पष्ट है कि जगत् के उपर्युक्त ५ महान उद्योग-प्रधान देशों के सारे उद्योग-धंधों, व्यवसायों और यातायात मे सन् १९३०-३१ में कुल प्राय: ७॥ करोड़ आदमी लगे हुए थे। स्मरण रखिए कि उपर्युक्त देशों की कुल जन संख्या प्रायः ३२ करोड़ के पहुॅचती है। इस जन संख्या के चतुर्थांश से कुछ कम ही नर-नारी समस्त उद्योग व्यवस्था में लगे हुए थे पर उनके द्वारा उत्पन्न पदार्थ से जगत् इस प्रकार भर उठा था कि व्यापक महामन्दी से विश्व का समस्त आर्थिक जीवन विचूर्ण होता दिखाई पड़ा। अमेरिका की कुल जनसंख्या जगत् की सारी जन संख्या के ६ प्रतिशत से अधिक नहीं है पर अकेला अमेरिका संसार में बननेवाली मोटर गाड़ियो का ८७ प्रतिशत, पिट्रोल का ७१ प्रतिशत और कोयले का ४३ प्रतिशत उत्पादन करता है।

प्रश्न यह उठता है कि यांत्रिक उत्पादन की यदि यह स्थिति है तो

जगत् की अवस्था क्या हो जायगी ? जब दुनिया के कुछ देश अपने जनसंख्या के चतुर्थांश से भी कम मानव-शक्ति का उपयोग करके सारे संसार की आवश्यकता से अधिक पदार्थों का उत्पादन कर सकते हैं तो उस समय क्या स्थिति होगी जब जगत् के अन्य देश भी उद्योगप्रधान हो जायँगे ? उस समय क्या स्थिति होगी जब सारी दुनिया भर के बेकार काम मे लगा दिए जायँगे और कल-कारखानो द्वारा उत्पादन करने लगेंगे सोचने की बात है कि उसी युग मे जब उपर्युक्त स्थिति थी जगत् में करोड़ो की संख्या मे लोग बेकार घूम रहे थे। केवल अमेरिका मे सन १९३१-३२ मे एक करोढ़ तीस लाख से अधिक आदमी बेकार थे। तात्पर्य यह कि उस देश के जितने नर-नारी उद्योग व्यवस्था मे लगे हुए थे उतने की आधी संख्या बेकारी की आग मे जल रही थी। इतनो को बेकार रखकर अमेरिकन उद्योग यदि अपने माल से संसार के बाजारो को पाट दे सकता था तो यदि उसके सारे बेकार भी उत्पादन के काम मे लगा दिए जाते तो संसार का आर्थिक संकट कहाँ पहुँचा होता ?

इस स्थिति के रहते और उत्पादन की केन्द्रित तथा यांत्रिक प्रणाली को बनाए रखकर यह कल्पना करना कि जगत् का आर्थिक संकट और दुरवस्था सुलझाई जा सकेगी अपने आपको भयावना धोखा देना है। कहा जा सकता है कि काम के घण्टे कम करके और जनता के जीवन के स्तर को ऊँचा करके और उसकी आवश्यकताओं को अधिकाधिक बढा कर तथा उनकी पूर्ति में उसे समर्थ बनाकर बेकारी और अत्यधिक उत्पादन की समस्या हल की जा सकती है। यह तर्क की दृष्टि से मोहक ज्ञात होते हुए भी तबतक सार-पूर्ण और वास्तविक नहीं माना जा सकता जबतक आँकड़ो को पेश करके कोई उन्हें सिद्ध नहीं कर देता। जो लोग उपर्युक्त मत के समर्थक हैं उनके लिए यह आवश्यक है कि वे अपने तर्क की साधारता यदि व्यवहारिक प्रयोग के द्वारा नहीं तो कम से आँकड़ो के द्वारा तो अवश्य सिद्ध करें। आकड़े उपस्थित करके बतावे कि जगत् के प्रत्येक व्यक्ति के रहन-सहन के लिये कम से कम सीमा क्या निर्धारित

करते हैं ? जीवन-रक्षा के लिए प्रत्येक व्यक्ति को कितना पदार्थ आवश्यक समझते है ? फिर वे यह वतावे कि उक्त हसाव की तुलना मे जगत् में यन्त्रो के द्वारा कितना माल तैयार होता है ? कितने की कमी पड़ती है जिसकी पूर्ति के लिए अधिक उत्पादन की आवश्यकता है, अथवा कितना माल अधिक तैयार होता है जिसका उत्पादन रोकना अपेक्षित है ? फिर वे यह वतावे कि जगत् मे वेकारो की संख्या कितनी है ? उन्हें काम मे लगाने का क्या प्रभाव उत्पादन पर पड़ेगा ? यदि अधिक उत्पादन रोकने के लिए काम के घण्टो का कम करना जरूरी होगा तो किस सीमातक कम करना होगा ? महान् औद्योगिक देशों के सिवा दूसरे देश यदि उद्योगीकरण करने लगे तो उत्पादन पर उसका क्या प्रभाव होगा ? किस प्रकार उपर्युक्त हिसाव के प्रकाश मे उनका सामंजस्य स्थापित किया जायेगा ? आवश्यकताओ को किस सीमा तक आप वढ़ाते जायँगे और उन्हें बढ़ाते हुए किस प्रकार माल की खपत करने में समर्थ हो सकेंगे ?

याद रखने की वात है कि माल की खपत उपभोग से होती है, सग्रह से नहीं। मेरा मतलव यह है कि एक व्यक्ति सौ धोती अकेले अपने पास रख सकता है और यह कहा जा सकता है कि उसका जीवन-स्तर वहुत ऊँचा है। पर इससे माल की खपत नहीं होती क्योंकि सौ धोती रखने वाला उन सवको एक वर्ष मे पहन कर फाड़ नहीं सकता। फटेंगी दस ही और दूसरे वर्ष वह यदि खरीदेगा तो सौ नहीं दस ही खरीदेगा। इस प्रकार जीवन में ऐसा एक विन्दु आ सकता है जब आवश्यकताओ को वढ़ाना भी सम्भव न होगा और यदि हो भी जाय तो उससे उपभोग की मात्रा न वढ़ेगी। इन सव आँकड़ों को उपस्थित करके कोई यह योजना पेश करे कि यान्त्रिक पद्धति किस प्रकार अत्यधिक उत्पादन की, वेकारी की, और आर्थिक-असाम्य की समस्या हल करने मे समर्थ होती है। भले ही आप केवल एक मिनट काम करके जगत् भर की आवश्यकता की पूर्ति के लिए आवश्यक उत्पादन करलें और काम के समय को उपर्युक्त सीमा तक घटा कर वेकारी की समस्या

भी हल कर लें पर उसके साथ यह भी बताना होगा कि तेइस घण्टे और उनसठ मिनट मनुष्य क्या करेगा, विश्राम की उसकी नीरसता किस प्रकार दूर होगी और किस प्रकार अवकाश का उपयोग करना मानव-समाज के विकास तथा हित का साधन होगा। जब तक इन तमाम प्रश्नों का साधार उत्तर न पेश किया जाय तब तक हवाई तर्क स्वीकार नहीं किया जा सकता।

इन सब के सिवा उत्पादन की केन्द्रित प्रणाली के कारण जिस भयावने केन्द्रवाद का सर्जन होता है उसका समुचित समाधान भी उपस्थित करना होगा क्योंकि शक्ति और अधिकार का केन्द्रीकरण मानव-स्वतंत्रता का विघातक और उसके दलन का साधक स्पष्टतः होता जा रहा है। गाँधी आज देख रहा है कि उपर्युक्त यंत्रवाद और केन्द्रीकरण जगत् के नाश का मार्ग प्रशस्त करता जा रहा है। फलत. वह विकेन्द्रीकरण का समाधान उपस्थित कर रहा है जिसके द्वारा जगत् की समस्या हल की जा सकती है। उसके विकेन्द्रीकरण की कल्पना के सम्बन्ध मे आगामी अध्यायो में लिखा जायगा। पर यहाँ इतना कह देना अनुचित न होगा कि उसी मे उसे लोकतन्त्र का सच्चा उदय दिखाई देता है। आर्थिक विषमता दूर होती दिखाई देती है, साम्पत्तिक वितरण सम तथा न्याय्य होता दिखाई देता है और ऐसे समाज की रचना सम्भव दिखाई देती है जो अहिंसा पर आश्रित हो सकेगी। उसी के द्वारा वह स्थिति आ सकेगी जब बाजारों की खोज के लिए परस्पर राष्ट्रो मे प्रतिस्पर्धा की आवश्यकता न रहेगी और विश्व-शान्ति तथा विश्व-संघटन के लिए आवश्यक परिस्थिति और अपेक्षित वातावरण उत्पन्न हो सकेगा।

पर गाँधी जी का इतना ही भेद लोकतंत्रवादी देशों के प्रयोग से नहीं है। उनकी विचार धारा जिस नैतिक आदर्श के उद्गम से प्रवाहित तथा उनका जो दृष्टिकोण उनकी पद्धति के मूल में है वह भी यूरोप की मूल-दृष्टि से सर्वथा भिन्न है। जिस दार्शनिक दृष्टि पर लोकतंत्र स्थापित है वह व्यक्तिवाद और उपयोगितावाद का समर्थन तथा प्रतिपादन करती

है। जिन दार्शनिक विद्वानों ने उपर्युक्त दृष्टि तथा सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है उनके मत से प्रत्येक व्यक्ति प्रकृत्या अपने आनन्द और सुख की खोज करता है। जीवन के प्रति अपनी इस दृष्टि के फलस्वरूप उन्होंने सामाजिक व्यवस्था के लिए जो नैतिक आदर्श तथा आधार ढूँढ़ निकाला वह यही था कि अधिक से अधिक लोगों के अधिक से अधिक सुख का साधन तथा संवर्धन जिस प्रकार हो सके उसे ही समाज के लिए उपयोगी समझना चाहिए। व्यक्ति अधिक से अधिक सुखोपभोग कर सके, उसे ऐसा करने का अधिकार तथा स्वतंत्रता हो और समाज उसके इस लक्ष्य की पूर्ति में सहायक हो।

समाज तथा उसकी व्यवस्था की उपयोगिता और औचित्य इसी बात में है कि उसके द्वारा अधिक से अधिक लोगों का अधिक से अधिक हित हो। इस नैतिक आदर्श के आधार पर राजनीतिक क्षेत्र में लोकतंत्र तथा आर्थिक क्षेत्र में मुक्त व्यवसाय तथा वाणिज्य-नीति का प्रवर्तन हुआ। व्यक्तिवाद की इस कल्पना की विवेचना करना मेरा लक्ष्य नहीं है और न उसके गुण-दोष का खण्डन-मण्डन करना चाहता हूँ पर इतना कह देना आवश्यक है कि यदि यह सत्य भी हो कि मनुष्य स्वभावत. अहम्‌वादी है और अपने ही सुख की खोज में रहता है तो भी यह प्रश्न किया जा सकता है कि सुख और आनन्द की उसकी कल्पना क्या है तथा सुख और आनन्द की अनुभूति कैसे और किस बात में करता है।

दार्शनिक विद्वानों की दृष्टि में उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर चाहे जो रहा हो पर यूरोप में बहते भौतिकवाद के प्रवाह ने उपर्युक्त सुखवाद, व्यक्तिवाद, और उपयोगितावाद की कल्पना को अपने रंग में रंग डाला। सुख की प्राप्ति ही यदि मानव-जीवन का लक्ष्य है, यदि मनुष्य के समस्त कार्यों का उद्देश्य उसे प्राप्त करनामात्र है तो सुखानुभूति और आनन्दानुभूति जैसे और जहाँ भी हो प्राप्त करना ही व्यक्ति समाज और व्यवस्था का एकमात्र आदर्श माना जा सकता है। विचार कीजिए कि उस स्थिति में जब भौतिकता की धारा बह चली और जब भोजन, भोग और प्रज-

नन मे, प्रभुता की प्राप्ति और सम्पत्ति के उपार्जन मे, अधिकारोपभोग और स्वार्थ-साधन मे, ऐहिक सुख तथा कामनाओं की तृप्ति मे, भौतिक—प्रवृत्ति सुख का अनुभव करती हो तब उपर्युक्त सिद्धान्त किस रंग में रँगा जाकर व्यावहारिक रूप ग्रहण करेगा? भौतिक दृष्टि आर्थिक जीवन, स्थूल विश्व और ऐहिक सुखोपभोग के सिवा और किसी वास्तविकता की सत्ता स्वीकार ही नहीं करती। फलत भौतिकभाव से भावित मनुष्य अह की तृप्ति के सिवा और किसी दिशा में सुख की कल्पना कर ही कैसे सकता है? अनिवार्य था कि जीवन ऐसी धारा पकड़ ले जिसमे लौकिक सुख की प्राप्ति के लिए अधिकाधिक यत्न करना और अधिक साधन प्राप्त करना उसका लक्ष्य हो जाय। विज्ञान ने दुर्भाग्य से इसी प्रवृत्ति को और भी उत्तेजित किया। डार्विन के विकासवाद ने नया ज्ञान प्रदान कर दिया था। जीवन की रक्षा के लिए प्राणिजगत् मे भयानक संघर्ष का होना और संघर्ष में जो योग्य है उनका टिकना और जो निर्बल है उनका लुप्त हो जाना नैसर्गिक विकास की क्रिया का अटल विधान घोषित किया जा चुका था।

स्वाभाविक था कि ये विचार यूरोप के राजनीतिक, सामाजिक और वैयक्तिक जीवन को प्रभावित करते। संघर्ष मे सफल होनेवाले, व्यक्तिगत सुख की प्राप्ति के साधन जुटाने मे समर्थ होनेवाले योग्य समझे गए। प्रकृति के नियमानुसार जीवित रहने का अधिकार भी उन्ही के लिए माना गया। जो गरीब हो, जो मनमाने सुख की प्राप्ति न कर सकते हो, वे स्पष्टत अयोग्य थे और इनके मिट जाने में ही विकास की क्रिया सम्पादित होती समझी गयी। लोकतंत्र की सार्थकता भी इसी मे मान लेना उचित समझा गया कि वह उस वर्ग के अधिक से अधिक लोगो का अधिक से अधिक हित सम्पादन करे जो सबल और योग्य है क्योंकि उन्हीं को टिकने का अधिकार है वे ही टिकनेवाले है। इस प्रकार लोकतन्त्र वर्गहित का साधक बना। जब जीवन की यह कल्पना हो गई हो, जब इसका चरम लक्ष्य सुखवाद पर आश्रित हो, जब सुख की कल्पना ऐहिक वासनाओं की तृप्ति मे समाविष्ट हो, जब उस तृप्ति के लिए संघर्ष

प्रकृति का विधान दिखाई देता हो, जब जो विजयी हो उनके टिकने मे और जो असफल हो उनके लोप में सृष्टि का अभीष्ट सिद्ध होता हो और जब विज्ञान संघर्ष के लिए अपरिमित तथा अभिनव साधन प्रस्तुत कर रहा हो उस समय वैसी स्थिति, समस्या तथा विधि-विधान का उत्पन्न होना स्वाभाविक था जो जगत् के सामने गत दो दशकों में उत्पन्न हो गया था।

गाँधी की नैतिक दृष्टि सर्वथा यूरोप की उस भौतिक दृष्टि से भिन्न है जिस पर यूरोप का सारा सांस्कृतिक जीवन आश्रित है। वह जीवन के प्रति मनुष्य की सारी कल्पना और दृष्टि को तथा सुख-सम्बन्धी उसकी धारणा को आमूल परिवर्तित कर देना आवश्यक समझता है कि मनुष्य को ऐहिक सुख के भौतिक धरातल से ऊँचा उठाए बिना वह स्थिति आ ही नहीं सकती जिसमे विश्व-शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग तथा मनुष्य की स्वतत्रता और समता की स्थापना हो सके। वह समझता है कि मनुष्य को विकास के उस स्तर की ओर ले जाए बिना जगत् की समस्या हल नहीं हो सकती जहाँ पहुँचकर मनुष्य दूसरे के सुख और अधिकार की पूर्ति मे अपने लक्ष्य और कर्त्तव्य की पूर्ति देखे। संक्षेप में गाँधी उस व्यक्तिवाद की कल्पना करता है जो व्यक्ति के जीवन का उद्देश्य अहं की परिधि को मिटा कर समष्टि मे लय हो जाना निर्धारित करता है। व्यक्ति के जीवन का, उसके अन्तर का विकास उसी दिशा की ओर हो और उसका व्यक्तित्व उसी लक्ष्य की ओर उन्मुख हो। स्पष्ट है कि यह उद्देश्य एकमात्र भौतिक दृष्टि से सिद्ध नही हो सकता। भौतिक दृष्टि रहेगी तो कभी प्रभुता की पिपासा और कभी शक्ति, कभी आर्थिक हित, कभी जातिगत श्रेष्ठता और कभी अहंकार के भावों का प्रभाव मनुष्य के कार्यों पर छाया रहेगा। जब तक मनुष्य का यह स्वरूप है तब तक व्यवस्थाएँ कुछ भी करने मे समर्थ न होगी फिर उनका संघटन चाहे जो कहकर क्यों न किया जाय। गाँधी जी, विश्वशान्ति हो या विश्वसंघ की कल्पना, मनुष्य की समता हो अथवा उसकी स्वतन्त्रता का प्रश्न, सभी को नैतिक आदर्श मानते हैं और यह कहते हैं कि यदि उनकी

उपलब्धि मानव जाति को अभीष्ट है तो उसका पथ भी नैतिक ही हो सकता है।

इन तात्विक तथ्यों की उपेक्षा करके जगत् की समस्या का स्थायी सुलझाव सम्भव ही नहीं है। मनुष्य की अन्तश्चेतना का स्पर्श किए बिना, और उसे सत्पथ की ओर अग्रसर किए बिना, उसके नैतिक भावों को जाग्रत किए बिना मनुष्य को मनुष्य बनाना सम्भव न होगा और जब तक यह न होगा तब तक वह ज्ञान और विज्ञान का, व्यवस्था और विधान का दुरुपयोग करे तो इसमें आश्चर्य नहीं। फलत जगत् की समस्या को यदि हल करना है तो मनुष्य के बाहर और भीतर को, उसके आदर्श और व्यवहार को, उसकी इच्छा और क्रिया को वह दिशा प्रदान करनी होगी, जो गाँधी के शब्दों मे उस ओर ले जाती है जहाँ "प्रेम और विधान एक हों"। गाँधी जी ठीक इसी लक्ष्य का भेदन करने की चेष्टा कर रहे हैं। इसी लिए वह मनुष्य को अपने अधिकार की अपेक्षा अपने कर्त्तव्य की पूर्ति की ओर ध्यान देनेके लिए उत्तेजित करते रहे हैं। उनकी यह विशेषता है कि वे सदा कर्तव्य पर ही अधिक जोर देते है और कहते हैं कि कर्त्तव्य की पूर्ति करो अधिकार स्वयम् ही उसका अनुगमन करेगा। अधिकार मे भावना अहम् की है। अधिकार की बात करते ही मनुष्य अपने को प्रामुख्य प्रदान करता है। पर कर्तव्य मे मूलत भाव उत्सर्ग का है। कर्त्तव्य की कल्पना दूसरे के लिए, उसके हित की चिन्ता को लेकर उदीयमान होती है। दूसरे की चिन्ता करते ही मनुष्य अपने अहम् के बन्धन को ढीला करता है। इस भाव के जागरण मे गाँधी व्यक्ति और समाज को उस नैतिकता की ओर अग्रसर करने का उपाय देखता है जिसमे सारी व्यवस्था और विधान का आधार प्रेम हो सकेगा।

खेद है कि यूरोप के विचारकवृन्द का बुद्धि-कपाट अभी इतना अनावृत नहीं हुआ है कि इस प्रकाश को अपने आभ्यन्तर मे प्रवेश करने दे। इसका एक प्रमाण अभी कुछ वर्ष पूर्व मिला है। श्री एच० जी वेल्स ब्रिटेन के प्रसिद्ध विद्वान्, लेखक और विचारक हैं जिनसे जगत् का शिक्षित

समुदाय भली भाँति परिचित है। आपने "नव विश्व का प्रदर्शन" नामक अपनी छोटी सी पुस्तिका मे "भावी विश्व-विद्रोह के लिए कुछ "परामर्श और पथ" उपस्थित करने का दावा किया है। एक स्थान पर आप लिखते है "गतवर्ष मैंने मानवाधिकार की घोषणा कर देने के सम्बन्ध मे प्रारम्भ हुए विवाद में भाग लिया था। सांके घोषणा के नाम से इसकी योजना प्रकाशित की गई। महात्मा गाँधी के पास भी इस विवाद मे भाग लेने के लिए अपील भेजी गई। गाँधीजी ने जो उत्तर दिया वह उनके अहंकार का ज्वलन्त उदाहरण था। वह विश्वास करते है कि हम लोगों की अपेक्षा वे कहीं अधिक अच्छा मसविदा घोषणापत्र के रूप मे तय्यार कर सकते हैं। हम इसे मान लेते है। पर इसके बाद गाँधी जी लिखते है इस घोषणापत्र से लाभ क्या होगा ? कौन इस घोषणा का संरक्षक बनेगा ? यदि आपने केवल प्रचार करने तथा लोगों को समझाने-बुझाने का मार्ग सोच रखा है तो मैं कहूँगा कि आपने गलत दिशा से काम आरंभ किया है। कृपा कर मनुष्य के कर्तव्यो की घोषणा से प्रारम्भ कीजिए और मैं विश्वास दिलाता हूँ कि अधिकार उसी प्रकार अनुगमन करेगा जैसे जाडे के बाद वसन्त का आगमन होता है।"

गाँधी जी का यह उत्तर न केवल वेल्स महोदय की समझ में नहीं आया प्रस्तुत क्षुब्ध होकर उन्होंने शील का भी परित्याग कर दिया।

गाँधीजी के उत्तर पर आप क्रुद्ध होकर लिखते हैं "मूर्खता के इस प्रदर्शन पर किसी को भी आश्चर्य होगा। दूसरे के अधिकारो की व्याख्या कर देना ही अपने कर्तव्य की व्याख्या करने का एक मात्र निश्चित मार्ग है। स्पष्ट है कि गाँधी किसी विश्व-विद्रोह की धारा में अपने को निमज्जित कर देने के लिए तैयार नहीं है। यद्यपि कुछ अमेरिकन इस महात्मा को महत्व देते हैं पर हमें आज यह समझ लेना है कि थोड़ी मूर्खता प्रदर्शित कर देने के सिवा उसका न कोई मूल्य है और न आज के विश्व-विद्रोही को उसमें कोई दिलचस्पी हो सकती है। वह जब चाहे हमारे द्वार पर उपवास करके अपना प्राण दे सकता है। हम उसके इस अधि-

कार की रक्षा करेंगे यद्यपि उससे हमारे चलने फिरने के अधिकार में बाधा पड़ती है। उसका सहयोग तथा सारी विचारधारा उस विचारक्षेत्र से सम्बद्ध है जो आज की दुनिया के लिए पूर्णतः निकम्मी और पुरानी हो चुका है।

नम्रतापूर्वक वेल्स महोदय से कहा जा सकता है कि बुद्धि का परित्याग करके गाली बकने मे जो मूर्खता प्रदर्शित होती है वह उस मूर्खता से कही अधिक है जिसका प्रदर्शन वे गांधीजी के उत्तर मे देख रहे हैं। श्री वेल्स वास्तव मे उन काल्पनिक पण्डितो की परम्परा के मानस पुत्र हैं जो अपनी बुद्धि के दम्भ मे वास्तविकता से सदा दूर रहे हैं। यदि प्रलाप, तर्क और वितण्डामात्र से विश्व-विद्रोह चरितार्थ हो सकता तो अब तक कभी का हो गया होता। वह यह नहीं समझ सके कि अपने अधिकार की घोषणामात्र से अपने कर्तव्य की पूर्ति नहीं हो जाती। वे यह भी न समझ सके कि दूसरे के अधिकार की घोषणामात्र से न उसके अधिकार स्थापित हो जाते हैं और न उसकी रक्षा हो पाती है। अधिकारो की ऐसी घोषणाएँ इतिहास मे अनेक बार की जा चुकी हैं। श्री वेल्स जिस देश के रत्न है उसकी पताका को अपने देश की भूमि से उखाड़कर अतलान्तक के अतलतल मे डूबो देने वाले अमेरिकन विद्रोहियो ने बहुत पहले मानवाधिकार की एक दो घोषणा कर दी थी। पर क्या आज उसी अमेरिका मे मनुष्य के अधिकार सुरक्षित है? फ्रास की राज्य क्रांति ने स्वतन्त्रता, समता और न्याय का डंका पीटते हुए जिन आदर्शो की स्थापना यूरोप की भूमि पर की थी वे क्या आज वहाँ सुरक्षित है? गत महायुद्धके बाद मित्र राष्ट्रो ने पृथ्वी की समस्त जातियो के लिए जिन अधिकारो और सिद्धांतो की घोषणा की थी वे क्या कार्यान्वित किए गए? वेल्स महाशय को क्या यह देख कर कभी क्रोध आता है कि उनका देश एक नहीं अनेक बार भारत के अधिकार की घोषणा करके भी स्वयम् उसे सदा हड़प जाने मे समर्थ हुआ है? अभी इसी युद्ध के बीच में बड़े धूम-धड़ाके से ब्रिटिश और अमेरिकन विधाताओ ने मिलकर अत-

सान्तक घोषणा की है पर एशिया और अफ्रीका की उन अभागी कौमो के लिए जो ब्रिटिश-चरणो के अधीन हैं उसका क्या अर्थ है इसका पता भी वेल्स महाशय को होगा ही, फिर सड़ी हुई साके-घोषणा मे, जिसके पीछे न कोई शक्ति है और न भाव, एक बार पुनः मानवाधिकार की व्याख्या मे क्या विश्व-विद्रोह और मानवाधिकार की रक्षा सम्पन्न हो जायगी ? यदि नहीं तो फिर आप कैसे समझते है कि घोषणा कर देने से ही कर्तव्य की व्याख्या हो जाती हैं। यह भ्रान्ति ही उत्तरदायी है उन तमाम असफलताओ के लिए जो आज जगत् के सिर पर पडी हुई है।

क्षण भर के लिए प्रश्न की गहराई मे उतर कर विचार कीजिए। अधिकार और कर्तव्य की शृङ्खला बनती कैसे है ? मनुष्य प्रकृत्या अहम् पूजक है और अपनी तृप्ति चाहता है पर वह सामाजिक प्राणी भी है। समाज के बिना उसकी अहम् तृप्ति भी सम्भव नहीं होती। फलतः मनुष्य की अहम्-भावना और सामाजिकता मे सामञ्जस्य स्थापित होता है अधिकार और कर्तव्य की शृङ्खला से। मनुष्य जो दूसरो से चाहता है, दूसरे से उसे जो पाना है और दूसरे से अपने प्रति वह जो कराना चाहता है वही उसका अधिकार होता है और दूसरे के प्रति उसे जो करना है, दूसरे को उससे जो पाना है वह उसका कर्तव्य हो जाता है। स्पष्ट है कि अधिकार की कल्पना में मनुष्य का अहम् प्रमुख है और कर्तव्य की भावना मे दूसरे के प्रति अहम् का विसर्जन मुख्य है। साधारणत. अहम्वादी होने के कारण मनुष्य अपने अधिकारो पर और दूसरो के कर्तव्यों पर ध्यान देता है परन्तु अपने कर्तव्य की उपेक्षा सरलता के साथ कर देता है। यह प्रवृत्ति ही संघर्ष और अशान्ति की जननी होती है।

यदि आप अधिकार को ही प्रामुख्य प्रदान करते हैं तो अहम्वादी मानव को, जो प्रकृत्या अपने अधिकारो पर ही दृष्टि रखने की ओर अभिमुख रहता है, कर्तव्य की भावना को अधिकाधिक उपेक्षित करने के लिये अग्रसर करते हैं। परिणाम यह होता है कि किसी के अधिकार सुरक्षित

नहीं रह पाते। यह सर्वमान्य है कि कर्तव्य ही अधिकार की रक्षा कर सकते हैं क्योंकि प्रत्येक मनुष्य अपने कर्तव्य का पालन करे तो सबको अपने-अपने अधिकार प्राप्त हो जायँ। फलत आज आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य की दृष्टि को अपने अधिकार की ओर से हटाकर कर्तव्य की ओर प्रेरित किया जाय। यदि एक बार कर्तव्यपालन का भाव जागरित हो जाय तो मनुष्य की अहम्-वृत्ति और अहम्-तृप्ति की भावना का स्थान गौण हो जायगा और दूसरो के प्रति कर्तव्य-पालन का, उसके अधिकार की रक्षा का प्रश्न मुख्य हो जायगा। उस दशा मे कर्तव्य-पालन अपने अधिकार की प्राप्ति के साधन के पद से उठकर स्वयम् लक्ष्य बन जायगा। ऐसी स्थिति मे यह स्पष्ट है कि यदि सबके अधिकार की स्थापना और रक्षा करनी है तो सब की कर्तव्य-बुद्धि को जागरित करना चाहिए। इसी प्रकार आप अहम्वादी मानव को अहम्निष्ठा और पूजा की सीमा से परे ले जा सकेंगे और उसी स्थिति मे समाज की रक्षा हो सकेगी। फलतः मनुष्य के अधिकार की स्थापना और रक्षा करने का उपाय उसके अधिकार की घोषणा करना नही है प्रत्युत प्रत्येक को उसके कर्तव्य का ज्ञान कराना है। अपने अधिकार की ओर से उसकी दृष्टि हटाकर यदि दूसरे के प्रति अपने कर्तव्य पर केन्द्रित की जा सके तो सबके अधिकार की रक्षा स्वयं हो जायगी।

यही कारण है कि गाँधी ने दूसरी दिशा से प्रयत्न करने का अनुरोध किया। उसके अनुरोध का भाव यही है कि लम्बी-लम्बी घोषणाओं और सिद्धान्तो का प्रतिपादन करना छोड कर मनुष्य का आन्तरिक उपचार किया जाय। उसके उस अन्तर का स्पर्श किया जाय जिसके जागरण से ही निराकार घोषणाओं को साकार रूप प्राप्त हो सकता है। वह मानव के अन्तरोपचार के लिए मनोज्ञानिक उपाय पेश करता है क्योंकि उसे अन्तस् की उपेक्षा करने वाले बाह्य पूजक पाश्चात्य विद्वानों की अपेक्षा मानव-प्रकृति और उसके गूढ़रहस्यों की गति का असाधारण ज्ञान कहीं अधिक है। आज आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य इस योग्य

वनाया जाय कि वह आदर्शों और सिद्धान्तो को व्यावहारिक और सक्रिय रूप प्रदान करके अपने कर्त्तव्य का पालन करने की क्षमता प्रदर्शित कर सके। उसमे वह चरित्र, वह कर्मठता तथा आत्मा की वह उत्प्रेरणा उत्पन्न होनी चाहिए जो आदर्श और लक्ष्य की ओर अभिमुख तथा उत्प्रेरित करने मे समर्थ होती है। केवल मौखिक आदर्शवादिता अथवा सिद्धान्तो की घोपणा से तब तक काम नहीं चल सकता जब तक कर्तव्य के पथ मे मनुष्य नैष्ठिक आशा रखने में समर्थ नहीं होता।

गाँधी के पथ और उसकी दृष्टि को न समझ सकने वाले उसका उसहास करते हैं पर मै नम्रतापूर्वक निवेदन करता हूँ कि वे कृपाकर अपनी ओर देखने का कष्ट करे। वे देखे कि उनकी सारी प्रक्रिया, प्रणाली और प्रयोग क्या जगत् के लिए अभिशाप नहीं बन गया है? अपनी असफलता पर लज्जित होने की अपेक्षा अभिमान करना उस मिथ्या दम्भ का परिचायक है जो भयावने पतन की ही सूचना देता है। वे स्मरण रखे कि गाँधी का असहयोग नहीं प्रत्युत यूरोप का भावनाशून्य स्वार्थपूर्ण अवसरवाद और उपयोगितावाद निर्जीव हो चुका है जिसके शव पर स्थित सारा सास्कृतिक भवन स्वयमेव विषाभिभूत हो रहा है। यूरोप की असफलता ज्वलन्त है जो मुँह वाए स्वयम् उसे ही निगल जाने के लिए उसी के सिर पर मडरा रही है। गाँधी का सन्देश तो यूरोप ही नहीं समस्त मानव जगत् की मुक्ति, उद्धार और कल्याण के पथ की ओर संकेत कर रहा है। मानव जाति को यदि जीवित रहना है तो उसे आज नहीं तो कल उस पथ का ही अनुगमन करना होगा। उसके सन्देश मे निकम्मापन और पुरातनता वे देखें जिनकी व्यवस्था, विधि और विधान निर्जीव तथा अनुपयोगी सिद्ध हो चुका है, इससे वढ़ कर प्रचण्ड प्रवञ्चन और आत्म-प्रतारण दूसरा क्या हो सकता है? ज्ञात तो ऐसा हो रहा है कि भूतल का भविष्यत् गाँधी के चरणो में सुरक्षित है, वेल्स सदृश विद्वानों के मस्तिष्क में नहीं।

मार्क्सवादी प्रयोग

सत्ताईस वर्षों से अधिक हुआ जब जगत् का दूसरा महान् प्रयोग रूस की भूमि पर आरम्भ हुआ। तब से निरन्तर अबतक वह पद्धति कार्यान्वित हो रही है और सारे जगत् पर अपना प्रभाव डाल रही है। गत महायुद्ध के बाद संसार मे जिस युग का आरम्भ हुआ उसमे रूसी महाक्रान्ति के सर्वतोधिक महती घटना हुई है। फ्राँस की राज्यक्रान्ति यूरोप के जीवन की धारा को एक विशेप दिशा प्रदान करने का कारण हुई थी पर रूसी महाक्रान्ति ने न केवल यूरोप को प्रत्युत समस्त भूमंडल को आमूल प्रभावित किया है। यह क्रान्ति न केवल राजनीतिक क्रान्ति-मात्र रही और न केवल किसी व्यवस्था-विशेप के विरुद्ध तात्कालीन विद्रोह। वह मानव जाति के इतिहास की ऐसी महती घटना है जो अपना अभिनव स्थान रखती है। उसने मनुष्य के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक सङ्गठन को, उसके विचार और उसकी धारणा को, उसकी दृष्टि और कल्पना को, उसकी कला और साहित्य को उसके दर्शन और धर्म को, उसके विधान और व्यवस्था को, संक्षेप मे उसके सारे जीवन को सामूहिक और मौलिक रूप से स्पर्श किया है।

सन् १९१७ ई० के नवम्बर मे जगत् के इतिहास की धारा को प्रभावित करने वाला यह विद्रोह सफलता के साथ सम्पन्न हो गया। इसके बाद रूस में जो हुआ वह आधुनिक इतिहास की सर्व श्रेष्ठ महत्वपूर्ण घटना है। नवम्बर की रूसी क्रान्ति किसी साधारण राजनीतिक उद्देश्य को लेकर नहीं हुई थी। वह विद्रोह हुआ था उस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए जिसकी स्थापना मार्क्सवाद करता है। मार्क्सवाद केवल राजनीतिक अथवा आर्थिक सिद्धान्तों का समूह नहीं है। वह एक दृष्टि है जगत्, जीवन और समाज के इतिहास की ओर देखने की। वह मानव-

समाज के सुदूर भविष्यत् के प्रदेश में प्रवेश करने की चेष्टा करता है और उस विन्दु की ओर संकेत करता है, जहाँ उसकी दृष्टि मे इतिहास की धारा मानव-समाज को अनिवार्यतः और बलात् लिए जा रही है। मार्क्सवाद यह समझता है कि मनुष्य अपने प्रयत्न से ऐतिहासिक प्रवाह की गति को तीव्रता और वेग प्रदान कर सकता है, भविष्यत् को प्रभावित कर सकता है, और इस प्रकार समाज को उस बिन्दु तक शीघ्र पहुँचने मे सहायता प्रदान कर सकता है जहाँ पहुँचना इतिहास ने निर्धारित कर दिया है। मार्क्सवाद उस दिशा की ओर संकेत करता है जिधर बहने का प्रयत्न करना इतिहास की गति के अनुकूल होगा। वह एक आयोजित पद्धति उपस्थित करता है जिसका अवलम्बन करने से मनुष्य उक्त प्रयत्न में सफलता प्राप्त कर सकता है। संक्षेप मे मार्क्सवाद एक आदर्श की ओर संकेत करता है और वहाँ तक पहुँचने के लिए पथ का निर्धारण भी कर देता है।

रूसी राज्यक्रान्ति मार्क्सवाद के उसी आदर्श को सामने रख कर हुई थी। क्रान्ति के द्वारा लेनिन के समान मार्क्सवादी ने उस सारी पद्धति को कार्यान्वित करने का उपयुक्त अवसर प्राप्त करना चाहा जिसके सफल प्रयोग मे मार्क्सवादी आदर्श की उपलब्धि सम्भव थी। गत २५ वर्षों से रूसी-बोल्शेविक रूस में और रूस के द्वारा सारे जगत् मे उसी पद्धति का प्रयोग करने की चेष्टा कर रहे हैं। आज हम यह देखना चाहते कि मार्क्सवाद जो आदर्श स्थापित करता है वह क्या है? उस आदर्श तक पहुँचने के लिये उसने जिस पद्धति के अवलम्बन का प्रतिपादन किया है वह क्या है और वह पद्धति लक्ष्य की पूर्ति में, सफलता प्रदान करने में समर्थ है अथवा नहीं? इन प्रश्नो की विवेचना उसी समय सम्भव है जब यह समझ लिया जाय कि मार्क्सवाद है क्या? फलतः उसकी संक्षेप रूपरेखा अंकित कर देना आवश्यक है।

मार्क्सवाद वैज्ञानिक समाजवाद के नाम से प्रसिद्ध हैं। समाजवादी विचारों के उदय और विकास का अपना अलग इतिहास है। उस इति-

हास की विवेचना मे पड़ने का स्थान यहाँ नहीं है पर इतना कह सकते है कि मार्क्स के पहले ही समाजवादी विचारो का उदय पश्चिमी यूरोप मे हो गया था। समाजवाद पूँजीवाद का प्रतिवाद है। उसकी उत्पत्ति पूँजीवादी व्यवस्था की प्रति-क्रिया और प्रत्युत्तर के रूप मे हुई है। फलत आधुनिक पूँजीवाद का विकास जैसे-जैसे होता गया वैसे-वैसे किसी न किसी रूप मे समाजवादी विचारो का विस्तार भी फैलता गया। १९ वी शती के प्रथम चरण मे इङ्गलैड और पश्चिमी यूरोप के देशो मे यान्त्रिक उत्पादन की प्रणाली और उस पर स्थापित पूँजीवाद अपनी चरमावस्था की ओर तेजी के साथ वढ़ चला था। इस यान्त्रिक उत्पादन की पद्धति से सारा सामाजिक जीवन आपादमस्तक प्रभावित हो चला था। वड़े बड़े कलकारखानो ने जहाँ एक ओर प्रचण्ड पूँजीपति वर्ग को जन्म प्रदान किया था वहीं गाँवो से निकल कर कारखानो मे मजदूरी कर के लिये आकर्षित हुए विशाल मजदूर वर्गका प्रजनन भी कर दिया था। उत्पादन की महती-प्रक्रिया मे यद्यपि मजदूरों का हाथ मुख्य था तथापि उनकी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थिति सवसे अधिक दयनीय और घृणित थी। वे पीड़ित थे, शोषित थे और पशुओ की भाति जीवनयापन करने के लिए वाध्य किए जाते थे। और महिलाएँ बच्चे तक अत्यधिक समय तक काम करने के लिए बाध्य किए जाते थे। इतना परिश्रम करने पर भी मजदूरों को न पर्याप्त मजदूरी मिलती थी, न मजदूरो का कोई अधिकार था और नउनकी सुविधा और सुख की ओर दृष्टिपात करने की आवश्यकता समझी जाती थी। सन् १८२५ ई० तक स्वयम् इङ्गलैण्ड मे मजदूरो को अपना सङ्घटन तक करने का अधिकार नहीं था। कारखानो मे और उन स्थानो में जिनमें मजदूर वसते थे स्वास्थ्य की दृष्टि से आवश्यक सुधार करने की छोटी से छोटी योजना का विरोध भी पूजीपति वर्गो की ओर से होता था। पार्लामेन्ट के चुनाव मे वोट देने का अधिकार भी मजदूरो को तवतक और उसके बहुत वर्षो वाद तक प्राप्त नहीं था।

ऐसी स्थिति मे एक वर्ग में पूँजीवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया का होना अनिवार्य था। इसी प्रतिक्रिया के गर्भ से समाजवादी विचारो का उदय हुआ। सन् १८३० ई० मे "समाजवाद" शब्द का उच्चारण पहले पहल 'रावर्ट ओवन' नामक अँगरेज ने किया। 'ओवन' इंगलैण्ड के एक मिल-मालिक थे, जो मजदूरो की दयनीय स्थिति देखकर विकल हो उठे थे। 'ओवन' के विचार यह थे कि मजदूरो की सहयोग-समितियाँ स्थापित की जायँ और कल-कारखानो से होने वाले मुनाफे मे उन्हें भी कुछ हिस्सा मिले। उन्होने इंगलैण्ड मे मजदूरो की सुविधा के लिए कुछ आन्दोलन भी किया जिसके फल-स्वरूप ब्रिटिश पार्लमेन्ट को मजदूरों के हित मे कुछ कानून भी बनाना पड़ा। इसी प्रकार जर्मनी फ्राँस आदि देशो में भी समाजवादी विचार फैल चले थे। जैसे-जैसे पूँजीवादी उद्योग-वाद फैला वैसे-वैसे मजदूरो की जमात भी बढ़ी और उनका कष्ट भी बढ़ा। परि-माणत. समाजवादी विचार फैले और उन विचारों से ऐसे लोग जिनके, हृदयों में मानवीय भावनाएँ थीं और जो विचारवान तथा बुद्धिशील थे, प्रभावित हुए। मार्के की वात यह थी कि समाजवादी विचारो का उदय और विकास तथा विस्तार पहले उन लोगों में हुआ जो उच्च वर्ग के थे, जो स्थापित व्यवस्था से लाभ उठाते थे और जिनके हित पूँजीवादी उद्योगवाद मे समाविष्ट थे।

फलत. समाजवाद का रथ आगे बढ़ चला पर उसका कोई एक स्वरूप न था। ब्रिटिश समाजवादी अथवा जर्मनी और फ्रांस के समाज-वादी पूँजीवादी व्यवस्था से उत्पन्न समस्या का हल उपस्थित कर रहे थे पर सब के उपचार की रूपरेखा एक ही न थी। इस बात में तो प्राय-सभी सहमत थे कि सारे अनर्थ की जड़ वह व्यवस्था है जिसमें उत्पा-दन के साधनों का नियन्त्रण कुछ के हाथों मे व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में हो जाता है। इस वात में भी प्राय: सब एक मत थे कि उत्पादन के साधनों का समाजीकरण करके उन्हें सरकार के नियन्त्रण मे रहने देना एकमात्र हल हो सकता है वर्तमान समस्या का। स्थूलरूप से सिद्धान्तों

हास की विवेचना मे पड़ने का स्थान यहाँ नहीं है पर इतना कह सकते है कि मार्क्स के पहले ही समाजवादी विचारो का उदय पश्चिमी यूरोप मे हो गया था। समाजवाद पूँजीवाद का प्रतिवाद है। उसकी उत्पत्ति पूँजीवादी व्यवस्था की प्रति-क्रिया और प्रत्युत्तर के रूप मे हुई है। फलत आधुनिक पूँजीवाद का विकास जैसे-जैसे होता गया वैसे-वैसे किसी न किसी रूप मे समाजवादी विचारो का विस्तार भी फैलता गया। १९ वीं शती के प्रथम चरण मे इङ्गलैंड और पश्चिमी यूरोप के देशो मे यान्त्रिक उत्पादन की प्रणाली और उस पर स्थापित पूँजीवाद अपनी चरमावस्था की ओर तेजी के साथ वढ़ चला था। इस यान्त्रिक उत्पादन की पद्धति से सारा सामाजिक जीवन आपादमस्तक प्रभावित हो चला था। बड़े बड़े कलकारखानो ने जहाँ एक ओर प्रचण्ड पूँजीपति वर्ग को जन्म प्रदान किया था वहीं गाँवो से निकल कर कारखानो मे मजदूरी कर के लिये आकर्षित हुए विशाल मजदूर वर्गका प्रजनन भी कर दिया था। उत्पादन की महती-प्रक्रिया मे यद्यपि मजदूरो का हाथ मुख्य था तथापि उनकी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थिति सबसे अधिक दयनीय और घृणित थी। वे पीड़ित थे, शोपित थे और पशुओ की भाति जीवनयापन करने के लिए बाध्य किए जाते थे। और महिलाएँ बच्चे तक अत्यधिक समय तक काम करने के लिए बाध्य किए जाते थे। इतना परिश्रम करने पर भी मजदूरों को न पर्याप्त मजदूरी मिलती थी, न मजदूरो का कोई अधिकार था और नउनकी सुविधा और सुख की ओर दृष्टिपात करने की आवश्यकता समझी जाती थी। सन् १८२५ ई० तक स्वयम् इङ्गलैण्ड मे मजदूरो को अपना सङ्गटन तक करने का अधिकार नहीं था। कारखानो मे और उन स्थानो में जिनमे मजदूर वसते थे स्वास्थ्य की दृष्टि से आवश्यक सुधार करने की छोटी से छोटी योजना का विरोध भी पूजीपति वर्गो की ओर से होता था। पार्लीमेन्ट के चुनाव मे वोट देने का अधिकार भी मजदूरो को तवतक और उसके बहुत वर्षो वाद तक प्राप्त नहीं था।

ऐसी स्थिति में एक वर्ग में पूँजीवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया का होना अनिवार्य था। इसी प्रतिक्रिया के गर्भ से समाजवादी विचारो का उदय हुआ। सन् १८३० ई० मे "समाजवाद" शब्द का उच्चारण पहले पहल 'रावर्ट ओवन' नामक अँगरेज ने किया। 'ओवन' इंगलैण्ड के एक मिल-मालिक थे, जो मजदूरों की दयनीय स्थिति देखकर विकल हो उठे थे। 'ओवन' के विचार यह थे कि मजदूरो की सहयोग-समितियाँ स्थापित की जायँ और कल-कारखानों से होने वाले मुनाफे मे उन्हें भी कुछ हिस्सा मिले। उन्होने इगलैण्ड मे मजदूरों की सुविधा के लिए कुछ आन्दोलन भी किया जिसके फल-स्वरूप ब्रिटिश पार्लीमेन्ट को मजदूरो के हित मे कुछ कानून भी बनाना पड़ा। इसी प्रकार जर्मनी फ्रॉस आदि देशो मे भी समाजवादी विचार फैल चले थे। जैसे-जैसे पूँजीवादी उद्योग-वाद फैला वैसे-वैसे मजदूरो की जमात भी बढ़ी और उनका कष्ट भी बढ़ा। परिणामत. समाजवादी विचार फैले और उन विचारों से ऐसे लोग जिनके, हृदयो मे मानवीय भावनाएँ थीं और जो विचारवान तथा बुद्धिशील थे, प्रभावित हुए। मार्के की बात यह थी कि समाजवादी विचारो का उदय और विकास तथा विस्तार पहले उन लोगों में हुआ जो उच्च वर्ग के थे, जो स्थापित व्यवस्था से लाभ उठाते थे और जिनके हित पूँजीवादी उद्योगवाद मे समाविष्ट थे।

फलतः समाजवाद का रथ आगे बढ़ चला पर उसका कोई एक स्वरूप न था। ब्रिटिश समाजवादी अथवा जर्मनी और फ्रास के समाजवादी पूँजीवादी व्यवस्था से उत्पन्न समस्या का हल उपस्थित कर रहे थे पर सब के उपचार की रूपरेखा एक ही न थी। इस बात मे तो प्रायसभी सहमत थे कि सारे अनर्थ की जड़ वह व्यवस्था है जिसमे उत्पादन के साधनों का नियन्त्रण कुछ के हाथो में व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में हो जाता है। इस बात में भी प्रायः सब एक मत थे कि उत्पादन के साधनों का समाजीकरण करके उन्हें सरकार के नियन्त्रण में रहने देना एकमात्र हल हो सकता है वर्तमान समस्या का। स्थूलरूप से लि

में इतनी एकता होते हुए भी विभिन्न देशों के समाजवादियो की दृष्टि और कार्य-पद्धति में भेद था। विभिन्न देशो की स्थिति भिन्न-भिन्न थी, आवश्यकताएँ भिन्न-भिन्न थीं फलत-विचार भी भिन्न-भिन्न थे। पर एक समय ऐसा आया जब समाजवाद ने मार्क्स के रूप मे प्रतिभाशील, दूरदर्शी, वैज्ञानिक और विचारक नेता पाया। मार्क्स ने हवाई और निराकार समाजवाद को ठोस आकार प्रदान किया। उन्होने उसे भावुकता के क्षेत्र से निकाल कर वस्तुस्थिति, तर्क और वैज्ञानिक विवेचना के आधार पर स्थापित किया। उन्होने उसे कार्यरूप मे परिणत करने के लिए पद्धति प्रदान की ओर उस लक्ष्य-विन्दु की स्थापना की जहाँ पहुँचना समाजवाद का उद्देश्य हो सकता था। उनका यह वैज्ञानिक समाजवाद इतना ठोस, प्रभावकर और तर्क-सम्मत था कि उसने सारे जगत् को प्रभावित किया। मार्क्स की विचारधारा ने मानव समाज के विचारो मे वैसी ही क्रान्ति कर दी जैसी डार्विन के विकासवाद ने उपस्थित कर दी थी। तब से 'मार्क्सवाद' समाजवादी विचारों, कल्पनाओ और पद्धतियों, का आधार बन गया है। इसी मार्क्सवाद का व्यावहारिक प्रयोग रूस में आरम्भ हुआ।

मार्क्सवाद की पद्धति, उसके लक्ष्य और दृष्टि को समझने के लिये यह आवश्यक है कि उसके स्वरूप की संक्षिप्त रूपरेखा उपस्थित कर दी जाय। पूर्व के पृष्ठ में कह चुका हूँ कि 'मार्क्सवाद' जीवन और जगत्, समाज और इतिहास को देखने की एक दृष्टि है। उसका उद्भव यद्यपि 'पूँजीवाद' की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ तथापि मार्क्स की प्रतिभा ने उसे विशुद्ध तर्क और सुदृढ़ वैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित रूप मे जगत् के सामने उपस्थित किया। उन्होने यह सिद्ध किया कि पूँजीवाद न कोई स्वयंभू, आकस्मिक घटना है और न व्यक्तियों अथवा वर्गों की बुरी करनी तथा उनके रोष का परिणाम है। उन्होने यह दिखलाया कि पूँजीवाद का उदय अनिवार्य और निश्चित घटना थी जो महत्व ऐतिहासिक प्रक्रिया के परिणाम के स्वरूप घटित हुई है। उसके

दन की प्रक्रियामें मनुष्य जैसे प्रकृति के सम्पर्क में आता है, उससे अपना सम्बन्ध स्थापित करता है वैसे ही वह दूसरे मनुष्य के सम्पर्क में भी आता है और सम्बन्ध स्थापित करता है। उत्पन्न पदार्थों का उपभोग और वितरण करने मे पारस्परिक सम्बन्ध होता है और इसी से सामाजिक जीवन निर्मित होता है।

मनुष्य जाति के सारे ऐतिहासिक युग में समय-समय पर जो भी समाज और सामाजिक व्यवस्था प्रस्तुत हुई वह सब आश्रित रही है इस बात पर कि कौन से पदार्थों की उत्पत्ति होती है, उत्पादन कैसे किया जाता है और उत्पन्न पदार्थों का विनिमय किस प्रकार होता है? इस आर्थिक आधार पर ही समाज मे साम्पत्तिक वितरण होता है, वर्गों का वर्गीकरण और भेद उत्पन्न होता है तथा सामाजिक विधान, कानून, रीति-रिवाज और अर्थनीति बन जाती है। मार्क्स के इस मत के अनुसार जब उत्पादन के प्रकार और विनिमय की प्रचलित पद्धति मे अलक्ष्य रूप से परिवर्तन हो जाते हैं तो उनके आधार पर सङ्गटित सामाजिक व्यवस्था नई परिस्थिति के अनुकूल नहीं रह जाती। मानव समाज का इतिहास यह सिद्ध करता है कि उत्पादन के प्रकार और विनिमय की पद्धति मे तो समय-समय पर आवश्यकताओं और परिस्थितियों के अनु-

जिन दोषो अथवा विकारों की अनुभूति आज हम करते हैं उसके लिये वस्तुतः न कोई व्यक्ति उत्तरदायी है न कोई वर्ग। महान् ऐतिहासिक प्रवाह मे व्यक्ति अथवा वर्ग का कोई महत्त्व नहीं है। वह तो निर्मित है परिस्थितियो से और इतिहास की प्रक्रिया से व्यक्ति अथवा समूह निमित्त बनकर ऐतिहासिक लक्ष्य की पूर्ति करने के लिये बाध्य है। फलत जो होता है, या जो हो रहा है उसके लिए न कोई व्यक्ति या समूह दोषी है और न उत्पन्न समस्याओ का हल इस दृष्टि को सामने रखकर उचित प्रकार से उपस्थित किया जा सकता है। यदि हल ढूँढ़ना है तो इतिहास की गति का अध्ययन करना होगा और जहाँ वह प्रवाह जगत् को लिये जा रहा है उसे समझना होगा। उसी दशा मे उस प्रवाह के अनुकूल मार्ग स्थिर किया जा सकेगा।

मार्क्स ने वैज्ञानिक की विशुद्ध दृष्टि से इतिहास का अध्ययन किया जिसके फलस्वरूप उनकी दृष्टि मे इतिहास का निश्चित, निर्धारित और अविरल प्रवाह भास गया। उन्होंने देखा कि सदा से मानव-समाज का सारा सामाजिक भवन और व्यक्तिगत जीवन, उत्पादन के प्रकार के आधार पर निर्मित होता रहा है। मनुष्य अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये और जीवनयापन तथा जीवनरक्षा के लिये अति आरम्भिक काल से प्रकृति तथा सजात मनुष्य से सङ्घर्ष करता आया है। जिन पदार्थों की आवश्यकता का अनुभव वह करता है उनकी उपलब्धिके लिये सचेष्ट होना अनिवार्य होता है। उपलब्धि के लिये उसे तरह-तरह के उपाय करने पड़ते हैं। जीवन-रक्षा के लिये उसे पदार्थों का उत्पादन करना पड़ता है। इस प्रकार जिन साधनो और जिन उपायो से वह उत्पादन करता है और उत्पन्न पदार्थों का वितरण और उपभोग जिस ढंग से करता है उसी पर सदा सब युग मे समाज सङ्घटित होता रहा है। समाज मे मनुष्य का मनुष्य से, व्यक्ति का व्यक्ति से जो सम्बन्ध होता है वही सामाजिक जीवन की शृङ्खला होती है। पर यह पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित क्यो और कैसे होता है। मार्क्स के कथनानुसार उत्पा-

दन की प्रक्रियामें मनुष्य जैसे प्रकृति के सम्पर्क में आता है, उससे अपना सम्बन्ध स्थापित करता है वैसे ही वह दूसरे मनुष्य के सम्पर्क में भी आता है और सम्बन्ध स्थापित करता है। उत्पन्न पदार्थों का उपभोग और वितरण करने मे पारस्परिक सम्बन्ध होता है और इसी से सामाजिक जीवन निर्मित होता है।

मनुष्य जाति के सारे ऐतिहासिक युग मे समय-समय पर जो भी समाज और सामाजिक व्यवस्था प्रस्तुत हुई वह सब आश्रित रही है इस बात पर कि कौन से पदार्थों की उत्पत्ति होती है, उत्पादन कैसे किया जाता है और उत्पन्न पदार्थों का विनिमय किस प्रकार होता है? इस आर्थिक आधार पर ही समाज मे साम्पत्तिक वितरण होता है, वर्गों का वर्गीकरण और भेद उत्पन्न होता है तथा सामाजिक विधान, कानून, रीति-रिवाज और अर्थनीति बन जाती है। मार्क्स के इस मत के अनुसार जब उत्पादन के प्रकार और विनिमय की प्रचलित पद्धति मे अलक्ष्य रूप से परिवर्तन हो जाते हैं तो उनके आधार पर सङ्गठित सामाजिक व्यवस्था नई परिस्थिति के अनुकूल नहीं रह जाती। मानव समाज का इतिहास यह सिद्ध करता है कि उत्पादन के प्रकार और विनिमय की पद्धति में तो समय-समय पर आवश्यकताओ और परिस्थितियो के अनुसार परिवर्तन होता ही रहता है। एक समय था जब मनुष्य पशुपालन किया करता था और चारागाहो की खोज मे घूमा करता था। समय आया जब उसे कृषि की कला ज्ञात हुई। उत्पादन की इन नई पद्धति ने महान् परिवर्तन किए। पर्यटक मानव स्थिर हुआ; गाँवो का निर्माण करना आवश्यक हुआ और ग्रामीण समाज की स्थापना हो चली। खेती के कारण मनुष्य को सम्पत्ति मिली, विश्राम मिला, उसकी जन-संख्या बढ़ चली, सामाजिक जीवन ने विशेष ढंग पकड़ा और धीरे-धीरे उसकी आवश्यकताएँ बढ़ने लगीं। आवश्यकताओ की दृष्टि से उत्पादन के नए तरीकों का जन्म हुआ। वस्त्रादिक के निर्माण के लिये अथवा खेती करने के औजारो के लिये कारीगरो की उत्पत्ति हो गई और नए वर्ग

पैदा हुए। विनिमय की नई पद्धति भी पैदा हो गई सामानो की बिक्री खरीद के लिये हाट और हाट के आस-पास बसने से छोटे से छोटे कस्बो और नगरो का निर्माण हो चला। उत्पादन की इस पद्धति ने स्पष्टत: सामाजिक जीवन मे गहरा परिवर्तन कर दिया। तात्पर्य यह कि उत्पादन पद्धति मे परिवर्तन होता है, विनिमय का ढंग बदलता है और फलस्वरूप समाज के स्वरूप मे परिवर्तन हो जाता है।

समाज के स्वरूप मे हुए परिवर्तन के अनुकूल मनुष्य का मनुष्य से सबन्ध स्थापित हो जाता है। इस प्रकार आरम्भ से ही मनुष्य और पदार्थ का मौलिक संबन्ध तो रहता ही है मनुष्य का मनुष्य से संबन्ध भी उसी के द्वारा स्थापित हो जाता है। जब उत्पादन के प्रकार मे परिवर्तन हो जाता है और समाज का स्वरूप बदल जाता है तो स्वभावत: वह सामाजिक सघटन, विधान और व्यवस्था जो पुराने सम्बन्धो पर स्थापित रहती है अनुपयोगी और निकम्मी हो जाती है। समाज इस प्रतिकूलता से पीड़ित होने लगता है। जो व्यवस्था मनुष्य को आज उचित और न्याय-सम्मत दिखाई देती थी वही कल अनुचित और अन्यायपूर्ण ज्ञात होने लगती है। धारणाओं के इस परिवर्तन के कारण समाज के सघटन मे समय-समय पर परिवर्तन होते है। मार्क्स की दृष्टि में राजनीतिक और सामाजिक क्रान्तियो का मौलिक रहस्य यही है। उनका कारण न मनुष्य की बुद्धि है और न किसी सनातन सत्य और न्याय-भावना के प्रति उसकी आन्तरिक चेतना का प्रेम। उसका कारण अन्तत उत्पादन और विनिमय की पद्धति तथा प्रकार मे होनेवाला परिवर्तन होता है, जो युग-युग मे आर्थिक संघटन का निर्माण करता रहा है। आर्थिक सघटन के आधार पर ही समाज स्थित होता है और उसका सास्कृतिक जीवन हो अथवा नैतिक, धार्मिक धारणा हो अथवा राजनीतिक, तथा वैधानिक सङ्घटन हो या शासन-व्यवस्था सब परिणाम और प्रतिच्छाया है उस आर्थिक सघटन का जिस पर तत्कालीन समाज स्थित रहता है।

दन की प्रक्रियामें मनुष्य जैसे प्रकृति के सम्पर्क में आता है, उससे अपना सम्बन्ध स्थापित करता है वैसे ही वह दूसरे मनुष्य के सम्पर्क में भी आता है और सम्बन्ध स्थापित करता है। उत्पन्न पदार्थों का उपभोग और वितरण करने मे पारस्परिक सम्बन्ध होता है और इसी से सामाजिक जीवन निर्मित होता है।

मनुष्य जाति के सारे ऐतिहासिक युग मे समय-समय पर जो भी समाज और सामाजिक व्यवस्था प्रस्तुत हुई वह सब आश्रित रही है इस बात पर कि कौन से पदार्थों की उत्पत्ति होती है, उत्पादन कैसे किया जाता है और उत्पन्न पदार्थों का विनिमय किस प्रकार होता है? इस आर्थिक आधार पर ही समाज मे साम्पत्तिक वितरण होता है, वर्गों का वर्गीकरण और भेद उत्पन्न होता है तथा सामाजिक विधान, कानून, रीति-रिवाज और अर्थनीति बन जाती है। मार्क्स के इस मत के अनुसार जब उत्पादन के प्रकार और विनिमय की प्रचलित पद्धति मे अलक्ष्य रूप से परिवर्तन हो जाते हैं तो उनके आधार पर सङ्घटित सामाजिक व्यवस्था नई परिस्थिति के अनुकूल नहीं रह जाती। मानव समाज का इतिहास यह सिद्ध करता है कि उत्पादन के प्रकार और विनिमय की पद्धति मे तो समय-समय पर आवश्यकताओं और परिस्थितियो के अनुसार परिवर्तन होता ही रहता है। एक समय था जब मनुष्य पशुपालन किया करता था और चारागाहो की खोज मे घूमा करता था। समय आया जब उसे कृषि की कला ज्ञात हुई। उत्पादन की इन नई पद्धति ने महान् परिवर्तन किए। पर्यटक मानव स्थिर हुआ; गाँवो का निर्माण करना आवश्यक हुआ और ग्रामीण समाज की स्थापना हो चली। खेती के कारण मनुष्य को सम्पत्ति मिली, विश्राम मिला, उसकी जन-संख्या वढ़ चली, सामाजिक जीवन ने विशेष ढंग पकड़ा और धीरे-धीरे उसकी आवश्यकताएँ बढ़ने लगीं। आवश्यकताओं की दृष्टि से उत्पादन के नए तरीकों का जन्म हुआ। वस्त्रादिक के निर्माण के लिये अथवा खेती करने के औजारों के लिये कारीगरो की उत्पत्ति हो गई और नए वर्ग

पैदा हुए। विनिमय की नई पद्धति भी पैदा हो गई सामानो की बिक्री खरीद के लिये हाट और हाट के आस-पास बसने से छोटे से छोटे कस्बों और नगरो का निर्माण हो चला। उत्पादन की इस पद्धति ने स्पष्टत: सामाजिक जीवन मे गहरा परिवर्तन कर दिया। तात्पर्य यह कि उत्पादन पद्धति मे परिवर्तन होता है, विनिमय का ढंग बदलता है और फलस्वरूप समाज के स्वरूप मे परिवर्तन हो जाता है।

समाज के स्वरूप मे हुए परिवर्तन के अनुकूल मनुष्य का मनुष्य से सबन्ध स्थापित हो जाता है। इस प्रकार आरम्भ से ही मनुष्य और पदार्थ का मौलिक संबन्ध तो रहता ही है मनुष्य का मनुष्य से संबन्ध भी उसी के द्वारा स्थापित हो जाता है। जब उत्पादन के प्रकार मे परिवर्तन हो जाता है और समाज का स्वरूप बदल जाता है तो स्वभावत: वह सामाजिक सघटन, विधान और व्यवस्था जो पुराने सम्बन्धों पर स्थापित रहती है अनुपयोगी और निकम्मी हो जाती है। समाज इस प्रतिकूलता से पीड़ित होने लगता है। जो व्यवस्था मनुष्य को आज उचित और न्याय-सम्मत दिखाई देती थी वही कल अनुचित और अन्यायपूर्ण ज्ञात होने लगती है। धारणाओ के इस परिवर्तन के कारण समाज के सघटन मे समय-समय पर परिवर्तन होते है। मार्क्स की दृष्टि में राजनीतिक और सामाजिक क्रान्तियो का मौलिक रहस्य यही है। उनका कारण न मनुष्य की बुद्धि है और न किसी सनातन सत्य और न्याय-भावना के प्रति उसकी आन्तरिक चेतना का प्रेम। उसका कारण अन्तत उत्पादन और विनिमय की पद्धति तथा प्रकार मे होनेवाला परिवर्तन होता है, जो युग-युग मे आर्थिक संघटन का निर्माण करता रहा है। आर्थिक सघटन के आधार पर ही समाज स्थित होता है और उसका सास्कृतिक जीवन हो अथवा नैतिक, धार्मिक धारणा हो अथवा राजनीतिक, तथा वैधानिक सङ्घटन हो या शासन-व्यवस्था सब परिणाम और प्रतिच्छाया है उस आर्थिक सघटन का जिस पर तत्कालीन समाज स्थित रहता है।

इतिहास के स्वरूप का अध्ययन करते हुए मार्क्स एक और परिणाम पर पहुँचते हैं। उनका कथन है कि "सारे मानव समाज का इतिहास चाहे वह अतीत का हो या आधुनिक वर्ग-संघर्ष का, वह एक है।" इतिहास के आरम्भिक सूत्र का पता जब से लगता है तब से समाज का वर्ग-भेद-मूलक स्वरूप असंदिग्ध रूप से स्पष्ट है। समाज सदा विरोधी वर्गों में विभक्त रहा है और मनुष्य मनुष्य का शोषण करता रहा है। उत्पादन के लिये समाज मे कुछ लोग ऐसे हो जाते हैं जो उत्पादन के साधनो का नियन्त्रण करते हैं और पदार्थ के निर्माण के लिये आवश्यक कच्चे माल के स्वामी हो जाते हैं। दूसरे लोग यह होते हैं जो स्वामित्व के अधिकार से वंचित रहते हैं। पर जिन लोगों को यह स्वामित्व प्राप्त नहीं होता वे भी उत्पादन की क्रिया से संवद्ध रहते हैं। जो वर्ग उत्पादन के साधनो का नियन्त्रण करता है और जो कच्चे माल का स्वामी होता है वह दूसरो के काम का उपयोग और शोषण करने मे समर्थ हो जाता है। मार्क्स ने इस ऐतिहासिक तथ्य की विवेचना समाज-विकास के अति आरम्भिक युग से की है। एक समय था जब मानव समाज मे गुलामी की प्रथा थी। एक वर्ग दासों का था और दूसरे उनके स्वामी थे। दासो के प्रभु अपने दासो के ही स्वामी न थे वरन् उस कच्चे माल के भी मालिक थे जो सम्पत्ति का उद्‌गम था। सम्पत्ति के अधिकारी होने के कारण समाज के सारे आर्थिक और राजनीतिक अधिकार के मूल सूत्रधार भी थे। उत्पादक दासो के श्रम और उनके शोषण पर यह वर्ग स्थित था। सामंतवादी युग मे भी दासो की प्रथा यद्यपि न थी तथापि व्यापक उत्पादक जनवर्ग अधिकार-वंचित था। सामंत वर्ग ही उत्पादन के साधनो और सम्पत्ति का अधिकारी होने के कारण सामाजिक और राजनीतिक अधिकारो का भी स्वामी था जो दूसरो के उत्पादन और श्रम का उपभोग करने मे समर्थ था।

पूँजीवादी युग भी आया जिसमे शोषक और शोषित के सम्बन्ध

से ही हैं यद्यपि शोषण की पद्धति परिवर्तित हो गयी है। एक वर्ग प्राकृतिक सम्पत्ति का अधिकारी है जो शोषित वर्ग को कच्चे माल का प्रयोग करने की अनुमति दे देता है। पर इसके एवज मे 'अतिरिक्त मूल्य' के रूप मे दोहरा दोहन करता है। मजदूर अपने श्रम के लिये उतना ही वेतन पाता है जितना उसके जीवन को बनाए रखने के लिये अनिवार्यतः आवश्यक होता है। उसके सिवा उसकी कमाई का काफी अंश तथा उसके वेतन का भी एक भाग पूँजीपति की जेब मे ही वापस लौट जाता है। "किराया सूद और मुनाफे" के रूप मे पूँजीपति जिस 'अतिरिक्त मूल्य' की प्राप्ति करता है वह आधुनिक पूँजीवादी व्यवस्था के शोषण का अभिनव और जटिल प्रकार है। उत्पादन के साधनो का जो मालिक है और जो प्राकृतिक सम्पत्ति का स्वामी है वह जन समाज को उत्पादन के साधनो और कच्चे माल का उपयोग उत्पादन के लिये करने की अनुमति केवल इसलिये प्रदान करता है कि वह 'अतिरिक्त मूल्य' के रूप मे दोहन करने मे समर्थ हो। मार्क्स कहते हैं कि यद्यपि उत्पादन की पद्धति मे परिवर्तन होने के फलस्वरूप समाज का स्वरूप समय-समय पर परिवर्तित होता रहा है तथापि शोषक और शोषित का वर्गभेद परिवर्तित रूप में सदा विद्यमान रहा है और आज भी उपस्थित है। आर्थिक संघटन मे हुए परिवर्तन के फलस्वरूप समाज की नैतिक, वैधानिक तथा राजनीतिक पद्धतियों में, जीवन के प्रति उसकी सारी दृष्टि मे, परिवर्तन हो जाता है क्योंकि वह स्वत. आर्थिक संघटन की प्रतिच्छाया के सिवा कुछ नहीं है।

जो वर्ग प्रभु होता है सम्पत्ति का, वह सारे अधिकारो का उपभोक्ता भी हो जाता है और सारी चेष्टा इसी बात की करता है कि उसकी व्यवस्था स्थिर बनी रहे। उस व्यवस्था को बल तथा जीवन प्रदान करने के लिये तत्कालीन समाज का सारा राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक, दार्शनिक तथा सांस्कृतिक विधिविधान उपयुक्त होने लगता है। मार्क्स की दृष्टि मे उचित अनुचित, सत्य असत्य, न्याय अन्याय, नैतिक

अनैतिक तथा सुन्दर असुन्दर की स्वतंत्र तथा नितान्त सत्ता ही नहीं। तत्संबन्धी सारी धारणा और कल्पना निर्धारित होती है तत्कालीन आर्थिक सघटन से। उस संघटन का औचित्य यदि ग्राह्य है तो उसी की रक्षा के लिए समस्त विधि-विधानो और भावो का सर्जन होता है और वे ही उस समय सत्य, सुन्दर कल्याणमय तथा नैतिक हो जाते हैं। स्वय राजसत्ता, जिस पर स्वभावतः प्रभुवर्गो का अधिकार होता है, वर्गहित का सम्पादन करने वाली एजेन्सी मात्र रहती है जो वर्गहित मे ही सारे समाज का संचालन करती है। समाज के संघटन, उसकी व्यवस्था, उसके स्वरूप, जीवन संबन्धी उसकी दृष्टि के विषय मे मार्क्स की यही विवेचना है। यही कारण है कि वे न्याय तथा औचित्य और सत्य के नाम पर मानव हृदय से अपील करना अथवा स्थिति और अवस्था विशेष के लिए उसे दोषी ठहराना व्यर्थ समझते है। वे नहीं मानते कि मनुष्य की चेतना कोई स्वतंत्र अस्तित्व रखती है। वे स्वीकार करते हैं कि नैतिक कल्पनाओं की सत्ता भी स्वतन्त्र नहीं है क्योकि मनुष्य और उसका व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन केवल प्रतिविम्ब है आर्थिक व्यवस्था से सम्भूत उस परिस्थिति का जिसका निर्माण उत्पादन और विनियम के साधन तथा पद्धतियो के आधार पर होता है।

इस प्रकार मानव समाज के इतिहास मे मार्क्स जहाँ यह देखते हैं कि उत्पादन की पद्धति और उसके साधनो पर स्थित आर्थिक संघटन के आधार पर ही सामाजिक भवन निर्मित होता है और उत्पादन की पद्धति तथा साधनो मे समय-समय पर होने वाले परिवर्तनो के फलस्वरूप समाज की रूपरेखा परिवर्तित होती रहती है वहीं वह यह भी देखते हैं कि मानव समाज का सारा इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है जिसमें एक वर्ग जो उत्पत्ति के साधनो का स्वामी होता है दूसरे तमाम वर्गो का शोषण करता है और अपनी व्यवस्था को स्थिर बनाए रखने की चेष्टा किया करता है। पर क्या उसकी यह चेष्टा सफल होती है ? क्या इस चेष्टा और शोषण तथा संघर्ष के लिए प्रभुवर्ग उत्तरदायी नहीं है ? मार्क्स

की दृष्टि में प्रभुवर्ग की उपर्युक्त चेष्टा न सफल होती है और न वह उस चेष्टा के लिये दोषी अथवा उत्तरदायी ही है। मार्क्स की कल्पना में इतिहास स्थिर और जड़ वस्तु नहीं है। वह गतिशील, क्षण-क्षण परिवर्तित होने वाला महान् प्रवाह है जो अनिवार्यतः अपने पथ पर, प्रगति और विकास की ओर, बढ़ता चला जा रहा है। एक सामाजिक व्यवस्था उद्भूत होती है, निश्चित विन्दु तक पहुँचती है, तदनन्तर अपनी उपयोगिता समाप्त करके निकम्मी हो जाती है, परिस्थिति और आवश्यकता के प्रतिकूल हो जाती है तथा अन्ततः लुप्त होकर नयी व्यवस्था को स्थान प्रदान कर जाती है। यह प्रवाह अविरल, अबाध, अनियन्त्रित और अनिवार्य है जिसमें जीवन वहता चला जा रहा है। व्यक्ति अथवा वर्ग जो करता है वह करने के लिए वाध्य है क्योंकि प्रवाह उससे वही कराता है। फलतः कोई यदि शोषण करता है और अपनी व्यवस्था को स्थिर वनाए रखने की चेष्टा करता है तो उसमें उसकी भली-बुरी नीयत का प्रश्न नहीं उठता। ऐतिहासिक-नियति उससे वही कराती है।

पर जहाँ वह वही चेष्टा करने के लिये वाध्य है वहीं उसकी असफलता भी अनिवार्य और पूर्व-निर्धारित है। मार्क्स के मतानुसार समाज विकासशील सत्ता है और इतिहास है गतिशील तथा परिवर्तन है उसका स्वभाव। जो है, उसका समय आने पर वदल जाना ऐतिहासिक नियति है जो कभी टल नहीं सकता। फलतः स्थापित व्यवस्था भी परिवर्तित होगी। परिवर्तन की यह प्रक्रिया वस्तुतः ऐतिहासिक प्रक्रिया है जो अपने ढंग से चरितार्थ होती है। मार्क्स कहते हैं कि इतिहास के किसी युग में जो भी समाज रहा है वह अपने गर्भ में अपना विरोधी तत्त्व लिए हुए आविर्भूत हुआ है। जैसे-जैसे वह समाज विकसित होता जाता है वैसे-वैसे उसके उदर में उपस्थित उसका नैसर्गिक वैपरीत्य भी विकास को प्राप्त होता है। जिस क्षण स्थापित समाज अपनी उन्नति के चरम-विन्दु पर पहुँचा दिखाई देता है उसी समय से उसका विरोधी-तत्त्व उस पर विजय-लाभ करता भी दिखाई देगा। वास्तव में अपनी सफलता से

युग-विशेष का समाज अपने विरोधी तत्त्व के लिये मार्ग प्रशस्त कर देता है। जो बातें और परिस्थितियाँ वर्ग विशेष को सुविधा प्रदान कर देती है, जो उसे प्रमुखता और प्रभुता दे देती हैं, जो तत्कालीन समाज को जन्म प्रदान करती है वे ही उसके विरुद्ध विरोधी वृत्तियों और तत्त्वों का भी प्रजनन कर देती है।

परिणामतः इन दोनो परस्पर विरोधी तत्त्वों का संघर्ष निरन्तर चलता रहता है और जिस समय स्थापित व्यवस्था परम विकास को प्राप्त होती है उसी समय प्रतिकूल परिस्थितियाँ और विरोधी शक्तियाँ भी प्रबल रूप मे उपस्थित हो जाती है। दोनो का संघर्ष गम्भीर हो उठता है और विरोधी तत्त्व अन्ततः विजयी होता है। पुराना सङ्घटन ध्वस्त होगा और नये के लिए स्थान रिक्त कर देगा। परिवर्तन की, क्रान्ति की प्रक्रिया इसी प्रकार परिचालित होती है और इतिहास समाज को विकास की ओर लिये बढ़ा चला जाता है। उत्पादन की एक पद्धति थी जिसके आधार पर वह समाज स्थापित हुआ था जिसमे दास प्रथा प्रचलित थी। समय आया जब उसका स्थान सामन्तवादी समाज ने ग्रहण किया जिसके लिये पुराने समाज ने मार्ग प्रशस्त कर दिया था। सामन्तवादी समाज उत्पादन की जिस पद्धति पर अवलम्बित था उसका विकास होता गया, उसमे परिवर्तन हुआ, नयी परिस्थितियाँ उद्भूत हुई और सामन्तवाद ने पूँजीवाद को स्थान प्रदान कर दिया। आज पूँजीवादी समाज स्थापित है पर अपने विकास के साथ-साथ उन परिस्थितियों और शक्तियों का प्रजनन करता जा रहा है जिनका विरोध निसर्गतः स्पष्ट है। इस वैपरीत्य के द्वारा पूँजीवाद का विनाश अवश्यम्भावी और अनिवार्य है। है। अनिवार्य है इसलिये कि यह महती ऐतिहासिक प्रक्रिया की नियति है।

तात्पर्य यह कि मार्क्स की कल्पना मे समाज विकासिक होता है, और विकास की यह प्रक्रिया चरितार्थ होती है, समाज के उदर मे उप-

स्थित उन निसर्गतः विरोधी शक्तियों के संघर्ष से जिनका प्रजनन वह स्वतः कर देता है। इसी को मार्क्स इतिहास की 'गतिशील द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया' (डाइलेक्टिकल प्रोसेस) कहते है। 'गतिशील द्वन्द्ववाद' (डाइलेक्टिकल) के सिद्धान्त के आधार पर ही मार्क्स का सारा दृष्टिकोण और दर्शन आश्रित है। वैज्ञानिक समाजवाद की भाषा मे उसे ही "डाइलेक्टिक्स" कहते है। सक्षेप मे इसका अर्थ यही है कि जगत् मे जो भी सत्ता है उसमे उसका विरोधी तत्त्व सन्निहित है। ये दोनो परस्पर निरंतर सघर्परत रहते है। इस सघर्ष के फलस्वरूप तीसरी स्थिति उत्पन्न होती है। उस स्थिति मे उन दानो विरोधी वृत्तियो का समावेश तो रहता ही है पर वह उनका अतिक्रमण भी कर जाती है। प्रकृति के इसी धर्म का परिणाम जगत् की गतिशीलता है। "डाइलेक्टिक्स" का यह सिद्धान्त और पदार्थो को इस प्रकार देखने के सिद्धान्त की स्थापना पहले प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् 'हेगेल' ने की थी। उनका कहना था कि विचार हो या पदार्थ, जगत् मे सभी वस्तुओ का विकास दो विरोधी वृत्तियो के घर्षण से ही होता है। किस प्रकार कोई वस्तु स्वरूप-ग्रहण करती है, किस प्रकार उसका विकास होता तथा किस प्रकार हम उसके सम्बन्ध मे वास्तविक ज्ञान प्राप्त करते है आदि बातो की व्याख्या 'हेगेल' उपर्युक्त "डाइलेक्टिकल" पद्धति से कहते हैं। हेगेल का कहना यह भी था कि इस "द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया" के पीछे जो प्रेरणात्मिका शक्ति है वह कोई भौतिक पदार्थ नही प्रत्युत अमूर्त भावना है जिसे वे 'आइडिया' कहते हैं।

मार्क्स ने "द्वन्द्ववाद के इस सिद्धान्त को यद्यपि ग्रहण किया पर यह स्वीकार नहीं किया कि द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के पीछे किसी चेतन शक्ति की प्रेरणा काम करती है। वे भौतिक जगत् को ही प्राधान्य देते है। भौतिक जगत् मे घटने वाली घटनायें सर्वोपरि और स्वतन्त्र है। उन घटनाओ का कारण भी भौतिक है और उनसे उत्पन्न परिस्थितियाँ भी भौतिक हैं। प्रकृति मे गतिशीलता है जो स्वभावतः द्वन्द्वात्मक है और विरोधी तत्त्वो के सघर्प के द्वारा ही वह प्रक्रिया परिचालित है। मार्क्स

के विचार से मनुष्य की चेतना अथवा उसका मस्तिष्क स्वयम् ही प्रति-
च्छाया है उन परिस्थितियों की जिनसे मनुष्य आवेष्टित है। मनुष्य के
विचारों का स्रोत भौतिक परिस्थितियों और घटनाओं में बाहर भौतिक
जगत् में घटती रहती है मनुष्य के विचारों का प्रजनन और निर्धारण
करती हैं। सारी ऐतिहासिक गति और प्रक्रिया परिणाम है द्वन्द्वात्मक
भौतिक गति-शीलता का। मनुष्य का मस्तिष्क यद्यपि अंग है उस ऐति-
हासिक प्रक्रिया का पर यह समझना गलत है कि मनुष्य की चेतना इति-
हास के मार्ग का निर्धारण करती है। मार्क्स की दृष्टि में उसका निर्धा-
रण करती है भौगोलिक परिस्थितियाँ, कच्चे माल की उपलब्धि, पदार्थों
के उत्पादन के साधन तथा पद्धति आदि।

इसी दार्शनिक दृष्टि को ग्रहण करके उन्होंने सारे मानव समाज के
इतिहास की विवेचना की। इसी के प्रकाश में वे अतीत और वर्तमान
पर दृष्टिपात करते हैं और उसकी व्याख्या करते हैं इसी दृष्टिकोण से वे
मनुष्य के कार्य की विवेचना करते हैं। वर्तमान पर दृष्टिपात करते हुए
वे इस परिणाम पर पहूँचते हैं कि पूँजीवाद स्वमम् ऐतिहासिक प्रक्रिया
का परिणाम है और उसी प्रक्रिया के फलस्वरूप उसका विनाश भी अनि-
वार्य है। विनाश की यह क्रिया उसी वर्ग द्वारा सम्पादित होगी जो
आज शोषित है और जिसका प्रजनन स्वयम् पूँजीवाद ने किया है। पूँजी-
वादी समाज का यह परिवर्तन जब होगा तब हिंसात्मक पद्धति के द्वारा
होगा। कारण यह है कि समाज के आर्थिक संघटन के आधर पर जिन
राजनीतिक, वैधानिक, तथा नैतिक व्यवस्थाओं की स्थापना होती है। वे
समय पाकर स्वयम् बल-सञ्चय कर लेती हैं। उनका अपना जीवन हो
जाता है जिसकी रक्षा करने में वे अपने आर्थिक संघटन के विघटित
होते हुए भी कुछ दिनों के लिये बनाए रखने में समर्थ होती हैं। राज-
नीतिक व्यवस्था एक शासक वर्ग का सर्जन कर देती है। इस वर्ग का
र्थ और हित इस बात में स्थिर हो जाता है कि वह प्रचलित पद्धति

को बनाए रखे। फलतः वह अपनी सारी शक्ति का उपयोग उसकी रक्षा में करने लगती है।

उत्पादन के साधन में यद्यपि क्रमशः परिवर्तन होता रहता है, उत्पादन की प्रणाली बदलती चलती है, मनुष्य का मनुष्य से संबन्ध भी परिवर्तित होता रहता है, नयी परिस्थित उत्पन्न होती रहती है और समाज का स्वरूप भी बदलता रहता है फिर भी शासनसत्ता अपने बल से अपने स्वरूप को अपरिवर्तित बनाए रखने की चेष्टा करती रहती है। एक ओर परिवर्तन की गति को रोकने की जितनी ही चेष्टा होती है उतनी ही बलवती प्रक्रिया दूसरी ओर होती है। फलतः अपेक्षित राजनीतिक परिवर्तन और सामाजिक क्रान्ति जब होती है तब हिंसात्मक ही होती है। मार्क्स के मत से पूँजीवादी समाज का विनाश यदि ऐतिहासिक नियति है तो उसे पूर्ण करने का भार मजदूर वर्ग पर इतिहास द्वारा ही डाला जा चुका है। वे मानते हैं कि मनुष्य अनेप प्रयत्न से ऐतिहासिक लक्ष्य की पूर्ति कर सकता है, उसकी गति को तीव्र बना सकता है। यदि इतिहास की माँग है कि आधुनिक व्यवस्था ढह जाय तो इस माँग की पूर्ति हुए बिना जगत् के विकास की गति कुण्ठित रहेगी उसके फलस्वरूप अशान्ति और अकल्याण का सर्जन होता रहेगा। मजदूरवर्ग अपने प्रयत्न से ऐतिहासिक धारा का मार्ग प्रशस्त करके समाज के विकास का पथ निर्विघ्न कर सकता है। उसी स्थिति मे आज के शोषण और दलन तथा हिंसा और रक्तपात का लोप हो सकेगा।

यही है आधुनिक स्थिति की ओर मार्क्सवाद की दृष्टि पर। मार्क्स इससे और आगे बढ़ते हैं। वे इतिहास की गति को देखते हुए समाज के सम्मुख एक आदर्श की स्थापना भी करते हैं और आदर्श तक पहुँचने के लिये तथा इतिहास की माँग को पूरा करने के लिये एक पद्धति भी उपस्थित करते हैं। वे देखते हैं कि जो वर्ग उत्पादन के साधन, उसकी प्रणाली तथा उपार्जित सम्पत्ति का अधिकारी रहा है वह शासन-सत्ता तथा सामाजिक व्यवस्था का साङ्गोपाङ्ग सूत्र अपने हाथो में रख कर

वर्गहित का साधन करने में समर्थ हुआ है। इतिहास के अनेक युगों मे
क्रान्तियाँ हुई है पर वे भी किसी रूप मे वर्ग-विशेष की सत्ता मिटाकर
दूसरे वर्ग की सत्ता स्थापित करने का कारण हुई हैं। फलतः शोषण और
दलन का उन्मूलन न हो सका। मार्क्सवाद यह कल्पना करता है कि
शोषण और दलन को सदा के लिये मिटा देने का मार्ग एक ही हो
सकता है और वह यह है कि समाज से वर्गभेद सदा के लिये मिटा
दिया जाय। फलतः वह जिस जन-क्रान्ति की कल्पना करता है उसके
सामने वर्गहीन समाज की स्थापना का आदर्श उपस्थित करता है।
समाज से वर्गभेद मिट जाय तो वर्गहित भी लुप्त होगा। और होगा
उस संघर्ष का तिरोभाव भी हो जायगा जो उक्त हित के संपादन के लिये
सतत होता रहता है। वर्गहीन समाज की स्थापता हो जाने पर शासन-
सत्ता की भी आवश्यकता न रह जायेगी और क्रमशः उसका विसर्जन
भी हो जायगा।

वही स्थिति होगी, जब मानव समाज पूर्णतः स्वतंत्र होगा और
हिंसा तथा निर्दलन समाप्त होगा। यही है आदर्श जिसे मार्क्सवाद जगत्
के संमुख उपस्थित कर रहा है। उसकी यह उज्ज्वल और हृदयाकर्षक
कल्पना आधुनिक जगत् के करोड़ों नर-नारियों के लिए पावन और महान्
आदर्श का रूप ग्रहण कर चुकी है। करोड़ों उसके प्रकाश मे जीवन का
पथ ढूंढ़ते हैं और आदर्श की उपलब्धि के लिए सर्वस्व की आहुति कर
देने को तय्यार रहते है। वस्तुतः मनुष्यता का दावा करने वाला कौन
ऐसा प्राणी होगा जो इस आदर्श की मोहकता से अभिभूत न होता हो।
यह आदर्श निस्संदेह ग्राह्य है पर आज हमारे सामने प्रश्न आदर्श का नहीं
है। प्रश्न यह है कि आदर्श तक ले जाने वाला पथ क्या है। मार्क्सवाद
अपने ढगसे उस पथका निर्धारण भी करता है। मार्क्सके मतसे जगत्का
मजदूर-वर्ग वह ऐतिहासिक निमित्त है जिसके द्वारा पूँजीवादके विलोप का
ऐतिहासिक लक्ष्य पूरा होगा। मार्क्स उक्त ऐतिहासिक लक्ष्य तथा अपने
आदर्श की पूर्ति के लिए मजदूर समाज द्वारा जगत् व्यापिनी हिंसात्मिका

जनक्रान्ति की कल्पना करते हैं। मार्क्सवाद अपने विद्रोह की सीमा को किसी एक देश या राष्ट्र तक परिमित नहीं रखता। राष्ट्रीयता, जाति, रक्त अथवा किसी देश की भौगोलिक सीमा मे ससार को बाँटना उसे अभीष्ट नहीं है। वह समस्त मानव-समाज को शोषक और शोषित के दो वर्गों में बाँटता है और चाहता है कि जगत् की समस्त दलित शक्तियाँ विद्रोह करके शोषको की सत्ता मिटा दे तथा वर्गहीन समाज की स्थापना कर दे।

पद्धति यह है कि हिंसात्मक क्रान्ति के द्वारा मजदूर समाज शासन-सत्ता पर अधिकार करके समाज का सूत्रधार बन जाय। शासन यन्त्र को अपनी मुट्ठी मे कर लेने के बाद उत्पादन-विनिमय और वितरण के समस्त साधनो को बलपूर्वक पूँजीवादी वर्ग के हाथ से छीन कर अपने अधीन कर ले और व्यक्तिगत सम्पत्ति की संस्था को मिटा दे। जब राज-नीतिक और आर्थिक संघटन का सारा ढाँचा मजदूरवर्ग के हाथ मे आ जाय तो शस्त्र के द्वारा समस्त विरोधी वर्गों का उन्मूलन करते हुए समाज में एक ही वर्ग की स्थापना का प्रयत्न किया जाय। जब तक वह स्थिति पूर्णरूप से उत्पन्न नहीं हो जाती और दूसरे वर्ग समाप्त नहीं हो जाते तब तक मजदूर समाज की निरंकुश अधिनायक सत्ता सारी शक्ति को अपने हाथो मे रख कर समाज का सञ्चालन करती चले। मार्क्सवाद स्वीकार करता है कि शासन-शक्ति को अधिकृत करने तथा वर्गहीन समाज की स्थापना हो जाने के बीच मे जो समय बीतेगा उसकी अवधि लम्बी होगी। उत्पादन के साधन तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति को पूँजीवादी वर्ग से छीन लेना एक बात है पर समाज के वर्गभेद को मिटाकर उसे वर्गहीन बना डालना बिल्कुल दूसरी चीज है। एक तत्काल हो जा सकता है पर दूसरे के लिए दशकों का प्रयास आवश्यक हो जा सकता है। जिस वर्ग को अधिकार-वञ्चित किया जायगा वह दम रहते क्रान्ति मटिया-मेट करके पुन. अपने स्वत्व को प्राप्त करने की चेष्टा करता रहेगा। फलत: क्रान्तिकारी परिवर्तन-काल की अवधि का लम्बा हो जाना आव-श्यक और अनिवार्य है।

इस काल में एकमात्र मजदूर वर्ग की सरकार स्थापित कर रखनी होगी। यह सरकार विशुद्ध अधिनायकवादिनी होगी जिसके अधिकार निरंकुश होगे। क्रान्ति को अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचाने के लिये जो भी आवश्यक और सम्भव हो उसे करने का पूरा अधिकार उसे होना चाहिए। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की गुञ्जाइश न रहेगी, आधुनिक लोकतन्त्रवादी कल्पना और विधि-विधान को स्थान न रहेगा। शक्ति और शस्त्र के सहारे सरकार को शासन चलाना होगा तथा विरोधियों का सम्पूर्ण दलन करने की आवश्यकता पड़ेगी। सरकार मजदूरों की ही होगी, किसी दूसरे के लिए उसमे स्थान न रहेगा और सारी शक्ति का केन्द्रीकरण वर्गमूलक सरकार के हाथों में करना होगा। यद्यपि मजदूरवर्ग की अधिनायक-सत्ता लोकतन्त्र की कल्पना के विरुद्ध है पर मार्क्स यह मानते हैं कि सच्चा लोकतंत्र तो उसी समय स्थापित होगा जब समाज से वर्गभेद मिट जायगा। आज का लोकतंत्र विशुद्ध ढोंग है जो वास्तव में पूँजीवादी वर्ग की ही सरकार के रूप मे प्रचलित है। सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना के लिये ही तो मजदूरक्रान्ति की स्थापना की गई है। यदि अधिनायक-सत्ता स्थापित करके एक वर्ग का क्रूर दलन करना पड़ता है, यदि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और लोकतन्त्रवादी विधि का मिटा देना पड़ता है, यदि नयी सरकार को वर्गमूलक आधार पर स्थापित करना पड़ता है तो यह सब इसी लिए किया जाता है कि भविष्यत् मे सच्ची जन-स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र का उदय हो सके। फलत. मार्क्सवाद की दृष्टि मे परिवर्तनकाल मे स्थायी रूप से मज़दूर अधिनायक-सत्ता की स्थापना एकमात्र पथ है जिसके द्वारा क्रान्ति का लक्ष्य पूरा किया जा सकता है। जिस दिन क्रान्ति का वह लक्ष्य पूरा हो जायगा, अर्थात समाज से वर्गभेद मिट जायगा उस दिन यह सरकार स्वमेव विघटित और विलुप्त हो जायगी।

संक्षेप मे मार्क्सवादी यह विश्वास करता है कि मानव-समाज और सभ्यता का कल्याण, उसकी रक्षा तथा उन्नति का एकमात्र उपाय मार्क्स

का वैज्ञानिक समाजवाद ही उपस्थित करता है। पूँजीवाद का विनाश करके वर्गहीन समाज की स्थापना किए बिना मानवता की रक्षा असंभव है। जब तक यह नहीं होता तब तक संसार युद्ध और हिंसा, अभाव तथा दोहन का शिकार होता रहेगा। यह स्थिति मनुष्य समाज को क्रमशः पतन तथा क्षय की ओर बढ़ाती रहेगी। यदि धरातल को इससे बचाना है तो मार्क्स की पद्धति का अवलम्बन करके वर्गहीन जगत् की रचना करनी पड़ेगी। तभी सच्चे लोकतन्त्र का उदय हो सकेगा और मनुष्य-समाज जाति, रक्त, वर्ग तथा भौगोलिक सीमा की कल्पनाओ से निकल कर यथार्थत. अन्तर्राष्ट्रीय बन सकेगा। मनुष्य समाज सम-अधिकारी तथा स्वतन्त्र प्राणियों का समूह होगा, सारा जगत् विशाल परिवार के रूप में हो जायगा तथा मनुष्य द्वारा मनुष्य का दलन और दोहन मिटेगा। मानव प्राणी सुखी होगा।

मार्क्सवादी की दार्शनिक दृष्टि, उसकी इतिहास-विषयक व्याख्या, उसके आदर्श और उनकी पद्धति की ओर संकेत किया जा चुका। लेखक मार्क्सवाद की सांगोपाग विवेचना करने नहीं बैठा है। यह इस ग्रन्थ का विपय नहीं है न उसके लिये यहाँ पर्याप्त स्थान ही है। मार्क्सवाद की दृष्टि और सिद्धान्तो की टीका तथा उसके गुणदोप के प्रदर्शन के लिए ग्रन्थ की आवश्यकता होगी। पर स्थूलरूप से यह कहा जा सकता है कि मार्क्स के दार्शनिक सिद्धान्त पर १९ वीं शती के वैज्ञानिक विचारो की गहरी छाप है। यही कारण है कि भौतिकवाद उनके दर्शन का आधार बन गया। तत्कालीन भौतिक-विज्ञान, प्राणि-विज्ञान तथा मनोविज्ञान सृष्टि के मूल में जड़पार्थिव शक्ति के सिवा दूसरा तत्व न देख सका था। मार्क्स उन्हीं विचारो से प्रभावित हुए थे फलत उनकी दार्शनिक विचार-धारा उस सीमा का उल्लंघन न कर सकी। पर आज विज्ञान का क्षेत्र स्वत' विस्तृत होने लगा लगा है। वह उस क्षेत्र में पहुँचने लगा है जहाँ से दर्शन की सीमा आरम्भ होती है। आज का विज्ञान विशुद्ध भौतिक-वाद के सम्बन्ध में स्वयम् सशंक होने लगा है और गत शताब्दी की

उसकी धारणाएँ बदलती सी दिखाई देने लगी हैं। फलतः उन धारणाओं के आधार पर आश्रित विचारों की प्रौढ़ता स्वीकार नहीं की जा सकती।

इसी प्रकार इतिहास की गति के सम्बन्ध में एक मात्र आर्थिक कारणों को देखना भी एकांगी दृष्टि ग्रहण करना है। समाज के विकास में आर्थिक कारण प्रमुख रहे हैं इसे स्वीकार करना ही होगा पर यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इतिहास की गति का निर्धारण करने में उसके सिवा और भी न जाने कितने दूसरे कारण उपस्थित होते रहे हैं। किसी जर्जर रोगी का शरीर अथवा किसी शव का दर्शन सिद्धार्थ के महाभिनिष्क्रमण का कारण हुआ और उस घटना ने इतिहास की धार को शताब्दियों के लिए प्रभावित कर दिया। कौन कह सकता है कि उस घटना के मूल में आर्थिक कारण ही मुख्य रहा है? इतिहास के कष्टों से एक नहीं सैकड़ों ऐसी घटनाओं को उपस्थित किया जा सकता है जिनके कारण इतिहास की धारा बदल गयी है। उन सब के मूल में आर्थिक कारण ढूँढ़ने की चेष्टा करना हठधर्मी का परिचय देना होगा। जीवन इतना सरल और सीधा दिखाई नहीं देता कि उसकी व्यवस्था केवल आर्थिक दृष्टि से की जा सके। न जाने कितने भौतिक और अभौतिक तत्वों के समावेश से उनका सञ्चालन होता है। पर इन तमाम दार्शनिक प्रपञ्चों में पड़ने की आवश्यकता यहाँ प्रतीत नहीं होती। मार्क्सवाद की जैसी दृष्टि है उसे उसी रूप में छोडकर तथा उससे सहमत या असहमत होने के झगड़े में न पड़कर भी इतना स्वीकार किया जा सकता है कि उसने मानव समाज के लिये जिस आदर्श का प्रतिपादन किया है वह पवित्र और महान् है। विवेचना करनी है उस पद्धति की जिसके द्वारा मार्क्सवाद अपने आदर्श की प्राप्ति करने की आशा करता है।

सशस्त्र क्रान्ति के द्वारा शासनयत्र पर अधिकार स्थापित करना और मजदूरवर्ग की अधिनायक सत्ता को प्रतिष्ठित करके व्यक्तिगत सम्पत्ति का समाजीकरण कर डालना तथा शक्तिपूर्वक पूँजीवादी वर्ग को मिटा कर वर्गहीन समाज की स्थापना करना उसकी पद्धति है। वह कहता है कि

समाज जैसे-जैसे शासनशक्ति का निरंकुश अधिकार क्षीण होता जायगा वैसे-वैसे समाज वर्गहीनता की ओर अग्रसर होता जायगा और अन्तिम स्थिति उत्पन्न होने पर वर्गों का सर्वथा लोप हो जायगा। रूस मे इसी पद्धति का प्रयोग हुआ। प्रश्न यह उठता है कि क्या रूस का प्रयोग सफल हुआ या उसके सफल होने की आशा है। सारे जगत् की बात तो छोड़ दीजिए पर क्या वह प्रयोग स्वयम् रूस को भी वर्गहीनता, जन-स्वतन्त्रता और अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर बढ़ाने मे समर्थ हुआ? रूसी क्रान्ति के बाद शासनशक्ति पर मजदूर वर्ग ने अधिकार स्थापित किया। क्रान्तिकारी सरकार ने अधिनायक सत्ता का रूप धारण कर डाला। रूस की कम्युनिस्ट पार्टी मजदूरों का प्रतिनिधि होने का दावा करते हुए सारे अधिकारो की सूत्रधारिणी हो गयी, व्यक्तिगत सम्पत्ति मिटा दी गई, विरोधी वर्गों का तीव्र दमन किया गया। व्यक्तिगत स्वतत्रता पीस डाली गई, जन जीवन के अंग-प्रत्यंग का संचालन सरकार के संकेतो पर किया जाने लगा, मिलने-जुलने, भाषण करने और विचार करने की स्वतंत्रता का अपहरण भी कर डाला गया।

पशुबल और निरंकुशता का जैसा प्रचण्ड प्रदर्शन रूस में हुआ वैसा कदाचित् ही कहीं हुआ होगा। पुंजीभूत शक्ति और केन्द्रीभूत अधिकारोसे सम्पन्न होकर रूस की सरकार अपनी अक्षुण्णता, निरंकुशता और प्रभुता मे जगत् की किसी भी 'टोटेलेटेरियन' सरकार से रत्ती भर कम नहीं है। गत २५ वर्षों से रूस की यही स्थिति है। इन वर्षों में सोवियट सरकार ने बहुत कुछ ऐसा भी किया है जिसकी जितनी प्रशंसा की जाय कम है। देश का औद्योगिककरण, शिक्षा का प्रसार, मजदूरो की दशा का सुधार, जीवन को नयी दृष्टि और सबसे बढ़कर महान् रूसी राष्ट्र का निर्माण आदि ऐसी बातें है जिनके लिये कोई भी सरकार गर्व कर सकती है। रूस की कम्युनिस्ट पार्टी ने जिस अदमनीय साहस, उज्वल त्याग, और कठोर तप का आदर्श उपस्थित किया है वह जगत् के लिए स्फूर्ति का कारण होगा। पर इन सब के साथ-साथ वहाँ जिस प्रकार मानव-जीवन की

उसके है। जनता का जीवन भी उसका है। व्यक्ति का कोई महत्व नहीं, उसका कोई अधिकार नहीं। सब कुछ सरकार का है पर सरकार किसकी है ? सरकार जनता की तो है नहीं और न उसके संघटन और संचालन में उसका कोई हाथ ही है। यदि वह किसी की कही जा सकती है तो रूस की कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं की कही जा सकती है। उन नेताओं के अधिनेता स्टालिन है जिन्होंने अपने समस्त प्रतिद्वन्द्वियों को जहन्नुम का रास्ता दिखाने में सफलता प्राप्त की है। स्टालिन सर्वेसर्वा है, विधाता है, अनन्य और अप्रतिस्पर्ध्य है। उनकी भृकुटि-भंगिमा पर कम्यूनिस्ट पार्टी चलती है। यही पार्टी मजदूरों का प्रतिनिधित्व करने का दावा करती है। कम्यूनिस्ट पार्टी के विरुद्ध भला कोई आवाज भी कैसे उठा सकता है ? मतभेद प्रकट करना भी क्रान्ति का विरोध करना और प्रतिगामिता है। ऐसे व्यक्ति के भाग्य में सरकार की क्रोधाग्नि में भस्म होने के सिवा दूसरा कुछ नहीं है।

इस स्थिति में कम्यूनिस्ट पार्टी के इस दावे में कि वह मजदूरों की प्रतिनिधि है कोई सन्देह प्रकट करने का साहस भी कैसे कर सकता है ? वह जो करती है मनमाना करती है पर दावा करती है कि व्यापक मजदूरवर्ग के प्रतिनिधि के हैसियत में सब कुछ उसी के नाम पर करता का। फलतः स्वतन्त्रता की बात ही कहाँ रह जाती है। जिस व्यवस्था में सब कुछ की प्रभुता सरकार के हाथ में हो उसमें आर्थिक और राजनीतिक तथा सामाजिक स्वतन्त्रता के लिये स्थान रह ही नहीं सकता। दोनों में परस्पर मौलिक विरोध है फलतः एक के अभाव में ही दूसरे का अस्तित्व रह सकता है। इन बातों के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण उपस्थित करना सम्भव नहीं है पर जो दिखाई दे रहा है उसके आधार पर हम कह सकते हैं कि रूस में हुए बोलशेविक प्रयोग से लक्ष्य की सिद्धि तो दूर की बात रही वह आदर्श ही विलुप्त हुआ चाहता है जिसे प्राप्त करने के लिये मार्क्सवादी पद्धति ग्रहण की गई थी। न वर्गहीन समाज की स्थापना हो सकी, न शासन-सत्ता का विघटन हुआ, न लोकतन्त्र की

उदय हुआ और अन्तर्राष्ट्रीयताका जागरण सम्भव हुआ। रूसकी वर्त्तमान ारा यदि भविष्यत् की ओर संकेत करनेवाली मानी जाय तो कह सकते हैं कि वहाँ यदि पुराना वर्ग मिटा दिया गया तो नये वर्ग का उदय होने गा है। सच्चे लोकतन्त्र की तो बात ही जाने दीजिए क्योंकि स्टालिन ी अधिनायक-सत्ता दिन-प्रतिदिन केन्द्रित ही होती चली जा रही है। रकार के विलोप के लक्षण तो दूर रहे वह कल्पना भी आज मानस-क्षितिज के परे हो गई है। रूस की अन्तर्राष्ट्रीयता की पोल तो पूर्णतः ुल चुकी है। सिद्धान्त और आदर्श का परित्याग करके भी कोई राष्ट्र वेशुद्ध राष्ट्रीय हित के लिये किस प्रकार काम कर सकता है इसे जिसे ीखना हो वह रूस से सीखे।

भारत के कम्यूनिस्ट यदि अपने राष्ट्रीय हित को सर्वोपरि स्थान देने की शिक्षा अपने रूसी गुरुओं से ग्रहण कर सकते तो कदाचित् इस देश में उनका स्थान और इतिहास कुछ दूसरा ही हुआ होता। 'तृतीय इन्टर-नैशनल' जवतक जीवित रहा तवतक रूस के हित के लिये जीवित था और जब मरा तो रूस के लिये ही मरा। इस युद्ध मे रूस ने अब तक जो नीति वर्ती है वह उसके हित की दृष्टि से चाहे कितनी भी उपयुक्त क्यो न रही हो पर उसमें अन्तर्राष्ट्रीयता की तो गंध भी नहीं थी। मानता हूँ कि रूसी क्रांति ने जो कुछ किया वह भी कम नहीं था। उसका तत्कालिक लक्ष्य भी महान् था। उसने जारशाही का विनाश किया, तत्कालीन सामान्तवादियों और स्थिर-स्वार्थी वर्गों की समाप्ति की, पूँजीवादी व्यवस्था का उन्मूलन किया, व्यक्तिगत सम्पत्ति की संस्था खतम कर डाली, उत्पादन, वितरण तथा विनिमय के साधनों पर सरकारी नियन्त्रण स्थापित कर दिया। कोई नहीं कह सकता कि जो कुछ हुआ वह कोई छोटी वात थी। इतना स्वीकार करते हुए भी कहना पड़ता है कि समाजवाद का रथ इससे आगे न बढ़ सका। समाजवाद जिस समाज की कल्पना करता है उसका उदय न हो सका। पूँजीवादी व्यवस्था का उन्मूलन अवश्य हुआ पर उसके स्थान पर नये लोगों के संचालकत्व में, नया ढंग और नया स्वरूप

ग्रहण करके नये प्रकार का पूँजीवाद अवतरित हुआ दिखाई देता है। जारशाही का विनाश अवश्य हुआ पर उसके स्थान पर 'पालिट ब्यूरो' (क्यूनिस्ट पार्टी के कांग्रेस की कार्यसमिति और सर्वोत्कृष्ट सस्था) प्रतिष्ठित है जिसका सूत्र स्टालिन के हाथ मे है।

स्टालिन की निरकुश शक्ति किस जार से कम है? पुराने सामन्तवादियों और स्थिर-स्वार्थियो के स्थान पर कम्यूनिस्ट पार्टी के वे सदस्य है जिनकी प्रतिष्ठा और अधिकार उससे किसी प्रकार कम नहीं है। सरकारी यन्त्र के वे तमाम पुर्जे, बड़े छोटे अधिकारी, ओ. जी. पी. ओ. (रूस का भयावना और गुप्तचर विभाग) के विधाता लोग उस नये वर्ग का निर्माण करते है जो साधारण जनवर्ग की अपेक्षा विशेष अधिकार और सुविधाओ का उपभोग कर रहे हैं। पहले की व्यवस्था पूँजीपति तथा सुविधा-सम्पन्न वर्ग के हित मे सञ्चालित होती थी और इस वर्गविशेष के हाथो में ही उत्पादन के सारे साधन थे। उत्पन्न सम्पत्ति तथा उत्पत्ति का सञ्चालन इसी वर्ग के हाथो मे था। जनता केन्द्रस्थ उत्पादन-व्यवस्था पर आश्रित थी और जीवनोपाय की सारी आवश्यक सामग्रियो की उपलब्धि के लिए परमुखापेक्षण करती थी। पूँजीवादी व्यवस्था का यही रूप जनवर्ग की आर्थिक परतन्त्रता और शोषण का कारण होता है क्योकि उसकी सारी अर्थनीति एक वर्ग-विशेष के हित की दृष्टि से ही सञ्चालित होती है। निर्विवाद है कि रूसी क्राति ने उक्त पुरानी पूँजीवादी व्यवस्था को तहस-नहस कर डाला। पर उसका स्थान जिस व्यवस्था ने लिया वह क्या है? सारी अर्थनीति सचालित होती है केन्द्रस्थ व्यवस्था के द्वारा।

उत्पादन आदि के साधनो पर, वितरण और विनिमय के प्रबन्ध पर उसी केन्द्रस्थ व्यवस्था का अधिकार है। वही स्वामिनी है सारी सम्पत्ति की। पूँजी उसी की है, उत्पादन और वितरण तथा विनिमय के निगम उसी के हैं, व्यापार और व्यवसाय उसीका है, लाभ जो हो वह भी उसी ·ा है। मजदूर पहले की भाति अपनी मजदूरी मात्र पाता है। जनता

पहले का भांति अन्न और वस्त्र ऐसे आवश्यक तथा उपयोगी पदार्थों के लिये भी उसी व्यवस्थापर निर्भर करती है। कौन क्या खाए और कितना खाए, क्या पहने और कितना पहने तक का निर्धारण वही करती है। पूँजीवाद के स्थान पर इस नये 'व्यवस्थापकवाद' का उदय हो गया है। यह केन्द्रस्थ व्यवस्था और उसके व्यवस्थापक सरकार के अङ्ग हैं और सरकार है कम्यूनिस्ट पार्टी की। कम्यूनिस्ट पार्टी स्टालिन के हाथ मे है। यह सरकार निरंकुश है जो बल का आश्रय लेकर हुकूमत करती है। उसका विरोध करने की बात छोड़ दीजिए उसके विरुद्ध आवाज उठाना भी जुर्म है। उसकी आर्थिक और राजनीतिक नीति के विरुद्ध बोलना क्रान्ति का द्रोह करना समझा जाता है जिसके लिये प्राणदण्ड तक की सजा दी सकती है। यह सच है कि रूस में पुराने प्रकार की पूँजीवादी अराजकता, घिस-घिस और अव्यवस्था का अन्त हो गया है। पूँजीपति-वर्ग के वर्गमूलक स्वार्थ की समाप्ति भी हो गई है। उसके स्थान पर आयोजित अर्थनीति और राजनीति की स्थापना मार्क्सवाद और रूसी क्रान्ति की देन है। पर इस आयोजन के फलस्वरूप जिस व्यवस्थित, सुसङ्घटित, दृढ़ किन्तु केन्द्रस्थ शक्ति का उदय हो गया है वह जनवर्ग के समस्त जीवन की निरंकुश सूत्रधारिणी हो गई है। स्पष्ट यह है कि पूँजीवादी अराजकता के अन्त के साथ-साथ जनवर्ग की उस रही-सही स्वतन्त्रता का भी अन्त हो गया है जो उसे पूँजीवादी समाजमे प्राप्त है। जो हुआ वह इतना ही हुआ कि उत्पादन आदि के साधन जो अब तक एक वर्ग के हाथ मे थे वे छीन लिए गये और उस पर स्वामित्व स्थापित कर दिया गया उस पार्टी का जो अपने को दूसरे वर्ग का प्रतिनिधि कहती है।

यद्यपि यह सन्दिग्ध है कि कम्युनिस्ट पार्टी मजदूरो का प्रतिनिधित्व करती है तथापि उसके दावे को यदि स्वीकार कर लिया जाय तो उसका अर्थ केवल इतना हुआ कि एक वर्ग के हाथ से सब कुछ छीन कर दूसरे वर्ग के ठेकेदारो और दावेदारो के हाथो मे समर्पण कर

दिया गया। पहले जो व्यवस्था पूँजीपतिवर्ग के 'एजेन्टों' के द्वारा सञ्चालित होती थी वही अब अपने को मजदूरवर्ग का प्रतिनिधि कहनेवालों के द्वारा सञ्चालित होती है। यह कहा जा सकता है कि रूस की केन्द्रित व्यवस्था की कोई तुलना नहीं की जा सकती। दोनों की दृष्टि मे आकाश-पाताल का अन्तर है। एक की व्यवस्था यदि व्यक्तिगत सम्पत्ति की रक्षा के लिये, वर्ग हित के साधन के लिये परिचालित है तो दूसरी सारे समाज मे से वर्गभेद को मिटाकर सामूहिक कल्याण की भावना द्वारा उत्प्रेरित है। पूँजीवादी व्यवस्था, उसकी अर्थनीति और राजनीति, व्यक्तिगत प्रतिस्पर्धा और व्यक्तिगत अधिकार पर आश्रित है। रूस की व्यवस्था सारे समाज के लाभ को सर्वोपरि स्थान देती है। भले ही व्यवसाय, व्यापार और आर्थिक सङ्गठन केन्द्रित संस्था के अधीन हो पर जो मुनाफा होगा वह व्यक्ति नहीं समाज की सम्पत्ति होगी और जो आर्थिक व्यवस्था होगी वह सारे समाज के हित मे परिचालित होगी। सरकार हो या कोई केन्द्रित संस्था यदि उसका निर्माण होता है उत्पादक जनवर्ग के द्वारा तो उत्पत्ति के साधन और उत्पन्न सम्पत्ति पर सारे उत्पादक वर्ग का अधिकार स्थापित होता है। ऐसी दशा मे पूँजीवादी व्यवस्था और रूसी व्यवस्था की तुलना की ही कैसे जा सकती है। मैं मानता हूँ कि दोनों की दृष्टि और आदर्श मे इतना भेद है कि वे परस्पर एक दूसरे को कहीं स्पर्श ही नहीं कर सकते। वास्तव मे एक दूसरे का प्रतिवाद है। पर मेरा कहना तो यह है कि रूसी व्यवस्था यद्यपि आदर्श मे सर्वथा भिन्न है, उसकी दृष्टि भी सर्वथा दूसरी है तथापि व्यवहारतः दोनों मे विशेष भेद नहीं दिखाई देता। वैधानिक दृष्टि से भले ही उत्पन्न सम्पत्ति और उत्पादन के साधनो पर उत्पादकवर्ग का अधिकार हो पर व्यवहारतः उससे स्थिति मे कोई परिवर्त्तन हुआ दिखाई नहीं देता।

जो पद्धति रूस मे प्रचलित है उसमे उत्पादकवर्ग वैधानिक दृष्टि से उत्पादन के साधनों का स्वामी होते हुए भी व्यवहारत क्या आर्थिक

दृष्टि से स्वतंत्र है? भले ही सम्पत्ति का स्वरूप बदल गया हो पर क्या जन—समाज जीवन की आवश्यक सामग्रियों को प्राप्त करने के लिये दूसरे का मुख नहीं देखता? अर्थनीति और राजनीति के सञ्चालन की दृष्टि भले ही पूँजीपतिवर्ग के व्यक्ति-गत लाभ और उसकी सम्पत्ति की रक्षा की ओर न हो पर यह कौन अस्वीकार कर सकता है कि सारी दृष्टि कम्यूनिस्ट पार्टी की प्रभुता बनाए रखने की ओर अवश्य है? उत्पादक वर्ग क्या चाहता है और क्या नहीं चाहता, वह किस प्रकार की नीति में अपना लाभ देखता है और किस मे नहीं देखता आदि बातो का निर्णय करने में उसका हाथ कहाँ है? क्या रूस की कम्यूनिस्ट सरकार जो निर्णय कर दे वही जनता का निर्णय नहीं माना जाता? क्या जनवर्ग का सारा अधिकार उस वर्ग के साथ में केन्द्रित नहीं है जो अपने को उत्पादक जनता का प्रतिनिधि स्वयम् घोषित करता रहता है? उसके व्यवस्थापक और एजेन्ट बने लोग स्वयम् वास्तविक मालिकों के मालिक नहीं बन गये हैं? आज विचारणीय यही है कि यह पद्धति क्या उस दृष्टि और आदर्श की ओर ले जाने में समर्थ भी हो रही है?

दृष्टि और आदर्श चाहे कितना ही महान् और स्पृहणीय क्यो न हो तब तक उसका कोई मूल्य नहीं है जब तक वह व्यावहारिक रूप मे प्रकट न हो? माना कि रूस के जनवर्ग की आधुनिक स्थिति उस समय की अपेक्षा कही अच्छी है जो क्रान्ति के पूर्व थी! आज रूसका मजदूर और किसान साक्षर है। उसके स्वास्थ्य, उसकी शिक्षा, उसके मनोरजन, उसके रहन-सहन को ऊँचा करने के सम्बन्ध मे सरकार ने जो सुविधाएँ उत्पन्न कर दी हैं वह दुनिया के किसी देश के मजदूर और किसान को प्राप्त नहीं है। पर रूसी क्रान्ति का अथवा मार्क्सवाद का लक्ष्य इतना ही नहीं था। वह उन निरङ्कुश किन्तु सुसभ्य और उदार राजाओं का स्वरूप ग्रहण करने की भावना से उत्प्रेरित नहीं है जो किसी युग में यूरोप मे 'इनलाइटेन्ड डिस्पाड' कहे जाते थे। उपर्युक्त बातें कोई भी स्वच्छन्द, अनियंत्रित, अनुत्तरदायी

किन्तु सभ्य और उदार राजा या शासन-पद्धति कर सकती है। प
जनता के लिये केवल इतना ही पर्याप्त नहीं हुआ करता। मानव समाज
आज उस स्तर पर पहुँच गया है जहाँ वह आर्थिक और राजनीति
व्यवस्थाओं को एकमात्र इस कसौटी पर कसता है कि उनके द्वारा मनुष्य
के नैसर्गिक अधिकारों की रक्षा होती है अथवा नहीं ?

मनुष्य राजनीतिक और आर्थिक तथा सामाजिक दृष्टि से स्वतन्त्रत
और ममता का आकाक्षी है। वह ऐसी व्यवस्था चाहता है जिसमें न
वर्गप्रभुता हो, न निरंकुश अधिकार-सत्ता और न समाज तथा व्यक्ति के
अधिकारों का अपहरण। मार्क्सवाद इसी को प्राप्त करने का इच्छुक है।
आज रूस को कहाँ यह स्थिति प्राप्त है ? भले ही जनवर्ग को कुछ सुवि
धाएँ प्राप्त हों पर उसे इसके लिये जो मूल्य चुकाना पड़ा है उसकी ओर भी
दृष्टि डालनी होगी। निरंकुश व्यवस्था ने सुविधाएँ भी प्रदान की पर
सारा आर्थिक और राजनीतिक सूत्र की अपने हाथ में केन्द्रित कर लिया।
जनता समस्त सम्पत्ति और शक्ति की स्वामिनी घोषित की जाती है पर
उसे वही प्राप्त होता है जो अनुत्तरदायी केन्द्रित संस्था प्रदान कर दे।
वह उसी अधिकार को प्राप्त कर सकती है, उसी सम्पत्ति का उपभोग
कर सकती है, जो मस्तक पर बैठी हुई शक्ति से मिल जाय। कोई केन्द्रस्थ
और निरंकुश व्यवस्था किस प्रकार विभीषिका हो जा सकती है इसका
उदाहरण ढूँढ़ने के लिए दूर जाने की आवश्यकता नहीं। रूस के गत
बीस वर्षों के इतिहास में वहाँ की सरकार ने अपनी नीति का परिचालन
करने के लिये एकाधिकबार लाखों को तलवार के घाट उतार दिया।
इसके कतिपय प्रमाण उपस्थित किये जा सकते हैं। क्रान्ति के समय
लेनिन ने जो विज्ञप्ति किसानों के नाम प्रकाशित की उसमें सारी भूमि
उन्हें दे दी। किसानों ने अपने जमींदारों को नष्ट करके भूमि परस्पर
बाँट ली। पर किसानों का भू-स्वामित्व मार्क्सवाद की कल्पना के विरुद्ध
है क्योंकि व्यक्तिगत सम्पत्ति की भावना भी उसके लिये विजातीय है।
फलतः अधिकार ग्रहण करने के बाद बोल्शेविक सरकार ने जब व्यक्ति-

गत सम्पत्ति का राष्ट्रीकरण आरम्भ किया तो किसानो की उपज और उनके गल्ले पर बलपूर्वक अधिकार करना शुरू कर दिया। एक वर्ष पूर्व जो किसान भूमि का स्वामी हुआ था और जिसे स्वयम् लेनिन ने यह अधिकार प्रदान किया था अपहरण की इस नीति को समझ ही नहीं सका। वह यह न समझ सका कि "किसानो को भूमि और मजदूरों को रोटी" की माँग लेकर जो क्रान्ति हुई थी और जिसके नेता ने स्वयम् किसानों को भूमि प्रदान की थी वही उनकी कमाई का सारा फल क्यो लिए ले रही है। उन्होने देखा कि जार और जमींदार मरे पर स्थिति मे परिवर्तन न हुआ। पहले वे सब ले लेते, अब दूसरे आये।

किसानो ने इस व्यवस्था का विरोध किया। उन्होने खेती छोड़ दी, खड़ी फसलें सूख गईं, और अपने पशु मार डाले, भयावना अकाल पड़ा। न जाने कितने भूख से तड़प-तड़प कर स्वर्ग सिधारे। हजारो मृत्यु के मुख में झोक दिए गए। अन्त मे लेनिन ने इस अवस्था से निकल बचने के लिये कदम पीछे हटाया। नव-आर्थिक नीति (न्यू इकनामिक पलिसी) के नाम से दूसरी योजना उपस्थित की जिसमे व्यक्तिगत खेती और व्यक्तिगत व्यापार करने की अनुमति एक संकुचित सीमा तक प्रदान की गई। सरकार की इस योजना का परिणाम यह हुआ कि एक अच्छा खासा वर्ग व्यक्तिगत सम्पत्ति वाला उत्पन्न हो गया। चार पाँच वर्षों तक यही व्यवस्था चलती रही। टाटस्की प्रभृति नेताओ ने लेनिन की मृत्यु के बाद जब इस नीति का विरोध किया तो उन्हें क्रान्ति-द्रोही घोषित किया गया। स्टालिन और उनके दल के संकेत पर बोल्शेविक सरकार ने उनका तीव्र दमन किया। पर उसी सरकार ने सन् १९२८ ईसवी मे रूस मे प्रसिद्ध पंचवर्षीय योजना जारी कर दी। इस योजना के अनुसार पुनः किसानो की भूमि सामूहिक खेती के नाम पर ली जाने लगी। व्यक्तिगत व्यापार करने वालो का जो एक मध्यम वर्ग उत्पन्न हो गया था उसका सफाया किया जाने लगा। नव आर्थिक नीति के फलस्वरूप जो किसान थोड़े सम्पन्न हो

गये थे (कुलक) मिटाये जाने लगे। जिस पंचवर्षीय योजना की इतनी धूम है वह इन निरीह मध्यवित्त व्यापारियों और किसानों के रक्त से अभिषिक्त है। कौन ऐसा है जिसका हृदय यह ज्ञानकर द्रवीभूत न हो जायगा कि लाखों किसान परिवार कुलक होने के नाम पर मटियामेट कर दिए गए।

इसे सनक न कहें तो क्या कहें ? जो सरकार जिम्मेदार थी नयी आर्थिक नीति के लिये और जिसकी उक्त नीति के फलस्वरूप इन वर्गों का उदय हुआ था उसी ने उनकी हत्या कर डाली। यदि यह मान भी लें कि समाजवाद की पूर्ति के लिए और क्रान्ति के हित में यही अपेक्षित था तो भी क्या पूछा नहीं जा सकता कि 'कुलकों' के उदय के लिये जिम्मेदार कौन था ? कौन था उत्तरदायी उस मध्यवित्त व्यापारी वर्ग के उदय के लिये ? क्या सरकार ही उसके लिये उत्तरदायी नहीं थी ? फिर उसे उन निरीह प्राणियों का सत्यानाश करने का क्या अधिकार था ? यदि नव आर्थिक नीति बोल्शेविक सरकार की भूल थी तो उस भूल का दण्ड क्या उन्हें दिया जाना चाहिए था जो निरपराध थे ? अनियन्त्रित अधिकार सत्ता का कैसा भयावना स्वरूप प्रकट होता है ! उसकी निरंकुशता का खेल यहीं समाप्त नहीं होता। जिस समय ट्राट्स्की ने नव-आर्थिक नीतिका विरोध करना आरम्भ किया उस समय स्टालिन ने उन्हें धर दबोचा था। कम्यूनिस्ट पार्टी के जो नेता इस कार्य में स्टालिन के सहायक थे उनमें बुखारिन मुख्य थे। सन् १९२८ ई० मे पञ्चवर्षीय योजना की सफलता के लिये सरकार ने दमन की भयावनी आग लगाई। बुखारिन ने उक्त दमन-नीति का विरोध किया जिसके फलस्वरूप उन्हें यमलोक की यात्रा करनी पड़ी। सरकार ने कुलकों का संहार करके और नयी आर्थिक योजना समाप्त करके वही किया जिसका प्रतिपादन करने के कारण कुछ वर्ष पूर्व ट्राट्स्की दोषी घोषित किए गए थे।

कुलकों का संहार और भूमि का समूहीकरण कुछ समय तक धूम से चला और उसके विरोध करने वाले पीस दिए गए। बुखारिन ऐसे प्रसिद्ध

नेता दमन के शिकार हुए। कहा जाता है कि पञ्चवर्षीय योजना के आरम्भ होने के पूर्व रूस मे सामूहिक खेती केवल दो प्रतिशत होती थी। वही पंचवर्षीय योजना आरंभ होने के दो वर्ष के भीतर ही ६० प्रतिशत हो गई। पर इस सफलता की प्राप्ति लाखो प्राणो की बलि चढ़ा देने के बाद हुई। सहसा एक दिन स्टालिन का माथा ठनक उठा। उन्होने सामूहिक खेती के लिए किये जाने वाले प्रयास और जोर-जुल्म को 'अनावश्यक उत्साह', घोषित करके उसकी निन्दा कर दी। उनके एक लेख ने दूसरे दिन से वह उत्पात रोक दिया। तब से सामूहिक कृषि की योजना मे सम्मिलित होने या न होने का निर्णय करने मे किसान को स्वतन्त्रता प्रदान कर दी गई। यह है निरंकुशता का खेल। मानव-जीवन के साथ कैसी डरावनी क्रीड़ा है। जो मन मे आए निर्णय कर दिया जाय और उसका प्रयोग आरम्भ हो जाय। लाखों की जान उस प्रयोग मे निछावर की जाय। फिर कदम उठाया जाय और दूसरा प्रयोग आरंभ हो। नीति का निर्धारण करनेवाले अलग बैठे रहें और एक के बाद दूसरी भूल करते रहें। पर भूल के लिये दण्ड पाते रहें वे जो निरपराध हैं। उनका जीवन गेंद की तरह आज इधर और कल उधर उछाला जाता रहे। आज कुलकों का उदय आप कीजिए और कल आप ही उनका संहार कर दीजिए।

उदाहरण स्वरूप एक-दो घटनाएँ यह दिखाने के लिये उपस्थित कर दी गई हैं कि रूस के मजदूर और किसान को यदि एक ओर सुविधाएँ प्राप्त है तो दूसरी ओर उनके सिर पर यह विभीषिका भी मडराती रहती है। पूँजीवादी व्यवस्था की समाप्ति रूस में अवश्य हुई पर उसका स्थान जिसने ग्रहण किया है वह उससे कम भयावना नहीं दिखायी देता। वर्गमूलक पूँजीवादी वहाँ भले ही न हो पर निरंकुश-दल-मूलक सरकारी पूँजीवाद के होने में किसे सन्देह हो सकता है? यदि यही समाजवाद है तो जगत् को उसे अपने कण्ठ के नीचे उतारने के पूर्व गम्भीर विचार कर लेना आवश्यक होगा। कहा जा

सकता है कि रूस मे जो कुछ हुआ उसके आधार पर मार्क्सवाद की विचारधारा को त्याज्य नहीं कहा जा सकता। यह तर्क सही है पर प्रश्न तो यह है कि रूस मे जो हो रहा है वह क्या केवल रूसी कम्यूनिस्टों की भूल है? उसके लिये क्या वे ही मूलतः उत्तरदायी हैं? मैं तो यह समझता हूँ कि वहाँ जो हुआ उसके लिये न वहाँ की कम्यूनिस्ट पार्टी जिम्मेदार है और न वह उनकी भूल का परिणाम है। भले ही किसी मामले में उन्होंने आवश्यकता से अधिक उत्साह या क्रूरता दिखाने की गलती की हो पर साधारणतः घटनाओ का वही प्रवाह होना अनिवार्य था जो वहाँ प्रकट हुआ है।

जब कहीं और जहाँ कहीं भी केन्द्रस्थ शासनसत्ता रहेगी और वह सत्ता स्वेच्छा-चारिणी तथा निरंकुश होगी और सारा अधिकार सूत्र उसके हाथो मे रहेगा और वह शस्त्र तथा शक्ति के आश्रय पर स्थापित होगी वहाँ घटनाओ की गति और परिस्थितियो का स्वरूप अनिवार्यतः कुछ वसा ही होगा जैसा रूस मे दिखाई देता है। यह संभव ही नहीं है कि जनवर्ग के मस्तक पर 'कर्तुम्-अकर्तुम् सर्वथा कर्तुम्' समर्थ सत्ता जम कर बैठी हो और फिर वह आर्थिक या राजनीतिक अथवा सामाजिक स्वतन्त्रता का उपभोग कर सके। यदि यह सच है तो रूस मे जो हुआ उसके लिए उत्तरदायी यह केन्द्रीकरण ही है। पर विचार करके देखिए कि इस केन्द्रीकरण के लिये उत्तरदायी कौन है?

मैं समझता हूँ कि केन्द्रीभूत व्यवस्था की स्थापना का उत्तरदायित्व रूसी कम्यूनिस्टों पर नहीं है। उन्होंने तो उस पद्धति का व्यावहारिक प्रयोगमात्र किया है जिसका प्रतिपादन और प्रवर्त्तन मार्क्सवाद करता है। फलतः मेरी दृष्टि में मार्क्सवाद ही केन्द्रीभूत व्यवस्था के लिये उत्तरदायी है। मार्क्सवाद के लिये स्वतः इस व्यवस्था का प्रतिपादन करने के सिवा दूसरा चारा ही नहीं है। उसकी विचारसरणि उसे ले जाती है उधर बढ़ने पर मार्क्सवाद उक्त स्थान पर पहुँचने के

लिये वाध्य है। मार्क्स यह मानते हैं कि समाज का आधार उत्पादन के साधन और उत्पादन की प्रणाली है। समाज का परिवर्तन उत्पादन के साधनों और उसकी प्रणाली मे होने वाले परिवर्तन के फलस्वरूप होता है और आदिकाल से लेकर आज तक मानव जगत् का ऐतिहासिक प्रवाह इसी प्रकार वहता और पलटता रहा है। उत्पादन के साधन और उसकी प्रणाली के परिवर्त्तन से आर्थिक सङ्गटन वदल जाता है और उसके फलस्वरूप समाज का सारा ढाँचा परिवर्तित हो जाता है। आधुनिक समाज को वदलने के लिये मार्क्स के सिद्धान्त के अनुसार उत्पादन के आधुनिक साधन और प्रणाली मे परिवर्तन करना आवश्यक होना चाहिए था। पर मार्क्सवाद उत्पादन के आधुनिक साधनों और उसकी आधुनिक प्रणाली को बनाए रखकर आधुनिक समाज के स्वरूप को वदल देना चाहता है। मार्क्सवाद स्वयम् अपने ही विचार और पद्धति में प्रस्तुत इस असङ्गति का शिकार हो गया है।

एक ओर मार्क्सवाद पूँजीवादी सामाजिक व्यवस्था को मिटाकर पूँजीपतिवर्ग के हाथ से उत्पादन के साधन छीन लेना चाहता है और दूसरी ओर उत्पादन की उस केन्द्रीभूत प्रणाली और व्यवस्था को वनाए रखना चाहता है जिसके गर्भ से पूँजीवाद का प्रजनन होता है। इसका परिणाम जो हो सकता है वह स्पष्ट है। जव उत्पादन की केन्द्रीकृत पद्धति रहेगी तो उसका सञ्चालन करने के लिये केन्द्रित व्यवस्था ही आवश्यक होगी। जव केन्द्रित-व्यवस्था रहेगी तव उसके उदर से केन्द्रित-शक्ति का आविर्भाव अनिवार्य है। आज पूँजीवादीवर्ग ही वह सञ्चालिका-शक्ति है जो केन्द्रित-उत्पादन प्रणाली और अर्थनीति का परिचालन करती है। उसे मिटा देने के वाद केन्द्रीभूत उत्पादन प्रणाली और अर्थनीति के सचालन के लिये केन्द्रस्थ शक्ति अनिवार्यत: आवश्यक होगी। इसी की पूर्त्ति के लिये मार्क्सवाद सर्वस्वाधिकारिणी अधिशासनसत्ता को प्रतिष्ठित कर देता है। केन्द्रस्थ, निरंकुश अधिनायक-

संस्था को अपनी रक्षा के लिये प्रचण्डशक्ति का केन्द्रीकरण करना ही होगा। रूस मे जो हुआ है और जो हो रहा है वह यही है। मार्क्सवाद के सम्मुख कोई दूसरी गति है ही नहीं। उसकी सारी पद्धति इसी दिशा की ओर उन्मुख है जो सर्वथा उसे उस आदर्श के विमुख ले जायगी जिसकी प्रतिष्ठा उसने कर रखी है।

मार्क्सवाद भूल गया कि आधुनिक पूँजीवादी व्यवस्था उत्पादन की यन्त्रिक प्रणाली के गर्भ से सम्भूत है। सम्प्रति पूँजीपतिवर्ग उस प्रणाली का संचालक और व्यवस्थापक है। व्यवस्थापक के परिवर्त्तन कर देने से पूँजीवाद का स्वरूप भले वदल जाय पर उसका समूल उन्मूलन नहीं हो सकता। यह तो वैसे ही हुआ कि उपसर्ग का उपचार कर दिया गया पर मौलिक रोग को जहाँ का तहाँ वने रहने दिया। मेरी धारणा है और जगत् का इतिहास सिद्ध कर रहा है कि वर्ग-मूलक अधिनायक सत्ता तथा केन्द्रस्थ सत्ता की शासन-पद्धति ने जर्जर, पतनोन्मुख पूँजीवादी व्यवस्था के शरीर मे जीवन डाल दिया, क्योकि उसे अपना प्राण वचाने के लिये नया मार्ग दिखाई दे गया। गत महायुद्ध के वाद के यूरोप का इतिहास निरंकुश अधिनायकवाद का ही इतिहास है। वोल्शेविक क्रान्ति के वाद यूरोप के प्रायः सभी देशो मे मार्क्सवादी विचारो की धारा फूट वही। जर्मनी, आस्ट्रिया, इटली, स्पेन, वालकन्स आदि प्राय: सभी प्रदेशों मे मजदूर-जन-क्रान्ति की चेष्टाएँ की गई। यद्यपि रूस का आदर्श इन देशों के सामने था तथापि युद्धोत्तर विश्व मे हम सर्वत्र फासिटीवादी अधिनायक सत्ताओं का उदय देखते हैं। मैं समझता हूँ कि रूस ने जो मार्ग मजदूरो को दिखाया वही पथ पूँजीपतियो ने भी देखा। उन्होने देखा कि वर्गमूलक अधिनायक सत्ता सारी शक्ति का केन्द्रीकरण करके निरंकुशतापूर्वक सारे सूत्रों का संचानल करने मे ही सफल नहीं होती है और न केवल वर्गस्वार्थों की संसिद्धि करने मे समर्थ होती है वरन् अपार वल की अधिकारिणी भी हो जाती है। रूस मे अधिनायक सत्ता की सफलता उन्होने देखी, केन्द्रित शक्ति और केन्द्रित हिंसा की सार्थकता भी

देखी। अपने अस्तित्व और अपने हित के लिये उठते हुए भयानक खतरे को भी देखा। फलतः उनको रक्षा के लिये उसी पथ को पकड़ना उचित समझा जिसे ग्रहण करके रूस का मार्क्सवादी प्रयोग मजदूरो की अधिनायक-सत्ता स्थापित करने मे समर्थ हुआ था।

दो विरोधी वर्गों मे हुए संघर्ष मे पूँजीवादीवर्ग विजयी हुआ और उर्युक्त देशो में फासिटी-अधिनायकवाद विविध रूपो मे प्रतिष्ठित हो गया। हिंसात्मक पद्धति की प्रतिक्रिया भी हिंसात्मक ही हो सकती थी। फलत. फासिटी-अधिनायकवाद हिसा के घृणिततम रूप का प्रतीक बन गया। तृतीय 'इन्टर नेशनल' की विश्व-विद्रोह की कल्पना कल्पना ही रह गई। विश्व भर मे मजदूर-क्रान्ति-सम्बन्धी मार्क्स की भविष्यवाणी पहले ही असिद्ध हो चुकी है। उनके कथनानुसार औद्योगिक दृष्टि से उन्नत देशो मे मजदूरक्रान्ति का प्रादुर्भाव पहले होना चाहिए था, पर प्रथम सफल क्रांति हुई रूस मे जो औद्योगिक दृष्टि से पिछडा हुआ था। युद्ध के बाद रूस के सिवा और जिन देशो मे प्रयास किया गया वहाँ उल्टी ही प्रतिक्रिया हुई। इस स्थिति मे यदि मै यह कहूँ कि रूस का प्रयोग उन साधनो को ग्रहण करके हुआ जिससे लक्ष्य का ही विलोप हुआ चाहता है तो कोई अनुचित न होगा। केन्द्रीकरण की जिस प्रवृत्ति पर पूँजीवाद अवलम्बित है उसी प्रवृत्ति का चरम विकास मजदूर-अधिनायक-सत्ता अथवा फासिटी अधिनायकवाद मे दिखाई देता है। जिस केन्द्रीकरण के द्वारा मार्क्स-वाद एक वर्ग के हित को विनष्ट करके वर्गहीन समाज की स्थापना करना चाहता है उसी प्रवृत्ति को ग्रहण करके दूसरा वर्ग फासिटीवाद के रूप मे अधिकार और शक्ति को अपने हाथो मे केन्द्रित करके जन-समाज को निर्दलित और त्रस्त करने में समर्थ होता है। दूसरे शब्दो मे कह सकते हैं कि वर्ग-भेद मिटाने के लिए वर्गमूलक रोष, क्षोभ और द्रोह की आग को भड़का कर, शासन-सत्ता के विलाप के लिये निरकुश स्वच्छन्द और सर्वाधिकारिणी सरकार की स्थापना कर, तथा वर्गहित के लिये होने वाले शोषण और दलन को मिटाने के लिये वर्गहित

को ही सर्वोपरि स्थान देकर मार्क्सवाद अपने लक्ष्य को सिद्ध करना चाहता है। फलत घटनाओ का वह स्वरूप होना अनिवार्य था जो रूस मे हुआ।

इसी लिये मेरा यह कहना है कि रूस मे जो हुआ वह परिणाम है मार्क्सवादी पद्धति का जिसे ग्रहण करने के बाद सिवा उसके दूसरी गति हो ही नहीं सकती थी। इस बात को सुनकर कम्यूनिस्ट भले ही क्षुब्ध हो जायँ पर जो कहा गया है वह कठोर सत्य है। मार्क्सवाद जिस साध्य को सामने रखता है उसे प्राप्त करने के लिए अनुकूल साधन न ग्रहण कर सका। प्रकाश की उपलब्धि के लिये यदि अन्धकार की सृष्टि की जायगी तो भला अभीष्ट लक्ष्य कब पूरा किया जा सकता है? साध्य और साधन सम्बन्धी इस प्रश्न की ओर मार्क्स की दृष्टि भी सर्वथा भिन्न है। वह यह विश्वास करता है कि साध्य का निर्धारण कर लेना मुख्य है और फिर उसकी प्राप्ति के लिये किसी भी प्रकार के साधन को ग्रहण कर लेने मे कोई आपत्ति नहीं है। वह यह भूल जाता है कि साधन यदि उपयुक्त और अनुकूल न होंगे तो निर्धारित लक्ष्य की सिद्धि असम्भव हो जायगी। दूसरी ओर उचित साधन का निर्धारण यदि हो जाय तो साध्य की सिद्धि स्वतः सिद्ध है। साध्य-साधन सम्बन्धी इस असंगति का ही परिणाम यह है कि मार्क्सवादी पद्धति से वह लक्ष्य ही विलुप्त हुआ चाहता है जिसकी प्राप्ति के लिये उसका प्रतिपादन किया गया था। उसका लक्ष्य यदि जगत् मे वर्गहीन समाज की स्थापना करना है तो वह पथ पकडता है वर्गभाव, वर्गहित, वर्गस्वार्थ और वर्गसंघर्ष भड़का देने का। उसका लक्ष्य यदि हिंसा के आश्रय पर स्थापित किसी एक वर्ग की प्रभुता का नाश करना है तो उसने पद्धति ग्रहण की दूसरे वर्ग की प्रभुता हिंसा के द्वारा स्थापित कर देने की। सहयोग, स्नेह और सामूहिकता के आधार पर समाजवाद जिस नूतन जगत् की रचना करना चाहता है, तथा व्यक्तिगत और वर्गमूलक स्वार्थो का त्याग कर सामूहिक सुख और हित के लिये अपने को उत्सर्ग कर देने के योग्य

जिस मनुष्य को बनाना चाहता है, उस मनुष्य और उस समाज की रचना भला उस पद्धति से कैसे हो सकती है जो वर्गद्रोह और वर्गस्वार्थ की आग भड़काने मे ही अपनी सारी शक्ति लगा देती है।

पूँजीवाद उत्पादन की जिस यान्त्रिक प्रणाली और यान्त्रिक साधनो का परिणाम है उसे बनाए रख कर पूँजीवादी समाज का और उन समस्त दोपो का जिनका सर्जन पूँजीवादी व्यवस्था के गर्भ से होता है कैसे किया जा सकता है। अधिकार और शक्ति के चरम केन्द्रीकरण के फलस्वरूप आज जिन सरकारो का उदय होता है और जिनके फलस्वरूप जनसमाज अपने अधिकार और अपनी स्वतन्त्रता से वचित होता है वही जनसमाज वर्ग-विशेप की सर्वाधिकारिणी अधिनायकसत्ता प्रतिष्ठित करके कैसे परावलम्बन और परतन्त्रता से मुक्ति पावेगा। हिंसा और पशुबल के द्वारा शक्तिसत्ता पर जो अधिकार स्थापित करेगा वह हिंसा और शस्त्र के द्वारा ही रक्षा भी करेगा। मार्क्सवाद कैसे यह आशा करता है कि हिसा और दमन के आधार पर स्थापित व्यवस्था ऐसे समाज की रचना करने मे समर्थ होगी जिसमें हिसा और दलन का तिरोभाव हो जायगा ? स्मरण रखने की वात है कि मजदूरो की अधिनायक-सत्ता वर्गमूलक सरकार ही होगी। यह वर्गमूलक सरकार अपने विरोधियो और विरोधी वर्गों का लोप शस्त्र और शक्ति द्वारा ही करने की चेष्टा करेगी। इतिहास और अनुभव तथा मनुष्य के स्वभाव का स्वरूप सिद्ध करता है कि हिंसा की प्रतिक्रिया हिसा से ही हो सकती है। ऐसी स्थिति मे मजदूर सत्ता को या तो स्थायी बनाना होगा, जिसमे सदा शस्त्र के द्वारा विरोधी वर्गों का दलन करना सम्भव हो सके अथवा विरोधी वर्ग को पनपने का मौका देना होगा। यदि विरोधी वर्ग को पनपने का अवसर मिला तो वर्ग के विरुद्ध वर्ग का संघर्ष निरन्तर होता रहेगा। इस स्थिति मे या तो अधिनायक सरकार बनी रहेगी या समाज मे वर्गभेद वना रहेगा।

यदि अधिनायकवादी सरकार वनी रही तो जनसमाज के अधिकार

और उसकी स्वतन्त्रता की कल्पना करना भी विजातीय है। आश्चर्य होता है मार्क्स की इस धारणा पर कि एकबार जो समूह, वर्ग या गुट समाज का सूत्रधार और सर्वाधिकारी बन जायगा तथा शस्त्र द्वारा अपनी सत्ता को बनाए रखने की नीति को ग्रहण करेगा वह किसी समय स्वेच्छा से सारी शक्ति, अधिकार और प्रभुता का विसर्जन कर देगा—मानव स्वभाव के इस उत्तमांश मे मार्क्स को कैसे विश्वास हो गया? यदि गाँधी जी यही बात कहते तो मैं समझ सकता था। उनका विश्वास है कि मनुष्य में वह अन्तश्चेतना और नैतिक प्रवृत्ति निहित है जो निसर्गतः सत्य और सुन्दर की ओर अहिंसा और उत्सर्ग की ओर अभिमुख रहती है। मानव प्रकृति की इस विशेषता मे विश्वास ही गाँधीजी की सारी विचारधारा का मूलस्रोत है। मार्क्सवाद के मत से पारमार्थिक दृष्टि मे ऐसा विश्वास विशुद्ध कल्पना और भ्रांति ही है। मनुष्य उसकी दृष्टि मे उन भौतिक परिस्थितियों की प्रतिच्छायामात्र है जिनसे वह आवेष्टित है। फलत प्रभुशक्ति और अधिकार से आवेष्टित गुट जो वर्गस्वार्थों की पूर्ति के लिये दूसरे वर्ग के निर्दलन मे लगा है किस प्रकार एक दिन उत्सर्ग के पथ का यात्री हो जायगा? स्वयं मार्क्स भी यह कहते हैं कि किसी सामाजिक-सङ्घटन मे एक वर्ग ऐसा उत्पन्न हो जाता है जो शासक होता है। इस भांति जो शासनसत्ता आविर्भूत होती है उसमे अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिये जीवनी-शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है। इस शक्ति के सहारे यह सत्ता उस समय भी जीवित रह जाती है और रहने की चेष्टा करती है जब उसका आधारभूत सामाजिक संघटन और आर्थिक व्यवस्था भरभरा कर गिरती और बदलती रहती है।

शासकवर्ग का वर्त्तमान व्यवस्था मे अपना स्थिर स्वार्थ रहता है। उसकी रक्षाके लिये तथा जो है उसे बनाए रखने की इच्छासे वह अपनी सारी शक्ति का उपयोग करता है। परिस्थिति परिवर्त्तन की माँग करती और परिवर्त्तन की विरोधी शक्तियाँ इस माँग का प्रतिरोध करती हैं।

फलतः संघर्ष का सर्जन होता है जिसके गर्भ से रक्तपूरिता क्रान्ति का उद्भव होता है। मार्क्स की इस विवेचना के प्रकाश मे क्या यह नहीं पूछा जा सकता कि मजदूर अधिनायक सत्ता जिस शासकवर्ग का प्रजनन करेगी उसका स्वार्थ क्या वर्त्तमान व्यवस्था मे स्थिर न हो जायगा ? क्या उस व्यवस्था को बनाए रखने के लिये वह अपनी सारी शक्ति से सचेष्ट न होगा ? जब आधारभूत सामाजिक संघटन की आर्थिक व्यवस्था भी वदलती रहेगी, उस समय भी क्या वह अपनी जीवनी-शक्ति के सहारे टिके रहने मे सफल न होगी ? जब वह स्थिति आवेगी जिसमे शासन-सत्ता के विलोप की मॉग होगी उस समय उसका प्रचड प्रतिरोध करने मे क्या शासक-वर्ग संलग्न न होगा ? क्या फिर दूसरी क्राति की आवश्यकता उत्पन्न न होगी ? यदि मार्क्स के उपर्युक्त तर्क सत्य हैं तो यह कल्पना कि वह शासनसत्ता जो शस्त्र और शक्ति, निरंकुशता और स्वच्छन्दता, वर्गहित और वर्ग-प्रभुता के आधार पर उद्भूत होगी, एक दिन स्वयं विलुप्त हो जायगी, नितान्त भ्रान्त है। और यदि उनकी यह कल्पना सत्य है तो उनके उपर्युक्त तर्क भ्रान्त हैं। विचारो मे यह कैसी असङ्गति है ?

इन बातों से स्पष्ट है कि मार्क्स की दृष्टि और पद्धति ही स्वतः उस आदर्श के प्रतिकूल थी जिसे वह अपने सम्मुख स्थापित करते हैं। या तो उनका आदर्श आकाश-कुसुम की भाति विशुद्ध कल्पना है अथवा उनकी पद्धति ही गलत है जो वहाँ तक ले नहीं जा सकती। वर्गहीन समाज को स्थापना और शासन-सत्ता का सर्वथा लोप यदि लक्ष्य है तो वहाँ तक पहुँचने की मार्क्स द्वारा प्रतिपादित पद्धति उलटी है।

स्वय उनके तर्क और रूस मे जो हुआ है वह हमें उपर्युक्त परिणाम पर पहुँचाता है। आज रूस की स्थिति और गत पचीस वर्षों का इतिहास इसी का साक्षी है। मार्क्स के दार्शनिकमत के आधार पर यहाँ एक प्रश्न और उठता है। उनके कथनानुसार जब कोई समाज अपनी सफलता की पराकाष्ठा पर पहुँचता है तो उसी क्षण से वह विरोधशक्ति जो निसर्गत उसी मे सन्निहित है उसकी जड़ खोदने लगती है। दूसरे शब्दो

मे कह सकते है कि कोई समाज अपनी सफलता के द्वारा अपने विनाश का पथ प्रशस्त कर देता है यही वह प्राकृतिक "द्वन्द्वात्मक" प्रक्रिया है जो मार्क्स के दार्शनिक विचार का आधार है। क्या यह पूछा जा सकता है कि जिस क्षण समाज वर्गहीनता की उपलब्धि करता दिखाई देगा उसी क्षण से उसके विनाश की प्रक्रिया आरम्भ हो जायगी या नहीं? वर्गहीन समाज का प्रतिरोधी तत्त्व, उसका प्रतिवाद और उसकी प्रति-शक्ति उसी के गर्भ मे तो होगी। आखिर द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया का अजस्र प्रवाह वर्गहीनता का विनाश करके समाज को कहाँ और किधर ले जायगा? मानव समाज उन्नति की इस उच्चतम स्थिति को प्राप्त करने के बाद किस ओर को झुक जायगा, इस विषय मे मार्क्सवाद मौन है। इसके आगे सम्भवत उसे प्रकाश दिखाई नहीं देता। मार्क्सवाद यदि अन्धकार मे है तो उसे उसी स्थिति मे पड़े रहने दीजिए। पर यह प्रश्न तो किया ही जा सकता है कि रूसी प्रयोग अपने ही विनाश का पथ प्रशस्त कर रहा है? क्या वह ऐसे लक्ष्य की ओर अभिमुख है जो न केवल अस्थिर और अस्थायी है, वरन् जिसे व्यावहारिक रूप देने का प्रयास स्वयं उसके विनाश का कारण होने वाला है।

ऐसे वातावरण मे जब मानव-जाति को कोई मार्ग दिखाई न दे रहा हो, गाँधी एक नयी पद्धति लेकर उपस्थित होता है। मार्क्सवाद जहाँ भ्रान्ति मे पड़ जाता है, जहाँ अपने विचार और कार्य-पद्धति मे घोर असङ्गति उत्पन्न कर देता है वहीं गाँधी सीधी-सादी दृष्टि ग्रहण करके प्रश्न के मूल का भेदन करता दिखाई देता है। वह कहता है कि जगत् के कल्याण का यही एक उपाय है कि जीवन और समाज की रचना उन उज्वल नैतिक तथा आध्यात्मिक तत्त्वो पर की जाय जो मनुष्य के शुभांश को जागरित करते हैं। इसी को वे दूसरे शब्दो मे यह कह कर व्यक्त करते हैं कि जीवन और समाज की रचना अहिंसा के आधार पर की जाय। लोकतन्त्र हो या समाजवाद, इन आदर्शों की कल्पना मे मनुष्य की अहिंसक ... की ही झलक है। फलतः उनका सच्चा उदय तभी हो सकता

है जब उनकी प्रतिष्ठा अहिसा के आधार पर हो और उसकी उपलब्धि के लिए तदनुकूल अहिसक पथ का अवलम्बन किया जाय। विपरीत दिशा पकड कर गतिशील होना अनिवार्यत: आदर्श के विमुख जाना है। गाँधीजी यह स्वीकार करते हैं कि अहिसा के आधार पर नव समाज की रचना करने के लिए यह आवश्यक है कि जगत् की आज की सारी व्यवस्था और स्थिति बदल जाय। बदल जाय इसलिये कि आज का सारा सङ्गटन, विधि और प्रवृत्ति हिंसा पर ही आश्रित है। इस परिवर्त्तन के लिये गाँधीजी जहाँ एक ओर परिस्थिति को बदल देना जरूरी समझते हैं वहीं दूसरी ओर मनुष्य को बदल देना भी आवश्यक समझते हैं। मार्क्सवाद की भांति उनकी दृष्टि मे मनुष्य केवल परिस्थिति की प्रतिच्छाया-मात्र नहीं है। उन्हें मनुष्य के अन्तर्लोक मे चेतन की स्वतन्त्रसत्ता प्रतिष्ठित दिखाई देती है। वह स्वीकार करते हैं कि परिस्थिति जीवन को प्रभावित करती है पर साथ ही यह भी मानते हैं कि जीवन की स्वतन्त्रचेतना परिस्थिति के निर्माण का प्रमुख तत्त्व है। इन दोनों का अस्तित्व है और दोनो का सम्वन्ध अन्योन्याश्रय है।

फलत. किसी की भी उपेक्षा करने से काम नहीं चल सकता। गाँधीजी की पद्धति जहाँ नयी परिस्थिति उत्पन्न करना चाहती है, वहीं उस मानव की चेतना के उद्बोधन का प्रयास भी करती है जो सहज ही शिवोन्मुख है। वे मानते हैं कि इस उद्बोधन के विना अपेक्षित परिस्थिति की उत्पत्ति सम्भव न होगी। समाज की व्यवस्थाएँ और विधान जीवन के द्वन्द्वात्मक भाव के शुभाशुभ को प्रतिविम्बित करते हैं। यदि शुभ का जागरण न होगा तो उत्तम से उत्तम व्यवस्था का दुरुपयोग करने मे मनुष्य सकोच न करेगा। फलत' मनुष्य को वदले विना समाज का वास्तविक परिवर्तन नहीं हो सकता। मनुष्य-चेतना की स्वतन्त्रता को स्वीकार न करके मार्क्सवाद भूल करता है। वह जीवन और समाज की गतिविधि की सारी व्याख्या केवल आर्थिक दृष्टि से करके अर्थ को अनावश्यक और भयावह रूप से महत्त्व प्रदान कर देता है। एक ओर अर्थ

को ही इतनी महिमा प्रदान करना और दूसरी ओर मनुष्य को अर्थलिप्सा से ऊपर ले जाने की चेष्टा करना परस्परविरोधी बातें हैं। यदि मनुष्य समाज के विकास का मूल कारण मनुष्य का आर्थिक स्वार्थ रहा है, यदि जीवन मे वही सत्य और तथ्य रहा है तो भला कोई क्यों अपने आर्थिक स्वार्थ को समूह के कल्याण के लिये उत्सर्ग कर देगा ?

मार्क्सवाद समझता है कि शस्त्र के सहारे सबके आर्थिक स्वार्थों का दमन और उन्मूलन करके केन्द्रस्थ अधिनायक-सत्ता आर्थिक दृष्टि से स्वार्थहीन समाज की स्थापना कर देगी। प्रश्न होता है कि शस्त्र के द्वारा क्या आप किसी को स्वार्थहीन बना सकते हैं ? और वह भी उस हालत में जब आपके ही कथनानुसार सारा जीवन और आपका सारा जगत् आर्थिक स्वार्थों का ही परिणाम है। मैं जानता हूँ कि मार्क्सवाद कहेगा कि शस्त्र के द्वारा एक बार परिस्थिति बदल देने पर मनुष्य स्वत बदल जायगा। पर क्या यह धारणा ही भ्रान्त नहीं है कि मनुष्य केवल परिस्थितियों से ही उत्पन्न पदार्थ है ? यदि यही सत्य होता तो मनुष्य उस परिस्थिति को बदलने के लिये कभी उत्प्रेरित न होता जिससे वह परिवेष्टित है। यदि वह स्वयं भी कुछ होता तो अपने चारो ओर की परिस्थिति मे क्षोभ का अनुभव न करता, उसे उसमे अन्याय की गन्ध न मिलती, उसे पलट कर नयी व्यवस्था की स्थापना मे सुन्दर भविष्यत् की कल्पना न करता। उसके प्रयास और प्रेरणा के मूल मे उसकी अपनी चेतना ही कारण है। पर थोड़ी देर के लिये यदि यही स्वीकार कर लिया जाय कि मनुष्य परिस्थिति का प्रतिबिम्बमात्र है तो भी समस्या हल नहीं होती। हिंसात्मक अधिनायक-सत्ता जब "ऊर्ध्वमूलमध.शाखा" के रूप में प्रतिष्ठित होगी तो क्या उसकी अधोमुख शाखाएँ हिंसा से ओत-प्रोत न होगी ? और क्या उसकी छाया मे जो परिस्थिति उत्पन्न होगी वह भी हिंसा के रंग मे ही रँगी न होगी। यदि वही परिस्थिति मनुष्य का निर्माण करेगी तो कैसे मनुष्य की व्युत्पत्ति होगी ? विचारणीय इसलिये भी है कि रूस मे यद्यपि अधिनायक सत्ता स्थापित हो गई, व्यक्तिगत सम्पत्ति

का समाजीकरण कर डाला गया, उत्पादन, विनिमय आदि के साधनों का भी राष्ट्रीकरण हो गया, मजदूर-विरोधी-वर्गों का दमन भी कर डाला गया, पर स्वार्थहीन, वर्गहीन, हिंसाविहीन समाजवादी समाज की स्थापना न हो सकी।

मार्क्सवाद का तो यह दावा है कि उपर्युक्त परिस्थिति उत्पन्न कर देने के बाद समाज अनिवार्यतः वर्गहीनता की ओर बढ़ेगा। आज यह स्पष्ट हो गया है कि वह अनिवार्यता अनिवार्य नहीं है। आप देख सकते हैं कि इच्छानुकूल परिस्थिति की रचना कर देने पर भी ऐसे लोगो तक का परिवर्त्तन नहीं किया जा सका जो क्रान्ति के नेता, करोड़ो नर-नारियो के जीवन-निर्माता तथा परिस्थिति के जनक थे। लेनिन की मृत्यु के बाद से लेकर अब तक कितने नेताओ को इस अपराध मे प्राण-दण्ड दिया गया है कि वे किए-कराए तमाम काम को ही मटियामेट करना चाहते थे। आखिर स्टालिन ने ट्राटस्की और बुखारिन सदृश उद्भट नेताओ से लेकर न जाने कितने छोटे-मोटे सहकर्मियों तक को यमलोक क्यो भेज दिया? उन्हें यह आवश्यकता क्यो प्रतीत हुई कि क्रान्तिकाल के प्राय सभी साथियो को समाप्त कर डालें? आखिर बात क्या है? यदि स्टालिन का कहना सत्य है तो मानना होगा कि ट्राटस्की के सदृश लोग, जो दुनिया को बदलने चले थे, और जिन्होंने उस लक्ष्य को लेकर धरती को रुधिर से लाल कर दिया था, स्वयं ही भ्रष्ट थे। जब वे स्वयं नहीं बदल सके थे तो जगत् को कैसे बदलते? यदि स्टालिन द्वारा उनपर लगाया गया अभियोग मिथ्या है तो कहना होगा कि स्टालिन स्वयं अधिकार-लोलुप और और शक्ति-पूजक है। अपनी सत्ता को बनाए रखने के लिये अपने साथियो पर झूठा अभियोग लगाकर उनकी हत्या कर डाली। और अपना मार्ग निष्कण्टक कर लिया। जो भी हो, इतना तो स्पष्ट है कि स्टालिन की दृष्टि में और उन्हें मार्क्सवाद की जीवित प्रतिमा समझने वाले कम्यूनिस्टो की दृष्टि मे तीन को छोड़कर रूसी क्रान्तिके समस्त महामान्य नेता विश्वासघाती, क्रान्तिद्रोही और स्वार्थी थे। परिस्थिति के

प्रवर्त्तक अपनेही द्वारा उत्पन्न परिस्थिति से जब बदल न सके तो साधारण जन-जीवन के बदल जाने की आशा कैसे की जा सकती है?

इसी कारण गाँधीजी दूसरे कोने से अग्रसर होते हैं वह मनुष्य की नैतिक अहिंसक वृत्तियों को प्रबुद्ध करके उसे बदल देना चाहते हैं। मनुष्य यदि बदल गया तो उसका समाज भी बदल जायगा। मनुष्य के बदल जाने की सम्भावना मे सन्देह नहीं किया जा सकता। मार्क्स भी यह स्वीकार करते है कि सारा इतिहास मानव स्वभाव के क्रमिक परिवर्त्तन के सिवा और कुछ नहीं है। इसी उद्देश्य से गाँधीजी यह विधान करते है कि न्याय तथा सत्य के लिये स्वेच्छा-तप और कष्टसहन के मार्ग का अवलम्बन करके मनुष्य अपनी शुद्धि कर सकता है और अपने बलिदान द्वारा दूसरों के हृदयस्थ नैतिक भावो को झकृत कर सकता है। यही पथ है जो मनुष्य को अधिकाधिक मानवीय बनाने मे समर्थ होगा। मनुष्य के साथ-साथ नव-समाज की रचना के लिये भी वे नयी-दृष्टि और नया आधार उपस्थित करते हैं। आज की आर्थिक और राजनीतिक दुर्व्यवस्था की जड़ मे वह केन्द्रीकरण की उस प्रवृत्ति को मुख्यत उत्तरदायी समझते हैं, जिसका विकास उत्पादन की यान्त्रिक प्रणाली के द्वारा हुआ है। आर्थिक क्षेत्र मे उत्पादन, उसके साधन, उसकी वह प्रणाली केन्द्रित हुई, जिसके फलस्वरूप राजनीतिक शक्ति भी केन्द्रित हो गई। राजनीतिक शक्ति का केन्द्रीकरण अनिवार्यतः हिंसा को केन्द्रित करता गया। इस स्थिति में जनवर्ग का आर्थिक शोषण और राजनीतिक स्वत्वापहरण निश्चित है। मार्क्सवाद यद्यपि आर्थिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता की उपलब्धि को ही आदर्श मानता है तथापि उत्पादन की केन्द्रित प्रणाली और केन्द्रित साधन को बनाए रखना चाहता है। स्वभावत उसे केन्द्रित राजसत्ता का अवलम्बन करना पडता है और उसकी रक्षा के लिये केंद्रित हिंसा और शक्ति का आश्रय ग्रहण करने के लिये बाध्य होना पड़ता है। ऐसी दशा मे वह लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता।

गाँधी जी यहीं मार्क्स से आगे जाते हैं। वे कहते हैं कि समाज

की प्रतिष्ठा यदि अहिंसापर करनी है, यदि जनवर्ग को आर्थिक तथा राजनीतिक समानता तथा स्वतन्त्रता प्रदान करनी है, तो उसका एक-मात्र उपाय यह है कि उत्पादन के साधन को भी विकेन्द्रित कर दिया जाय। विकेन्द्रीकरण इस प्रकार हो कि उत्पादन के साधन केवल वैधानिक दृष्टि से नहीं वरन् प्रत्यक्षत उत्पादक के अधिकार में हो। इस व्यवस्था से उत्पादन की पद्धति स्वतः विकेन्द्रित हो जायगी। इस प्रकार जब उत्पादन के साधन और उसकी पद्धति मे परिवर्त्तन होगा तभी आधुनिक समाज का स्वरूप वदलेगा। मार्क्सवाद स्वयम् यह कहता है कि समाज का परिवर्त्तन उत्पादन के साधन तथा उसकी पद्धति मे समय-समय पर होनेवाले परिवर्तनका परिणाम है। तात्पर्य यह कि नये समाज की रचना करने के लिये उत्पादन की पद्धति और साधन में परिवर्त्तन करना अनिवार्यतः अपेक्षित है। मार्क्सवाद समाज रचना करते समय आश्चर्यजनक रूप से इस सिद्धान्त को विस्मृत कर देता है। वह दुनिया को, मानव समाज को, उसकी व्यवस्था और दृष्टि को वदल देने का प्रयास करता है पर उत्पादन के साधन और उसकी प्रणाली को ज्यो का त्यों बनाए रखता है। वह जो करता है वह केवल यही है कि आज के सञ्चालक वदल जायॅ और उनका स्थान दूसरा वर्ग ग्रहण करे। परिणाम यह होता है कि उत्पादन के आधुनिक तरीको को वनाए रखने के फल-स्वरूप केन्द्रीकरण की उस प्रवृत्ति और पद्धति को कहीं अधिक उग्र तथा तीव्र बना देना आवश्यक हो जाता है जो पूॅजीवादी व्यवस्था की जननी तथा उसकी प्राणसञ्चारिणी है।

आज यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि पूॅजीवाद केन्द्रीकरण को चरम सीमा तक पहुॅचाने मे व्यस्त है क्योंकि जगत् की वर्तमान स्थिति मे उसे अपने अस्तित्व की रक्षा के लिये वही एकमात्र और अन्तिम उपाय दिखाई दे रहा है। फासिटी व्यवस्थाऍ स्थिर स्वार्थी वर्गों के उसी प्रयास और नीति के परिणाम हैं। मार्क्सवाद यद्यपि पूॅजीवाद का शत्रु है तथापि वह उपर्युक्त केन्द्रवाद का सब से बड़ा पोषक और समर्थक है। वह यह भूल जाता है कि केन्द्रवाद सम्प्रति सारे अनर्थ का मूल हो रहा है। उसके

व्यूह को तोड़े बिना न समाजवाद का उदय होगा न वर्गहीन समाज का और न सच्चे लोकतन्त्र का। आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक स्वतंत्रता तथा अधिकार का सम-उपभोग, जनवर्ग, तबतक कर ही नहीं सकता जबतक समस्त आर्थिक राजनीतिक और सामाजिक शक्ति तथा अधिकार-सत्ता का विकेन्द्रीकरण न हो जाय। पूँजीवाद शक्ति और अधिकार के केन्द्रीकरण पर ही अवलम्बित है और यही कारण है कि वह जन-वर्ग के शोषण और दलन का साधक हो रहा है यदि उसका मूलोच्छेद मानवता के विकास और उत्थान के लिये आवश्यक है तो उस केन्द्रीभूत यांत्रिक उत्पादन की प्रणाली पर ही कुठाराघात करना होगा जिसका परिणाम ही पूँजीवाद है। मार्क्सवाद यही नहीं करता पर गाँधी अपनी पद्धति से उसी पर चोट पहुँचा रहा है। उत्पादन के साधन और उसकी प्रणाली को आमूल परिवर्तित करके वह उस विकेन्द्रीकरण की ओर बढ़ना चाहता है जिस में जन-वर्ग आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी और उत्पादन का स्वामी बन सके। इस प्रकार आर्थिक स्वतंत्रता के आधार पर गाँधीजी नीचे से ऐसे समाज की रचना करना चाहते है जिसमे व्यक्तिगत और.सामाजिक जीवन किसी बाह्य सत्ता के हस्तक्षेप से यथासम्भव मुक्त हो। वही स्थिति हो सकती है जब सच्ची राजनीतिक और सामाजिक स्वतंत्रता तथा समता का उद्भव होगा। गाँधी को समाजवाद तथा लोकतंत्र का उदय उसी दशा मे सम्भव दिखाई देता है। यही है उसकी तद्विषयक नयी कलपना।

शक्ति-सम्पन्न केन्द्रस्थित अधिनायक-सत्ता की स्थापना कर के आर्थिक और राजनीतिक संघटन का सारा संचालन उसके हाथ मे सौंप देने के बाद यह आशा करना कि एक दिन वह स्वयम् सारी शक्ति का विसर्जन करके अपने को अमूर्त कर देगी ऐसी प्रचण्ड प्रवचंना है जिसकी मिसाल भी मिलना मुश्किल है। गाँधी न ऐसी भ्रान्ति का शिकार है और न असगति का। वह सीधे और सरल ढंग से आर्थिक उत्पादन की प्रक्रिया के विकेन्द्रीकरण का आयोजन उपस्थित करता है जिसके फल राजनीतिक शक्ति के विकेन्द्रीकरण की आशा की जा सकती है

समानता और स्वतंत्रता का विकास नीचे से होना चाहिए जो ऊपर से लदने वाली शक्ति-सत्ता को क्रमशः निष्क्रिय और अनावश्यक बनाते हुए एक दिन निर्जीव कर दे। जगत् के भावी समाज को सच्चा समाजवाद तथा लोकतंत्रवादी समाज बनाना उसी स्थिति मे सम्भव है जब समाज और व्यक्ति का जीवन अहिसा के आधार पर प्रतिष्ठित किया जाय। अहिंसा को समाज का आधार बनाने की पहली शर्त यह है कि अधिकार तथा शक्ति-सत्ता को यथासंभव अधिक से अधिक विकेन्द्रित कर दिया जाय। गाँधी विकेन्द्रीकरण की वही योजना उपस्थित करता है। एक ओर मनुष्य का हृदय प्रवुद्ध तथा नैतिक भावनापन्न हो और दूसरी ओर समाज की व्यवस्था ऐसी हो कि उससे संभूत वातावरण और परिस्थिति अहिंसात्मक वृत्तियों से ओत-प्रोत हो। इस प्रकार जिस जीवन और जिस जगत् का निर्माण होगा वह मानव समाज को स्वतंत्रता, समानता और शान्ति प्रदान कर सकेगा।

आज तो उत्पादन की प्रक्रिया और वे साधन, जिनका काम था जीवन की रक्षा तथा समाज के सुख की वृद्धि के लिए आवश्यक पदार्थों का निर्माण करना, विनाश-संभार की उत्पति करने मे संलग्न हो रहे है। वह राज-सत्ता जिसकी उपयोगिता और सार्थकता व्यक्ति तथा समाज के नैसर्गिक अधिकारो की रक्षा में है आज उसके निर्दलन और त्रास का साधन हो गया है। इस सकट से मानवता का उद्धार करने के लिये यूरोप मे हुए अब तक के प्रयोग विफल हुए-से प्रतीत हो रहे हैं। उनकी स्थिति "अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा." की ही दिखाई दे रही है। आज अवसर उपस्थित है जब जगत् के विचारशील व्यक्तियो तथा मनीषियों को सेगाँव के इस संत की ओर ध्यान देना चाहिए, पक्षपात, हठधर्मी तथा दुराग्रह और विचार-विशेष के प्रति अपने अंधप्रेम को छोड़कर यह देखना चाहिए कि क्या उसकी पारदर्शी दृष्टि समस्या के मूल तक नहीं पहुँच रही है और क्या उसके सुलझाव का जो उपाय वह उपस्थित कर रहा है वह अधिक सजीव, उपयुक्त और मौलिक नहीं है।

फासिटीवादी प्रयोग

फासिटीवाद या नाजीवाद के नाम से यूरोप की भूमि पर जो जघन्य प्रयोग गत दो दशको से आरम्भ हुआ रहा उसकी तुलना गाँधीजी के विचारों और उनकी शैली से करना वैसे ही है जैसे अन्धकार की तुलना प्रकाश से अथवा पशुता की मानवता से की जाय। उन दोनो मे आकाश पाताल का अन्तर है। फासिटीवाद या नाजीवाद को प्रयोगात्मक पद्धति के रूप मे चित्रित करना भी अनुचित है। मैं समझता हूँ कि वह प्रयोग नहीं प्रतिशोध की भावना से प्रवर्तित प्रचण्ड चीत्कार है जिसकी रोमांचक ध्वनि से धरती कम्पित हो चुकी है। वह पूँजीवादी पाप की पराकाष्ठा से सम्भूत प्रतिक्रिया है जो बर्बरता की ओर मानव समाज के प्रत्यावर्तन का परिचायक है। जो लोग मार्क्सवादी दृष्टि से फासिटीवाद की विवेचना करते हैं वे कहते हैं कि मरणोन्मुख पूँजीवादी व्यवस्था अपनी अन्तर्निहित विरोधी शक्तियो के द्वारा त्रस्त होने के उपरान्त अपने अस्तित्व की रक्षा के लिये अन्तिम संघर्ष और प्रयास करने को वाध्य हुई है। फासिटीवाद या नाजीवाद पूँजीवादी व्यवस्था के उसी प्रयास की अभिव्यञ्जना है।

मार्क्सवादियो के मतानुसार वह गृह-युद्ध है पूँजीवादी लुटेरों में जो पारस्परिक स्वार्थ की टक्कर के फलस्वरूप भड़क उठा है। मार्क्सवादी फासिज्म की मीमासा करते हुए चाहे जो कहे पर जगत् के गत २० वर्षों के इतिहास को देख कर मैं इस परिणाम पर पहुँचता हूँ कि फासिटीवाद मे पूँजीवादी व्यवस्था की रक्षा का अन्तिम प्रयास उतना व्यक्त नहीं है जितना उस व्यापक हृदय-दाह का प्रकटीकरण है जिसे स्वयम् पूँजीवाद ने अपनी कुनीति और पापसे सुलगा दिया। गत युद्ध के . यूरोप का प्रवाह पूँजीवादी लोकतन्त्र के विरुद्ध वह चला। मार्क्स-

वादी प्रयोग स्वयम् पूँजीवाद के गर्भ से उत्पन्न होकर उसका विनाश करने के लिये उसी युग में सक्रिय हो उठा। फासिटीवाद भी उसी युग मे उसी के गर्भ से उत्पन्न होकर उसे चबा जाने के लिये मुँह बाए खडा हो गया। फासिटीवाद लोकतन्त्रात्मक पूँजीवाद की सारी व्यवस्था ओर कल्पना, आदर्श और व्यवहार का प्रतिवाद है। संक्षेप मे वह यूरोप की आधुनिक संस्कृति की जड़ काटने के लिए उद्यत कठोर कुठार के समान है।

यूरोप मे फासिज्म का उदय जिन परिस्थितियों मे हुआ और जिस प्रकार हुआ वह लम्बी कहानी है जिसका वर्णन करना यहाँ सम्भव न होगा। संक्षेप से यह कह सकते है कि गत महायुद्ध के बाद यूरोप मे युद्ध के फलस्वरूप जिन नयी रियासतों का जन्म हुआ वे जहाँ एक ओर लोकतन्त्रवादी आदर्शों और सिद्धान्तो के आधार पर अपना सङ्गटन करने मे लगी हुई थीं वहीं दूसरी ओर उन सिद्धान्तों को चुनौती देने-वाली प्रवृत्तियाँ तीव्र वेग से काम कर रही थीं। रूस मे बोलशेविक क्रान्ति हो चुकी थी जिसने पूँजीवादी लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था और कल्पना की सारी जड़ हिला दी थी। याद रखने की बात है कि फासिज्म का उदय बोल्शेविक क्रान्ति के बाद हुआ। यूरोप के अनेक देशो मे जिस समय मार्क्सवादी धारणाएँ फैल रही थीं, जिस समय मजदूर-क्रान्ति की आवाज चारो ओर गूँज रही थी और यूरोप के देश विशेष-कर वे देश जो युद्ध मे पराजित हो चुके थे आन्तरिक विद्रोह और सङ्घर्ष की आग मे जल रहे थे उस समय इटली मे फासिटीवाद का उदय हुआ। यदि मार्क्सवाद पूँजीवाद और पूँजीवादी कल्पना का प्रतिवाद था तो फासिटीवाद न केवल पूँजीवादी लोकतन्त्र का प्रत्युत सारी समाज-वादी कल्पना की प्रतिक्रिया और उसके शत्रु के रूप से उत्पन्न हुआ। वह यदि लोकतन्त्रात्मक उदार राजनीतिक सिद्धान्तो के विरुद्ध था तो समाजवादी अन्तर्राष्ट्रीयता और आर्थिक स्वतन्त्रता और समानता के विरुद्ध भी था।

यदि यह खुली प्रतिद्वन्द्विता और व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा मुनाफा के आधार पर स्थापित पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था के विरुद्ध था तो उत्पादक मजदूर अधिनायक सत्ता और व्यक्तिगत सम्पत्ति को मिटा कर उत्पादन के साधनो पर व्यापक जनवर्ग के अधिकार की स्थापना के विरुद्ध भी था। फासिटी-वाद ने पूँजीवादी लोकतन्त्र और समाजवादी वर्गहीन व्यवस्था, दोनो के विरुद्ध समान रूप से तलवार उठाई। फासिटीवाद का उदय क्यो हुआ इसकी मीमासा करने के लिये तत्कालीन परिस्थिति पर उड़ती हुई दृष्टि डालनी पड़ेगी। यह विचारणीय है कि उस इटली मे फासिटी प्रवृत्तियो ने कैसे जन्म ग्रहण किया जिसने 'मेजनी' और 'वेवूर' को जन्म प्रदान किया था ? यूरोप का इतिहास इस बात का साक्षी है कि उन्नीसवीं शताब्दी मे इटली एकता और स्वतन्त्रता के महान् संघर्ष में उज्वल स्थान प्राप्त करने मे समर्थ हुआ था। 'मेजनी' उन लोकतन्त्रात्मक उदार विचारो के यशस्वी प्रवक्ता और पोषक थे जिन पर पश्चिमी लोकतन्त्र का विकास हुआ था। उसी इटली मे फासिटीवाद की विभीषिका कैसे उत्पन्न हो गयी ?

इस प्रश्न का उत्तर यदि आप ढूँढ़ें तो स्पष्ट रूप से यह पायेंगे कि फासिटीवाद का जन्म प्रतिरोध की उस भावना के गर्भ से हुआ जिसका सर्जन गत महायुद्ध के विजयी राष्ट्रो की कुनीति ने कर दिया था। उस युद्धमें इटली मित्र राष्ट्रो का साथी वनकर प्रविष्ट हुआ था। युद्धारम्भ के समय वह उस त्रिराष्ट्र-गुट का सदस्य था जिसमे जर्मनी-आष्ट्रिया सम्मिलित थे। परिणाम स्वरूप युद्धके आरम्भिक वर्षो मे इटली तटस्थ राष्ट्र बना रहा। पर समय आया जब मित्र राष्ट्रउसे प्रलोभन देकर युद्धमे उतरने के लिये राजी करने मे समर्थ हुए। सन् १९१५ ई० मे लण्डन मे एक गुप्त सन्धि हुई जिसमे इटली को व्यापक भू-प्रदेश प्रदान करने का वचन दिया गया। कहा गया कि ट्रेन्टिनो और टिरोल का प्रदेश, इष्ट्रिया और डालमेशियन का तट, अल्वानिया और अरेलिया तथा अफ्रिका मे तुर्क और जर्मन साम्राज्य के प्रदेश विजयोपरान्त उसे प्रदान कर दिए जायेंगे।

इस सन्धि मे ब्रिटेन के साथ फ्रांस और रूस भी सम्मिलित थे। इस प्रलोभन को पाकर इटली अपने पुराने मित्रो को छोड़, उनके विरुद्ध खड्ग उठाकर युद्ध मे उतरा।

युद्ध में इटालियन सैनिकों ने बड़ी वीरता दिखाई, प्रायः सात लाख से अधिक इटालियन सैनिक मारे गए पर युद्ध के उपरान्त सन्धि-सम्मेलन मे इटली को फ्रांस और ब्रिटेन ने अँगूठा दिखा दिया। इस अवस्था मे अपने को पाकर इटालियन राष्ट्र क्षुब्ध हो उठा। उसने देखा कि उसे धोखा हुआ, उसका अपमान किया गया, बलशील लुटेरो ने लूट के माल का अकितर भाग स्वयम् बाँट लिया और उसे उसके त्याग तथा बलिदान का कुछ भी पुरस्कार न मिला। इधर इटली की आन्तरिक स्थिति युद्ध की प्रतिक्रिया के कारण खराब हो चुकी थी। उसका आर्थिक जीवन नष्ट हो चुका था, महँगी के कारण साधारण जनवर्ग भूखो मर रहा था, बेकारी व्यापकरूप से फैली हुई थी। युद्धस्थल से लौटने वाले सैनिक अपने देश मे वापस आकर इधर-उधर मारे-मारे फिर रहे थे। न उनके लिये काम था और न पेट भरने को दाना। देश की सरकार की नीति के विरुद्ध इस स्थिति मे विक्षोभ का फैलना स्वाभाविक था। सब देश की दुर्दशा के लिये सरकार को ही जिम्मेदार ठहरा रहे थे। युद्ध मे भाग क्यो लिया गया, क्यो देश तबाह किया गया, लाखो की गरदन क्यो कटाई गयी? क्या यह सब इसीलिये था कि युद्ध के बाद देश तबाह हो, राष्ट्र जगत् मे अपमानित हो? वे वादे कहाँ गए जो युद्ध के पूर्व किए गए थे? कहाँ गए वे भूप्रदेश जिनके मिलने की बात कही जाती थी?

इस असन्तोप और क्षोभ के फलस्वरूप सन् १९१९ और १९२० मे इटली आन्तरिक संघर्ष, गुप्त संघटनो, राजनीतिक हत्याओ और हड-तालो तथा उपद्रवो का शिकार हो गया था। देश में अनेक राजनी-तिक दल उत्पन्न हो गए थे जो परस्पर टकराते तथा अशान्ति और अव्यवस्था का मार्ग प्रशस्त करते। एक ओर रूसी क्रान्ति से प्रभावित

भावनाएँ फैल रही थीं जो इटली के मजदूरवर्ग तथा शोषित और त्रस्त जनता को अपनी ओर आकृष्ट कर रही थीं। मजदूरों की हड़ताल आए दिन हो रही थी, सैकड़ों कल-कारखानों पर मज़दूरों के संघटन कब्जा करके बैठ गए थे। दूसरी ओर राष्ट्रवादियों का ऐसा दल बन गया था जो अन्तर्राष्ट्रीयतावादी कम्यूनिस्टों से देशको बचाना चाहता था। ऐसे दल में वे तमाम वर्ग सम्मिलित थे जो सम्पत्तिशाली थे और जिन्हें समाजवादी विचारों की विजय में अपना विनाश दिखाई दे रहा था। वे राष्ट्रवाद के नाम पर अपना हित-साधन करना चाहते थे।

इन दोनों के सिवा देश का एक अत्यधिक वर्ग ऐसा था जो न मजदूर था न पूँजीपति और न सुविधा-सम्पन्न था। छोटे-मोटे व्यापारी, टुटपुँजिए किसान, वे सैनिक और कर्मचारी जो युद्ध-स्थलसे वापस आए थे, छोटे दूकानदार और नौकरी-पेशा लोग थे जो देश की अव्यवस्था और दुरवस्था से उत्पीड़ित थे। उन्हें शान्ति चाहिए थी, सुरक्षा अपेक्षित थी और अभीष्ट था अपने राष्ट्र का सम्मान जिस पर विजयी राष्ट्रों ने गहरी ठेस मारी थी। उन्हें क्षोभ था अपनी सरकार से जो देश को युद्ध में झोंक कर बिना किसी लाभ के तबाह और बेइज्ज़त करने का कारण हुई थी। उन्हें क्षोभ था उन राजनीतिक दलोंसे जो संघर्ष और अव्यवस्था उत्पन्न करके अपने स्वार्थ का साधन तो करना चाहते थे पर राष्ट्रीय सम्मान और सुरक्षा और मध्यवर्गीय लोगों का हित-सम्पादन करने की ओर उन्मुख दिखाई नहीं देते थे। यह मध्यम वर्ग यद्यपि, बहुसंख्यक था, देश की स्थिति से रुष्ट था तथापि संघटन और नेतृत्वके अभाव में निष्क्रिय और निर्बल बना हुआ था। वह एक ओर स्थिर-स्वार्थी पूँजीपतियों से रुष्ट था तो दूसरी ओर उस दल से भी भयभीत था जो मजदूरों के एकमात्र हित में देश का कल्याण देखते थे। दोनों की नीति उसके हित के विरुद्ध थी। वह चाहता था ऐसी व्यवस्था जिसमें उसकी रोटी सुरक्षित हो, देश में

शान्ति और सुव्यवस्था हो, उसे प्रतिष्ठा और पद प्राप्त हो तथा उसके राष्ट्र का जगत् मे सम्मान हो।

यह परिस्थिति थी जब मुसोलिनी का उदय हुआ। मुसोलिनी के फासिटीवाद की कल्पना उग्र राष्ट्रवादिता पर स्थापित थी। उसमे इटली के अतीत गौरव को पुनः प्रतिष्ठित करने की भावना व्यक्त थी। इटालियन राष्ट्र को बलवान् बनाने की इच्छा थी, देश मे सुदृढ़ हाथो के द्वारा अधिकार-सत्ता स्थापित करने की चाह थी, समाजवादी अंतर्राष्ट्रीयता और लोकतन्त्रवादी ढिलाई तथा निर्बलता का विरोध था। साथ-साथ फासिटीवाद उस आर्थिक योजना और माँग को लेकर सामने आया था जो मध्यवर्ग के आर्थिक और सामाजिक हित के अनुकूल था। मुसोलिनी ने किस प्रकार शासनाधिकार प्राप्त किया, किस प्रकार समाजवादियो का एक ओर और पूँजीपतियो का दूसरी ओर दमन किया, किस प्रकार अपने दल का संघटन किया आदि बातो के वर्णन मे यहाँ पड़ना व्यर्थ है। केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि फासिटीदल का संघटन मुख्यतः उस मध्यमवर्ग को लेकर हुआ जिसका उल्लेख ऊपर किया है। अनुकूल परिस्थिति पाकर इटली मे मुसोलिनी शासनारूढ़ होने मे सफल हुए। धीरे-धीरे अपने समस्त विरोधियो का संहार करके वे इटालियन राष्ट्र के सर्वेसर्वा बन गए। इतिहास यह सिद्ध करता है कि मेज़िनी, गेरिवाल्डी और केवूर के इटली मे फासिटीवाद का उदय न हुआ होता यदि युद्ध के बाद पूँजीवादी लोकतन्त्रात्मक विजयी राष्ट्रो की नीति से उसे यह आभास न मिला होता कि उसे धोखा दिया गया और स्वार्थियो ने युद्ध में प्राप्त हुई विजय को उसके लिये पराजय मे परिणत कर दिया।

फलत मैं यह देखता हूँ कि फासिटीवाद का जन्म प्रतिशोध और विक्षोभ की भावना के उदर से ही हुआ। इसी प्रकार नाज़ीवाद के जन्म के इतिहास पर आप दृष्टिपात करें तो यह देखेंगे कि हिटलर जर्मन राष्ट्र के उस हृदय-दाह से सम्भूत है जिसका प्रज्वलन युद्ध के

बाद विजयी राष्ट्रों ने कर दिया। पूर्व के पृष्ठों में एकाधिकबार उस अपमानजनक परिस्थिति का उल्लेख किया जा चुका है जिसमें जर्मनी झोंक दिया गया था। जर्मनी के साथ जो स्वार्थपूर्ण और अन्याय-मूलक नीति बरती गयी, जिस प्रकार एक जीवित राष्ट्र को सदा के लिये मटियामेट कर डालने का कुचक्र रचा गया और जिस प्रकार पराजित जर्मनी के मस्तक पर पदाघात करने की चेष्टा की गयी वह आधुनिक इतिहास की ज्वलन्त घटना है जिसपर विस्तार से लिखने की आवश्यकता यहाँ नहीं है। यहाँ केवल इतना कहना अलम् होगा कि उस दुर्नीति की प्रतिक्रिया हिटलरवाद के रूप में ही मूर्त हो सकती थी। इस प्रकार इतिहास की गति का अध्ययन करने के बाद इसी परिणाम पर पहुँचना अनिवार्य होता है कि फाजिज्म अथवा नाजीवाद पूँजीवादियों द्वारा पूँजीवाद की रक्षा का अन्तिम प्रयास हो चाहे न हो पर प्रतिशोध की आग में जलनेवाले राष्ट्रों के रोष का विस्फोट अवश्य है जो एक ओर पूँजीवादी व्यवस्था और पूँजीवादी लोकतन्त्र का विनाश करना चाहता है तो दूसरी ओर प्रगतिशील समाजवादी कल्पना की जड़ भी काट देना चाहता है।

यह समझना भी साधारण नहीं है कि 'फासिटीवाद' या 'नाजी वाद' पूँजीवादी वर्गों का आन्दोलन है। इटली के सम्बन्ध में ऊपर लिखा जा चुका है और जर्मनी का इतिहास भी यही सिद्ध करता है कि इन आन्दोलनों का आधार असन्तुष्ट, क्षुब्ध तथा तीव्र राष्ट्रवादिता से परिपूर्ण मध्यमवर्ग रहा है। यह सच है कि घटनाचक्र ने इटली और जर्मनी के फासिस्टों और नाजियों की सहायता पूँजीवादी वर्गों से कराई। इसका कारण तत्कालीन यूरोप में प्रबल वेग से बहती हुई समाजवादी विचारधारा का भय था। स्थिर-स्वार्थीवर्ग रूस की दशा देख रहे थे। वे यह भी देख रहे थे कि यूरोप का कोना-कोना उन विचारों और आदर्शों से आलोडित हो रहा है। वे भली-भाँति अनुभव कर रहे थे कि इस प्रवाह के सम्मुख उनकी जर्जर व्यवस्था तथा

उनका वर्गहित टिक न पावेगा। उन्हें अपना भविष्य अन्धकारमय दिखाई दे रहा था क्योंकि उनको ललकारने वाली विरोधी शक्तियाँ उनका विनाश करने के लिये उद्यत दिखाई दे रही थीं। इटली मे, जर्मनी मे तथा मध्य यूरोप के अन्य देशो मे, बालकन के प्रदेश में युद्धके बाद समाजवादी विद्रोह हो चुके थे। ऐसे समय उन्हे फासिटी और नाजी कल्पनाओ मे वह शक्ति दिखाई पडी जो सफलतापूर्वक समाजवादी धारा का अवरोधन कर सकती थी। फलतः उनका तत्काल लाभ उक्त आन्दोलनो की सहायता करने मे दिखाई दे रहा था। यही कारण है कि पूँजीवादी वर्ग की सहायता फासिटीवाद और नाजीवाद को प्राप्त हुई। उससे लाभ उठा कर मुसोलिनी और हिटलर ने समाजवाद का प्रतिरोध किया। पर यह भी स्पष्ट है कि उन्होंने उसी प्रकार पूँजीवादी व्यवस्था और पूँजीवादी लोकतन्त्र का गला भी घोटा। दोनों को धराशायी करके नयी कल्पना और नयी व्यवस्था की प्रतिष्ठा करने चेष्टा की।

अब संक्षेप मे फासिटीवाद के स्वरूप पर विचार कर लीजिए। उसके राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, नैतिक तथा जीवन-सम्बन्धी आदर्श की मीमासा कीजिए तो आप यह पाएँगे कि उसमे न कोई दर्शन है, न कोई अभिनव विचारपद्धति और न कोई विशेष सिद्धात। उसमे इतिहास के अन्धकार-युगीन भावनाओ का समावेशमात्र दिखाई देता है जिनके आधार पर उसकी सारी दृष्टि, सारी योजना और सारी नीति अवलम्बित है। यह सच है कि अब कुछ विद्वान् और विचारक फासिटीवाद के दार्शनिक आधार की रूप-रेखा अङ्कित करने लगे है पर इतना मानना पड़ेगा कि आरम्भ मे उनका जन्म किसी निश्चित दार्शनिक दृष्टिकोण तथा सैद्धान्तिक आधार को लेकर नहीं हुआ। अवश्य ही फासिटीवाद के नाम से एक धारा बह चली और जैसे-जैसे वह विस्तृत होती चली वैसे-वैसे उसे निश्चित विचार पद्धति का स्वरूप देने की चेष्टा की गई। स्थूल रूप से इतना ही कहा जा

सकता है कि फासिटीवाद यूरोप के तत्कालीन राजनीतिक संघटन और व्यवस्था को ऊपर-ऊपर बदल देने के महाप्रयास के रूप में आरंभ हुआ। मेरा तात्पर्य यह है कि फासिटीवाद मार्क्सवाद की भांति समाज के आधारभूत आर्थिक संघटन को बदल कर सारी सामाजिक व्यवस्था को परिवर्तित करने तथा समाज के परिवर्तन के फलस्वरूप राजनीतिक ढाचे को बदलने के बखेड़े मे पड़ता दिखाई नहीं देता। वह समाज के राजनीतिक संघटन को अपनी कल्पना के अनुसार एकबारगी बदलने की चेष्टा अवश्य करता है। और चाहता है कि सारा आर्थिक और सामाजिक संघटन उस राजसत्ता के हित मे सहायक हो जिसकी स्थापना वह करता है। इतना ही नहीं प्रत्युत सारे आर्थिक और सामाजिक संघटन की सार्थकता इसी मे समझता है कि वह फासिटी राजसत्ता की बलवृद्धि और परिपोषण करे।

फलतः फासिटीवाद मे राजसत्ता-सम्बन्धी कल्पना ही मुख्य है। उस कल्पना को जैसे भी हो साकार रूप प्रदान करना उसकी एकमात्र नीति है। उसकी दृष्टि मे शासनसत्ता का अस्तित्व ऐकान्तिक और अक्षुण्ण है। वह किसी का साधन नहीं अपितु स्वयम् ही साध्य है। वह अपने मे ही परिपूर्ण है और अपने प्रयोजन की ही पूर्ति करता है। फासिटीवाद मानता है कि जीवन के समस्त नैतिक और आध्यात्मिक साध्यों का समन्वित रूप स्वयम् ही शासनसत्ता है। यही कारण है कि उसकी दृष्टि में शासनसत्ता व्यक्ति तथा समाज की परिधि का अतिक्रमण कर जाती है। उसकी कल्पना मे व्यक्ति जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त केवल शासनसत्ता के लिये अस्तित्व रखता है। अतः वह यह नहीं मानता कि व्यक्ति का कोई व्यक्तिगत हित या अधिकार भी हो सकता है। यदि उसका कोई हित है और कोई अधिकार है तो वह शासनसत्ता के हित और अधिकार से भिन्न नहीं है। अर्थात् उसकी दृष्टि मे व्यक्ति सरकार के लिये है और सरकार स्वतः साध्य है। व्यक्ति का कल्याण इसी मे है कि वह शासनसत्ता के हित में

ना लय कर दे। उसका एकमात्र कर्त्तव्य भी यही है।

फासिटीवाद जहाँ यह समझता है कि सरकार के हित में अपने उत्सर्ग कर देना व्यक्ति का लक्ष्य और कर्त्तव्य है वहीं वह यह भी झता है कि व्यक्ति के प्रति सरकार का कोई भी कर्त्तव्य नहीं है। कार के लिये उसकी दृष्टि मे नैतिकता का भी कोई बन्धन नहीं है। कि वह यह मानता है कि शासन-सत्ता स्वयम् ही नैतिकता का है और वही नैतिकता का निर्माण भी करती है। मुसोलिनी ते है "वह सरकार ही है जो नागरिक को नागरिक बनाती है, उसे ने व्यक्तित्व की चेतना प्रदान करती और समाज में एकात्मता सृष्टि करती है। सरकार की अक्षुण्णसत्ता स्वयम् ही मूर्त्त नैतिकता अतः वह जो करे वही उचित तथा विधेय है।" इसी सिद्धान्त आधार पर उचित-अनुचित तथा नीति-अनीति-विषयक फासिटी- की धारणा आश्रित है। वह समझता है कि उचित और अनु- त का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। सरकार जिसे कह दे और कर दे वही उचित है।

जर्मन नाजियों की कल्पना भी इस सम्बन्ध में इटालियन सिस्टों से भिन्न नहीं है। श्री वागनर कहते हैं कि "हिटलर जो श्चय कर देते वही उचित है और अनन्त काल के लिये वही उचित ता है। सरकार-सम्बन्धी इस धारणा में दूसरी दृष्टि हो ही कैसे कती है। जो सरकार को सर्वशक्तिमान् मानता हो, जो उसे स्वतः ध्य समझता हो उसकी दृष्टि में उसके लिये न कोई कर्त्तव्य हो कता है और न नीति-अनीति का कोई बन्धन। सर्व शक्तिमान् निरं- श सत्ता वास्तव में वह शक्ति है जिससे उत्कृष्ट अथवा आदरणीय सरा कोई पदार्थ हो ही नहीं सकता। यही कारण है कि फासिटीवाद व्यक्तिको, न समाज को, न जगत् को, न किसी आदर्श, सिद्धात लक्ष्य नीति को शासन-सत्ता से बड़ा मानता है और न मान सकता है।

इस शासनसत्ता की रचना कैसे होती है इस विषय में भी

फासिटीवाद की कल्पना भयावनी है। वह कहता है कि ऐसी सरकार की स्थापना वह समूह करता है जिसका निर्माण 'अधि-पुरुषों' के द्वारा होता है। पाठक जानना चाहेंगे कि अधिपुरुषो की यह कौनसी बला है। फासिटीवाद यह मानता है कि जगत् मे दो प्रकार के मनुष्य होते है। एक प्रकार वह होता है जो शासन करने के लिये ही जन्म-ग्रहण करता है। दूसरे वर्ग की सृष्टि केवल इस लिये होती कि वह शासित हो और शासकवर्ग की इच्छा तथा उसके संकल्प की पूर्ति का साधन बना रहे। यह शासकवर्ग ही 'अधि-पुरुषो' का समूह होता है। 'अधि-पुरुषो' का लक्षण यह है कि उनमे संकल्प की और इच्छा की शक्ति होती है। उसके संकल्प और उसकी इच्छाशक्ति की अभिव्यक्ति बलपूर्वक शासनसत्ता को अपने अधिकार मे कर लेने मे ही होती है। शस्त्र, संघर्ष और पशुशक्तिके द्वारा 'अधि-पुरुष' शासनसत्ताका निर्माण करके अपनी इच्छाशक्ति और संकल्प-बल का अभिव्यञ्जन करता है। दूसरा वर्ग वह है जो इच्छाहीन, संकल्पहीन और शक्तिहीन होता है। उसका एकमात्र कर्त्तव्य यही है कि वह 'अधि-पुरुष' के सम्मुख अपना सिर झुका दे और उसके संकल्प और इच्छा की पूर्त्तिका साधक बन जाय।

फासिटीवाद की कल्पना यहीं समाप्त नहीं होती। वह और आगे बढ़ता है तथा यह घोषणा करता है कि 'अधि-पुरुषो' का यह गुट भी एक व्यक्ति के नेतृत्व से ही सञ्चालित होता है। वह समझता है कि नेता का निर्वाचन नहीं अवतार होता है। न जाने किस रहस्यमय, अमूर्त अभौतिक कारणो के फलस्वरूप किसी मे नेतृत्व का आवेश हो जाता है और नेता समुपस्थित दिखाई देता है। फासिटीवाद के इस नेता के सम्मुख 'अधि-पुरुषो' का शासकवर्ग आदर से नत मस्तक हो जाता है। फासिस्टो की दृष्टि मे यह नेता शक्ति, नैतिकता, सत्य और औचित्य का मूर्त्तस्वरूप है। उसकी इच्छा ही विधान है। वह जो कहे वही न्याय और जो करे वही उचित है। उसे अपने मन के अनुकूल

शासनयन्त्र का निर्माण कर लेने का अक्षुण्ण अधिकार है। वह जिसे चाहे अपना सहायक नियुक्त कर ले और शासन का उत्तरदायित्व जिस प्रकार तथा जिसपर छोड़ना चाहे छोड़ दे। सरकार का सारा अङ्ग-उपाङ्ग और ढाँचा एकमात्र नेता के प्रति ही उत्तरदायी है, उसी के सकेत पर उसे चलना है और उसी के आज्ञानुसार कार्य करना है। ऐसे नेता और उसकी ऐसी सरकार न किसी के अंकुश मे है और न उसकी शक्ति तथा विस्तार की कोई सीमा है।

फासिटीवाद यह मानता है कि व्यक्ति और समाज के जीवन के प्रत्येक अश, विभाग और क्षेत्र पर शासन-सत्ताका अबाध, अपरिमित और स्वच्छद अधिकार है। व्यक्ति क्या करे और क्या न करे, क्या सोचे और क्या समझे, क्या पढ़े और क्या लिखे, किससे मिले और कौन सा व्यवसाय करे आदि समस्त बातो का निर्धारण करने का सम्पूर्ण अधिकार नेता को प्राप्त है। उसके निर्णय मे किसी प्रकार के संदेह करने अथवा उसका विरोध करने का अधिकार किसी को भी नहीं है। और तो और फासिटीवाद यह भी समझता है कि क्या सत्य है क्या नहीं है। इसका निर्णय भी नेता ही करता है। वह यह नहीं मानता कि सत्य की कोई निरपेक्ष सत्ता अथवा प्रतिष्ठा है। वह समझता है कि सत्य की रचना भी मनुष्य ही करता है और वह रचना करने का अधिकार उसे है जो अधिपुरुप है और जो अपनी इच्छा की शक्ति और शस्त्र के बल का आश्रय लेकर सारे समाज के जीवन का सूत्रधार बन जाता है। फासिटीवाद तो यहाँ तक स्वीकार कर लेता है कि नेता अपने लक्ष्य की सिद्धिमे जिसे सहायक समझेगा वही होगा सत्य और असत्य होगा वह जिसे बाधक मानता होगा।

सत्य और असत्य की ऐसी उत्क्लेदक और रोमांचक व्याख्या कहाँ मिलेगी? पर फासिटीवाद ऐसी कल्पना करने से भी न चूका। हिटलर अपने 'मेनकैम्फ' मे निस्सकोच असत्य के अवलम्बन का समर्थन करते हुए कहते है कि अपने हित के लिये असत्य को ग्रहण करके

उसका प्रचार इस तीव्रता और उग्रता के साथ करना चाहिए कि वही सत्य ज्ञात होने लगे। विचार कीजिए जहाँ सत्य की भी ऐसी छीछा-लेदर हो रही हो वहाँ संस्कृति, ज्ञान और विवेक के लिये स्थान कहाँ हो सकता है। मनुष्य-जीवनकी सबसे महती विभूति और विशेषता सत्य के अनुशीलन की उसकी प्रवृत्ति ही है। संस्कृतियों का बीज इसी प्रवृत्ति के गर्भ मे आरोपित है। जहाँ उसकी सत्ता भी मिटा दी जाय वहाँ ज्ञान की उपासना और वास्तविकता के साक्षात्कार की संभावना भी कहाँ रह सकती ? फासिज्म की इस दृष्टि और धारणा का ही यह परिणाम है कि उसके अधीन स्वतन्त्र विचार, स्वतन्त्र मनन तथा स्वतन्त्र और सत्यज्ञान के लिए स्थान भी नहीं रहा। विज्ञान हो या कला, साहित्य हो या दर्शन, इतिहास हो या राजनीति, धर्म-शास्त्र हो या आचारशास्त्र किसी का स्वतन्त्र अस्तित्व फासिटीवाद की दृष्टि मे नहीं है।

सभी ज्ञान, विचार अथवा शास्त्र को वही रूप ग्रहण करना होगा जो रूप प्रदान करना नेता को अभीष्ट है। वैज्ञानिक, कलात्मक दार्शनिक अथवा ऐतिहासिक किसी भी वास्तविकता का कुछ भी महत्त्व नहीं है। नेता जिस दृष्टि से इतिहास को देखे उसी के अनुकूल रूप ग्रहण करने के लिये इतिहास को बाध्य होना पड़ेगा। यदि नेता यह कहता है कि जर्मन जाति ही आर्यों की जाति है और जो जगत् की समस्त जातियो से भिन्न है तथा ईश्वर ने भूमंडल पर एकच्छत्र शासन करनेके लिये उसकी सृष्टिकी है तो वही सत्य होगा और प्राणि-विज्ञान तथा इतिहास को उसी सिद्धांत का प्रतिपादन करना होगा। भले ही ऐतिहासिक अथवा वैज्ञानिक दृष्टि से यह सिद्धान्त निराधार हो, भले ही वह विक्षिप्त का प्रलापमात्र हो पर समस्त विश्वविद्यालयों को और बड़े-बड़े वैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक पंडितो को उसी की शिक्षा देनी पड़ेगी। ग्रन्थकारो, लेखको और रचयिताओ तक को तत्सम्बन्ध मे वही लिखना पड़ेगा जिससे नेता के उपर्युक्त सिद्धान्त का प्रतिपादन तथा प्रचार हो सके।

फासिस्ट कहता है कि "विज्ञान का लक्ष्य अवश्य ही सत्य का अनुसन्धान करना है पर सत्य का अनुसन्धान भी उसे उसी रूप में करने की स्वतन्त्रता प्राप्त है जिस रूपमे शासन-सत्ता सत्य के स्वरूप को देखना चाहती है"। 'गोबेल्स' एक स्थान पर कहते हैं कि "जर्मनी मे निरपेक्ष अथवा अराजनीतिक कला जीवित नहीं रह सकती। जब तक ऐसी कला जीवित है तब तक हमारा काम समाप्त हुआ नहीं समझा जा सकता।" स्पष्ट है कि फासिज्म के मत से न कला, न विज्ञान, न इतिहास स्वतन्त्र है और न कलाकार, न वैज्ञानिक और न ऐतिहासिक की दृष्टि स्वतन्त्र तथा निरपेक्ष और वास्तविकता के अनुकूल रहनी चाहिए। वह यह मानता है कि अनुभूति और अभि-व्यक्ति वही होनी चाहिए जो सर्व-शक्ति-सम्पन्न सरकार को अभीष्ट है। हिटलर एक स्थान पर साफ-साफ कहते हैं कि "इतिहास को ऐसी शिक्षा देनी होगी जिससे जर्मनीमे राष्ट्राभिमान का जागरण हो। सारे मानव-समाज की संस्कृति के इतिहास को इसी दृष्टि से पढ़ाना होगा। हमे वास्तविक सत्य के खोज की चिन्ता नहीं है प्रत्युत उस प्रयोजन को सिद्ध करना है जिसे हम सत्य समझते हैं। जर्मनी की शिक्षा-पद्धति का उद्देश्य सिवा इसके और कुछ नहीं है कि व्यक्ति का निर्माण इस प्रकार किया जाय कि वह अपने राष्ट्र को छोड़कर और किसी बात को सत्य ही न समझे। वास्तविक सत्य गौण है जो सदा वाछनीय भी नहीं हो सकता।"

इस प्रकार फासिटीवाद की जो रूपरेखा हमारे सामने आती है उससे यह झलक जाता है कि उसका न कोई दर्शन है न कोई योजना और न कोई विचार-सरणि। वह उन्मत्त का प्रलापमात्र ज्ञात होता है। वह उन सब का सर्वनाश करने की गुहार लगाता दिखाई देता है जिनका निर्माण विकास की महती यात्रा मे अग्रसर हुए मानवसमाज की प्रतिभा ने युग-युग में किया था। उसकी दृष्टि मे न सत्य को स्थान है न विवेक को और न मनुष्यता को। स्वतन्त्र

चिन्तन और सत्य की खोज भी उसके मतानुसार अवांच्छनीय है जिसके उन्मूलन के बिना वह अपना काम अधूरा समझता है। सीधे-सीधे वह केवल एक बात मानता है और वह यह कि व्यक्ति हो अथवा समाज, राष्ट्र हो या जगत् सब की भलाई इसी मे है जिसमें निरकुश और पशुबल-प्रश्रित सरकार की भलाई है। यह सरकार यद्यपि स्वच्छन्द है पर उसका निर्माण जन-समाज की इच्छा के अनुकूल नहीं प्रत्युत उस व्यक्ति अथवा गुट के इच्छानुसार होता है जो शस्त्र और शक्ति के सहारे अधिकार-सूत्र ग्रहण कर लेता है। ऐसे ही व्यक्ति अथवा समूह को शासन करने का अधिकार है और दूसरों का जन्म इसलिये हुआ है कि वह शासनसत्ता के सम्मुख धरा-चुम्बन करता रहे। ऐसा करके ही व्यक्ति और समाज अपने कर्त्तव्य की पूर्ति कर सकता है। तात्पर्य यह कि फासिटीवाद खुल्लमखुल्ला 'जिसकी लाठी उसी की भैंस' के सिद्धान्त को न केवल ग्रहण करता है, अपि तु उसे ही धर्म, नीति और सत्य-सम्मत समझता है। इसी में वह जगत् और मनुष्य-समाज का कल्याण और उसका विकास समझता है।

पाठक देख सकते है कि इस विचार शृंखला में किस मनःस्थिति की अभिव्यक्ति है। जो कल्पना फासिटीवाद व्यक्त करता है उसमे स्थान केवल एक वस्तु के लिये है और वह है शारीरिक बल तथा शस्त्र-शक्ति। उसकी सारी विचार-धारा, शक्ति की महिमा स्वीकार करके ही प्रवाहित होती है। शक्ति के द्वारा अधिकार की प्राप्ति को ही वह मानव-जीवनका चरम लक्ष्य समझता है। वह यह स्वीकार ही नहीं करता कि मनुष्य के जीवन का आदर्श सुख की प्राप्ति करना है। वह साफ-साफ घोषित करता है कि सुखप्राप्ति की इच्छा केवल पशुओं के योग्य है। उसकी दृष्टि में प्रकृति ने मनुष्य मे दूसरे पर शासन करने की प्रकृति भर दी है। यही है एकमात्र प्राकृतिक सत्य जिस ओर जीवन का अभिगमन अभीष्ट है। वह बल को ही सत्य-असत्य का, न्याय-

अन्याय का और उचित-अनुचित का निर्णायक समझता है। कौन 'अधि-पुरुप' है किसका जन्म केवल शासन करने के लिये हुआ है, कौन नेतृत्व का अधिकारी है आदि बातों का निर्णय भी शक्ति द्वारा ही होता है।

यही कारण है कि फासिज्म युद्ध और रक्तपात को वांछनीय समझता है, उसकी प्रशंसा करता है और मानव-समाज के विकास तथा कल्याण के लिये उसे आवश्यक मानता है। उत्तम पुरुष की पहिचान युद्ध और हिंसा के द्वारा ही होती है और मनुष्य को साहस तथा वीरता का प्रदर्शन करके अपना विकास करने का अवसर उसी के द्वारा मिलता है। फासिटीवाद को युद्ध और हिंसा में ही मानव-जीवन और समाजका प्रयोजन पूर्ण होता दिखाई देता है। फासिटियो के उद्‌गारोमें आप सदा युद्ध और रक्तपात का समर्थन और प्रतिपादन पावेगे। मुसोलिनी को "मनुष्य के सारे गुणो और उसकी सारी योग्यता का आधार युद्ध" मे दिखाई देता है। विनाशक अस्त्र-शस्त्रो मे वे सौन्दर्य देखते हैं। वह कहते हैं कि "शब्दो मे सौन्दर्य होता है पर राइफल और मशीनगन मे रणपोत तथा बम-प्रहारी विमानो के तोपो की गड़गड़ाहट और खड्ग की झनकार में उससे कहीं अधिक सुन्दरता होती है ?" जर्मन नाजियो के मत से "प्राणि-विज्ञान के अनुसार युद्ध आवश्यक और वाछनीय वस्तु है। युद्ध ही जीवन का नियामक है जिसके अभाव मे मानव जाति का पतन हो जायगा और उसकी सारी संस्कृति चौपट हो जायगी।" युद्ध की प्रशंसा, आवश्यकता और इष्टता का समर्थन करने वाले उद्धरणो को यदि फासिटियोके साहित्य से उद्धृत किया जाय तो एक बृहत् ग्रन्थकी रचना हो जायगी।

इस प्रकार आप देखेगे कि फासिटीवाद अन्ध पशुबल, हिंसा, रक्तपात और निर्दलन का समर्थक है। वह अधिकारसत्ता की अक्षुण्णता और उसकी अपरिसीम निरंकुशता का प्रतिपादक है। बलपूर्वक

शक्ति और अधिकार की प्राप्ति ही जीवन का एकमात्र नैतिक प्रयोजन समझता है। वह सत्य और असत्य, नीति और अनीति का कोई स्वतन्त्र-अस्तित्व स्वीकार नहीं करता। उसकी दृष्टि में तलवार चाहे जो कर दे वही न्याय और वही नीति है। वह शक्तिशाली की इच्छा को ही विधान मानता है और उसके सिवा सत्यासत्य की विवेचना करने का अधिकार भी किसी दूसरेको नहीं देता है। बलशील की दृष्टि और मत के विरुद्ध विचार करने और सोचनेको भी वह अपराध मानता है। इसी कारण किसी दूसरे विरोधी दल को जीवित रहने का अधिकार भी नहीं देता। एक ही दल होगा और वह होगा नेता का। दूसरा दल केवल शासितो का है जिनका धर्म आज्ञापालन के सिवा दूसरा नहीं है। वह लोकतन्त्रवाद की इस कल्पना को भी स्वीकार नहीं करता कि समाज में अधिक से अधिक लोगो के अधिक से अधिक सुख और भलाई का सम्पादन करना वह नैतिक आधार है जिसपर समाज अथवा सरकार का निर्माण होना चाहिए। लोकतन्त्र व्यक्ति को महत्त्व देता है और यह घोषणा करता है कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अपना विकास करने का अधिकार समानरूप से प्राप्त है। कानून की दृष्टि मे व्यक्ति को समान पद इसी कारण प्रदान किया जाता है। फासिटीवाद समता के इस सिद्धांत को अस्वीकार करता है और यह भी नहीं मानता कि शासनसत्ता से समान रुपेण लाभ उठाने का अधिकार व्यक्ति को प्राप्त है।

मुसोलिनी कहते हैं कि "फासिटीवाद लोकतन्त्र को ग्रहण नहीं करता और इस परम्परागत असत्य तथा निराधार सिद्धान्त का विरोध करता है कि प्रत्येक व्यक्ति को समान रूपेण राजनीतिक तथा सामाजिक अधिकार प्राप्त होना चाहिए" लोकतन्त्र के बहुमतवाद का भी वह स्वीकार नहीं करता। मुसोलिनी के शब्दो मे "फासिटीवाद यह नहीं मान सकता कि किसी बहुमत दल को केवल इसलिये कि वह बहुसङ्ख्यक है मानव समाज के सञ्चालन तथा शासन का अधिकार

प्राप्त है। वह यह भी नही मान सकता कि संख्या का बल ही केवल शासन करने का अधिकारी है। उसका यह विश्वास है कि मनुष्य समाज मे अ-समता की सृष्टि प्रकृति ने ही कर दी है। यह असमता न केवल अटल है, किन्तु लाभप्रद और फलदायक भी है। वोट का व्यापक अधिकार देकर इस असाम्य को मिटा देना असम्भव है। व्यक्ति की भलाई और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को समाज का आधार मानना न केवल भ्रामक है प्रत्युत प्रकृति के विधान के प्रतिकूल दिखाई देता है।" जब फासिटीवाद व्यक्ति के व्यक्तित्व को ही स्वीकार नहीं करता तब व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का प्रश्न ही कहाँ उठता है। वह तो यही मानता है कि व्यक्ति का व्यक्तित्व यदि है तो शासनसत्ता की सुविधा की पूर्ति के लिये ही है। फलत व्यक्ति की स्वतन्त्रता वही है जो उसे शासक द्वारा प्राप्त होती है। फासिटीवादी राष्ट्र मे व्यक्ति "अपनी उन सारी स्वतन्त्रता से वञ्चित कर दिया जाता है जिसे शासक व्यर्थ और हानिकारक समझता है। सरकार उतनी ही स्वतन्त्रता प्रदान करती है जितना आवश्यक समझती है। किस सीमातक समाज व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का उपभोग करे और किस सीमातक न करे इसका निर्णय करने का अधिकार सरकार को ही प्राप्त है। उपर्युक्त वाक्य मुसोलिनी के है जिससे व्यक्ति और राज के सम्बन्ध मे फासिटीवाद की कल्पना स्पष्ट हो जाती है।

उपर्युक्त कुछ वाक्यो मे फासिटीवाद के स्वरूप का जो चित्रण किया गया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि लोकतन्त्र की कल्पना से उसका कितना और कैसा सहज वैपरीत्य है। जनता राजनीतिक अधिकार से वञ्चित है और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा मनुष्य के नैसर्गिक अधिकार की कल्पना भी उसके लिये विजातीय है। जब राजनीतिक क्षेत्र मे समाज की यह स्थिति हो तब आर्थिक समता और आर्थिक स्वतन्त्रता का प्रश्न ही कैसे उठ सकता है। पहले ही कह चुका हूँ कि फासिटीवाद मनुष्य की असमता को न केवल स्वीकार करके

वरन् उसे प्रकृति का अटल विधान तथा समाज के विकास का एक मात्र साधक समझ कर अग्रसर होता है। यदि वह इस दृष्टि को ग्रहण न करता तो कैसे मानव समाज को अधि-पुरुष और साधारण दास के दो वर्गों में विभक्त करता ? तात्पर्य यह कि जिस विचारधारा का आधार ही असमता का सिद्धान्त हो वहाँ आर्थिक समता की बात ही कैसे उठ सकती है। जैसे राजनीतिक क्षेत्र में वैसे ही आर्थिक क्षेत्र में भी फासिटीवाद जन-समाज का केवल एक ही कर्त्तव्य मानता है और वह यह कि व्यापक जन-वर्ग राजसत्ताके आज्ञानुसार उत्पादन के आवश्यक काममे लगा रहे। साधारण मनुष्यको वह पशुवत् मानता है जिसका काम है कि अपने लिये निर्दिष्ट पथ पर चुपचाप चलता चला जाय।

व्यक्ति की सत्ता वह आथिक क्षेत्र मे भी नहीं मानता। वह उत्पादकवर्ग को उसके विभिन्न पेशे के अनुसार विभक्त कर देता है। जो जिस पेशे में है वह अपना अलग अस्तित्व नहीं रखता प्रत्युत उस पेशे के संघ का एक अंगमात्र है। फासिटीवाद की कल्पना उसके "कारपोरेशन" मे व्यक्त है। प्रत्येक पेशे मे लगे हुए उत्पादक अथवा पूँजीपति, मजदूर अथवा मालिक सभी को सम्मिलित रूप से एक समूह के रूप मे फासिटीवाद देखता है और यदि व्यक्ति है तो उसे उस व्यापक उत्पादक समूह का एक पुरजा मात्र समझता है। व्यक्ति का उस समूह से न तो पृथक् अस्तित्व है और न उसकी दृष्टि में कोई अधिकार। इटली मे इसी सिद्धान्त के आधार पर विभिन्न देशों का संघटन किया गया है जिसे 'कारपोरेशन' कहते है। इन संघों में मालिक और मजदूर सभी सम्मिलित किए जाते हैं। इटली की फासिटी सरकार इन संघो को प्रतिनिधित्व प्रदान करती है। 'कारपोरेशन' का काम यह होता है कि वह अपने व्यवसाय की देख-रेख करे, मजदूरों की मजदूरी, काम के घटे, छुट्टी आदि की व्यवस्था करे। वह यह भी देखे कि मजदूर काम करते है अथवा नहीं तथा उत्पादन की गति में किसी कारण कोई बाधा तो उपस्थित नहीं होती। राजनीतिक दशा में

ऽ 'कारपोरेशन' फासिटी सरकार की व्यवस्थापक सभा में अपना तिनिधित्व करने के लिये प्रतिनिधि की नियुक्ति करता है। स्मरण बना चाहिए कि प्रतिनिधि का निर्वाचन नहीं नियुक्ति की जाती है और नियुक्ति व्यक्ति 'कारपोरेशन' के ही सदस्यो मे से होता है। यह समझिएगा कि यह संस्था लोकतन्त्रात्मक ढॅग की है अथवा उसका घटन मजदूरसङ्घो की भाति होता है।

'कारपोरेशन' के सघटन मे फासिटी सिद्धान्त की ही अभिव्यक्ति होती है। फासिटीवाद किस प्रकार की कल्पना राजसत्ता के स्वरूप के सम्बन्ध मे करता है उसी का संक्षिप्त संस्करण उसके 'कारपोरेशन' में दिखाई देता है। फासिटीवाद व्यक्ति अथवा समूह का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं मानता। उसकी दृष्टि मे प्रभु-शक्ति-सम्पन्न शासनसत्ता ही वास्तविकसत्ता है और व्यक्ति अथवा समाज का अस्तित्व उसीके अधीन है। वे दोनो सरकार द्वारा प्रदत्त अधिकारो के ही अधिकारी है क्योकि उनका अपना कोई अधिकार नहीं है। व्यक्ति अपनी अभिव्यक्ति समूह मे करता है और समूह के रूप मे ही कर्त्तव्य-पालन करता है और समूह की अभिव्यक्ति अक्षुण्ण-शक्तिशालिनी सरकार के द्वारा होती। फासिटीवाद 'कारपोरेशन' का निर्माण इसलिये करता है कि सरकार रूपी वास्तविक सत्ता की आत्मा व्यापकरूप से उसके द्वारा समाज के अङ्ग-प्रत्यङ्ग तक पहुँचकर उसे सजीव बनाए रखे। तात्पर्य यह कि 'कारपोरेशन' शासन-सत्ता के अधीन उसके हाथ मे एक साधन है जिसके द्वारा वह अपने अधिकार का विस्तार व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के कोने-कोने तक कर सके। इटली की फासिस्ट सरकार ने इन 'कारपोरेशनो' की रचना करके राष्ट्रीय जीवन की सारी गति को अपनी मुट्ठी मे कर लिया था। 'कारपोरेशनो' के पदाधिकारियों की नियुक्ति सीधे-सीधे सरकार द्वारा ही होती थी। किसी पेशा के प्रत्येक व्यक्ति का यह अधिकार नहीं था कि वह अपनी इच्छा के अनुसार, 'कारपोरेशन' का सदस्य हो सके। 'कारपोरेशन' जिसे

चाहते उसे सदस्य बनाते और जिसे चाहते उसे अपनी पक्ति मे लें से इनकार कर देते। इस प्रकार 'कारपोरेशन' का संघटन स्पष्टत सर कारी संस्थाओ के रूप में होता है। इन्हीं की ओर से व्यवस्थाप सभा मे प्रतिनिधि नियुक्त कर दिया जाता था।

यह नियुक्ति भी सदस्यो के वोट से नहीं होती। 'कारपोरेशन' के जिन पदाधिकारियो की नियुक्ति सरकार करती है वे उसी के सङ्केत पर प्रतिनिधि नियुक्त कर दिया करते हैं। 'टाटेलेटेरियन' राज्य वस्था का यही रूप है। फासिटीवादी दार्शनिक इसी निरकुश और बर्बर राज्यव्यवस्था की कल्पना को विचित्र और अस्पष्ट वाक्यों के परिधान से ढककर इस प्रकार सामने उपस्थित करते हैं मानों कोई अत्यन्त गहन और गूढ़ बात कह रहे हो। नीचे लिखे वाक्य पर दृष्टिपात कीजिए। "जिस प्रकार हमारा मस्तिष्क वाणी के द्वारा अपना भावव्यक्त करता है और शारीरिक गति के द्वारा अपना सक्रियता का प्रयोजन प्रकट करते हुए भी वाणो और गति की सोमा से कहीं अधिक विस्तृत ओर परे होता है उसी प्रकार राजसत्ता यद्यपि 'कारपो रेशन' के द्वारा अपने को व्यक्त करती है और उसे अधिकाराश प्रदान करके सजीव बनाती है तथापि राजसत्ता के व्यक्तित्व की अक्षुण्णता अक्षत बनी रहती है क्योकि वह समस्त 'कारपोरेशनो' के सम्मिलित योग की सीमा का अतिक्रमण कर जाती है।" यह वाक्य यद्यपि शब्दजाल में वास्तविक भाव छिपाने की चेष्टा करता है तथापि उसमें फासिटीवाद की शासन-सत्ता की प्रकाण्ड कल्पना कैसी भयावनी है।

ऋषि-मुनि कहते हैं कि निराकार ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति विराट दृश्य-अदृश्य जगत् के रूप मे होती है पर वह ब्रह्म स्वयम् इस भव प्रपञ्च की सीमा का अतिक्रमण कर जाता है। उनकी कल्पना है कि पूर्ण से पूर्ण निकलता है फिर भी पूर्ण ही शेष रह जाता है। विचार तो कीजिए कि फासिटियो की सरकार सम्बन्धी धारणा किस ब्रह्म की कल्पना से कम है? उनकी दृष्टि मे वही सब कुछ है, उसी में

अभिव्यक्ति समूह और व्यक्ति में है, उसी के प्रकाश से सब प्रकाशित होते हैं और उसी से प्राप्त अधिकार से अधिकारी बनते हैं पर यह सब होते हुए भी वह उनकी सीमा से परे है, अक्षुण्ण और अक्षत है। ऐसी सत्ता के अधिकार-क्षेत्र से सामाजिक जीवन का कोई भी पहलू बचा नहीं रह सकता। फलतः 'टाटेलेटेरियन' राष्ट्र की अधिनायक-वादिनी राजसत्ता किसी का कोई आर्थिक हित भी स्वीकार नहीं करती। उत्पादन, वितरण और उपभोग की सारी व्यवस्था पर उसी का एकाधिपत्य होता है। विनिमय, मुद्रा, उद्योग आदि कितना और कैसा माल पैदा करे, किस पदार्थ का मूल्य कितना हो, कौन उद्योग-पति कितना मुनाफा कमाए आदि सारी बातों का निर्णय उसी के संकेत पर होता है। स्पष्ट है कि वह न मजदूर का अधिकार मानती है और न मिल-मालिक का। मजदूर कितने घंटे काम करे, कितना अवकाश पावे, कितनी मजदूरी कमाए, उसके राजनीतिक अधिकार क्या हों, वह किस प्रकार मिले जुले, कैसा जीवनयापन करे आदि बातों का निश्चय भी सरकार ही कर देती है।

गत पृष्ठों में लिख चुका हूँ कि रूस की बोल्शेविक सरकार भी ऐसे ही सर्वव्यापी अधिकारों का उपभोग करती है। पर उनमें और फासिटी सरकार में मौलिक भेद है। फासिटी सरकार राजनीतिक अधिकार-सत्ता की स्वामिनी हो जाती है पर आर्थिक संघटन में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं करती। उसके अधीन मिल-मालिक और मज़-दूर, किसान और जमींदार, महाजन और सूदखार, व्यक्तिगत रूप से व्यवसाय करने वाले हैं। और व्यक्तिगत सम्पत्ति ज्यों की त्यों बनी रहती है। वह सरकार जो करती है वह केवल इतना ही है कि सब को अधिकार वंचित करके अपने को ही सर्वस्व की अधिकारिणी बना देती है और सब का उपयोग एकमात्र अपने हित और अपनी सुविधा की दृष्टि से करती है। वह सरकार ऐसी होती है जिसके निर्माण में न मजदूर का हाथ है, न किसान का न जन-समाज का। बोल्शे-

विक सरकार यद्यपि सर्वस्व की अधिकारिणी है तथापि वह सारे आर्थिक संघटन को बदल कर नए समाज की रचना करती है। मजदूर तथा उत्पादक जनवर्ग के हाथ मे अधिकार सत्ता समर्पित कर देने की कल्पना करती है।

अब हिटलर के नाजीवाद पर भी दृष्टि डाल लीजिए। आप देखेगे कि उसमे उपर्युक्त फासिटी कल्पना का ही चरम रूप विकसित हुआ है। वह वास्तव मे एक पग और आगे बढ़ गया है। नाजीवाद केवल इतना ही स्वीकार नहीं करता कि जिनमे अधिकार-सत्ता प्राप्त कर लेने की शक्ति है वे ही शासन करने के अधिकारी होते हैं वरन यह घोषणा भी करता है कि धरातल पर एकमात्र नार्डिक जाति ही ऐसा समूह है जिसमे ऐसी योग्यता तथा शक्ति है कि वह सारे जगत् का शासन करे। उसके मत से जर्मनो की सृष्टि जगत् की प्रभुता के लिये ही हुई है और जब तक यह लक्ष्य पूरा नहीं होता तब तक न भूमण्डल का कल्याण हो सकता है और न मानवता का विकास सम्भव है। तात्पर्य यह है कि नाजीवाद मुख्यतः जातिगत श्रेष्ठता के सिद्धान्त पर आश्रित है। वह आर्य-पुरुष ही नहीं अधि-जाति के भी अस्तित्व मे विश्वास करता है। नाजीवाद की इस कल्पना का आधार न कोई तर्क है न कोई ऐतिहासिक वास्तविकता, और न कोई वैज्ञानिक सिद्धात। वह आश्रित है केवल अंधविश्वास पर, उग्र उत्कण्ठा तथा विचित्र मनःस्थिति और उन्मत्त भावुकता पर। नाजीवाद अपनी उपर्युक्त धारणा को बुद्धि-विवेचना अथवा तर्क की सीमा से परे समझता है। वह कहता है कि यह धारणा परिणाम है उस दिव्य ज्ञान और आन्तरिक उत्प्रेरणा का जो अकस्मात् उसके नेता को प्राप्त हो गया।

ऐसी स्थिति मे इतना स्पष्ट हो ही जाता है कि नाजीवाद न तो कोई योजना जानता है न व्यूहन। न उसकी कोई सुविचारित पद्धति है और न कार्य-कारणवद्ध प्रयोग। धार्मिक कट्टरता और कठमुल्लापन जिस प्रकार बुद्धिहीन उत्तेजना की आग सुलगाने में समर्थ होता है

उसी प्रकार नाजीवाद अंधविश्वास पर आश्रित धारणा को लेकर जर्मन-जनता की शक्ति, भावुकता और क्रोध को भड़का देने की चेष्टा करता है। वह प्रत्येक जर्मन को इसी के द्वारा अकल्पित बलिदान और अदम्य वीरता के लिये आँखें मूदकर आगे बढ़ने के लिये उभाड़ना है। यही धारणा और प्रक्रिया नाजीवाद की विशेषता है। जहाँ-तक सरकार, नैतिकता, व्यक्ति, समाज और जीवन के लक्ष्य आदि प्रश्नों का सम्बन्ध है वहाँ नाजीवाद की वही दृष्टि है जो फासिटीवाद की है। वह भी उसी प्रकार व्यक्तिवाद का विरोधी है और मनुष्य की असमता का समर्थक है जैसे फासिटीवाद। शासन-सत्ता से बडी किसी शक्ति या सस्था को वह भी स्वीकार नहीं करता। शासन-सत्ता उसकी दृष्टि मे भी कोई राजनीतिक संघटनमात्र नहीं है। वह समझता है कि शासनसत्ता वह विभु और विराट् सत्ता है जिसमे सारा जन-समाज अथवा सारी जाति समाविष्ट है।

समाज अथवा राष्ट्रकी सारी भावना, इच्छा और संकल्प का अधिष्ठान अधिनायक और उसका दल करता है। इसी धारणा के आधार पर वह यह दावा करता है कि नाजीवादी सरकार की भावना, इच्छा सकल्प और कार्य के सिवा राष्ट्र की दूसरी भावना या इच्छा नहीं हो सकती। नाजीवाद मानवसमाज के इतिहास की व्याख्या भी इसी जातिवाद के आधार पर करता है। वह समझता है कि मानवसमाज की सारी गति और उसके इतिहास का सारा प्रवाह विभिन्न देशों मे बसने वाली भिन्न-भिन्न जातियो की गति-शीलता से सम्बद्ध रहा है; इतिहास का सम्बन्ध न महान आदर्शों से रहा है, न वर्गों के संघर्ष से और न मनुष्य की स्वतन्त्रता के संघर्ष से। सदा से जातियों में जो टक्कर होती रही है उसी से इतिहास का निर्माण होना रहा है। रोजेनबर्ग के मत से इतिहास का एक ही लक्ष्य पहले भी रहा है और आज भी है। वह लक्ष्य यह है कि जर्मनी की नार्डिक जाति के अस्तित्व की रक्षा और उसके रक्त की शुद्धि की जाय। जिसके फलस्वरूप भविष्य मे

विक सरकार यद्यपि सर्वस्व की अधिकारिणी है तथापि वह सारे आर्थिक संघटन को बदल कर नए समाज की रचना करती है। मज-दूर तथा उत्पादक जनवर्ग के हाथ मे अधिकार सत्ता समर्पित कर देने की कल्पना करती है।

अब हिटलर के नाजीवाद पर भी दृष्टि डाल लीजिए। आप देखेगे कि उसमे उपर्युक्त फासिटी कल्पना का ही चरम रूप विकसित हुआ है। वह वास्तव मे एक पग और आगे बढ़ गया है। नाजीवाद केवल इतना ही स्वीकार नहीं करता कि जिनमे अधिकार-सत्ता प्राप्त कर लेने की शक्ति है वे ही शासन करने के अधिकारी होते हैं वरन् यह घोषणा भी करता है कि धरातल पर एकमात्र नार्डिक जाति ही ऐसा समूह है जिसमे ऐसी योग्यता तथा शक्ति है कि वह सारे जगत् का शासन करे। उसके मत से जर्मनो की सृष्टि जगत् की प्रभुता के लिये ही हुई है और जब तक यह लक्ष्य पूरा नहीं होता तब तक न भूमण्डल का कल्याण हो सकता है और न मानवता का विकास सम्भव है। तात्पर्य यह है कि नाजीवाद मुख्यतः जातिगत श्रेष्ठता के सिद्धान्त पर आश्रित है। वह आर्य-पुरुष ही नहीं अधि-जाति के भी अस्तित्व मे विश्वास करता है। नाजीवाद की इस कल्पना का आधार न कोई तर्क है न कोई ऐतिहासिक वास्तविकता, और न कोई वैज्ञानिक सिद्धात। वह आश्रित है केवल अंधविश्वास पर, उग्र उत्कण्ठा तथा विचित्र मनःस्थिति और उन्मत्त भावुकता पर। नाजीवाद अपनी उप-युक्त धारणा को बुद्धि-विवेचना अथवा तर्क की सीमा से परे सम-झता है। वह कहता है कि यह धारणा परिणाम है उस दिव्य ज्ञान और आन्तरिक उत्प्रेरणा का जो अकस्मात् उसके नेता को प्राप्त हो गया।

ऐसी स्थिति मे इतना स्पष्ट हो ही जाता है कि नाजीवाद न तो कोई योजना जानता है न व्यूहन। न उसकी कोई सुविचारित पद्धति है और न कार्य-कारणबद्ध प्रयाग। धार्मिक कट्टरता और कठमुल्लापन जिस प्रकार बुद्धिहीन उत्तेजना की आग सुलगाने में समर्थ होता है

उसी प्रकार नाजीवाद अंधविश्वास पर आश्रित धारणा को लेकर जर्मन-जनता की शक्ति, भावुकता और क्रोध को भड़का देने की चेष्टा करता है। वह प्रत्येक जर्मन को इसी के द्वारा अकल्पित बलिदान और अदम्य वीरता के लिये आँखें मूदकर आगे बढ़ने के लिये उभाड़ता है। यही धारणा और प्रक्रिया नाजीवाद की विशेषता है। जहाँ-तक सरकार, नैतिकता, व्यक्ति, समाज और जीवन के लक्ष्य आदि प्रश्नों का सम्बन्ध है वहाँ नाजीवाद की वही दृष्टि है जो फासिटीवाद की है। वह भी उसी प्रकार व्यक्तिवाद का विरोधी है और मनुष्य की असमता का समर्थक है जैसे फासिटीवाद। शासन-सत्ता से बड़ी किसी शक्ति या संस्था को वह भी स्वीकार नहीं करता। शासन-सत्ता उसकी दृष्टि मे भी कोई राजनीतिक संघटनमात्र नहीं है। वह समझता है कि शासनसत्ता वह विभु और विराट् सत्ता है जिसमे सारा जन-समाज अथवा सारी जाति समाविष्ट है।

समाज अथवा राष्ट्रकी सारी भावना, इच्छा और संकल्प का अधिष्ठान अधिनायक और उसका दल करता है। इसी धारणा के आधार पर वह यह दावा करता है कि नाजीवादी सरकार की भावना, इच्छा संकल्प और कार्य के सिवा राष्ट्र की दूसरी भावना या इच्छा नहीं हो सकती। नाजीवाद मानवसमाज के इतिहास की व्याख्या भी इसी जातिवाद के आधार पर करता है। वह समझता है कि मानवसमाज की सारी गति और उसके इतिहास का सारा प्रवाह विभिन्न देशों में बसने वाली भिन्न-भिन्न जातियों की गति-शीलता से सम्बद्ध रहा है; इतिहास का सम्बन्ध न महान आदर्शों से रहा है, न वर्गों के संघर्ष से और न मनुष्य की स्वतन्त्रता के संघर्ष से। सदा से जातियों में जो टक्कर होती रही है उसी से इतिहास का निर्माण होता रहा है। रोजेन-बर्ग' के मत से इतिहास का एक ही लक्ष्य पहले भी रहा है और आज भी है। वह लक्ष्य यह है कि जर्मनी की नार्डिक जाति के अस्तित्व की रक्षा और उसके रक्त की शुद्धि की जाय। जिसके फलस्वरूप भविष्य मे

उस जाति को शक्ति तथा महत्ता प्राप्त हो सके। नाजीवादी पण्डित यह समझते है कि यही एकमात्र ऐतिहासिक आवश्यकता है और इसी ओर होना चाहिए इतिहास का प्रवाह।

इतिहास का यह प्रवाह क्यों होना चाहिए इसका उत्तर देते हुए नाजीवादी यह कहेगा कि जगत् मे यद्यपि अनेक और भिन्न-जातियाँ है पर आधुनिक युग मे जर्मन जाति ही जगत् पर अधिकारसत्ता स्थापित करने की योग्यता रखती है और उसी मे यह सामर्थ्य है कि मनुष्य को संस्कृत बनावे, उसका नियन्त्रण करे और वसुधा के वैभव का उपयोग उसके हित मे कर सके। इस विश्वास को नाजीवाद ने धर्म का रूप दे रक्खा है। उस धर्म का एक ही सिद्धात है और वह यह कि नार्डिक जातिकी रक्षा की जाय। इसके लिये उन तमाम विजातीय जातियो का सफाया कर देना भी उचित समझता है जो मिश्रित होकर नार्डिक रक्त को भ्रष्टकर रही हैं। इस रक्तशुद्धि की महती आवश्यकता नाजीवाद को प्रतीत होती है क्योकि उसी में उसे उस शक्ति का उद्भव दिखाई देता है जिसके सहारे जर्मन जाति जगत् पर अपनी विजय-पताका फहराने मे समर्थ हो सकेगी। नाजीवाद यह समझता है कि नार्डिक जाति के रक्त में और उस भूखण्ड में जहाँ उस जातिका निवास है कुछ ऐसी रहस्यमय विशेषताएँ प्रकृति द्वारा भर दी गई हैं कि वह जाति और वह भूमि जगत् की अन्य समस्त जातियो मे उत्तम तथा उत्कृष्ट है। कैसे कब और क्यों प्रकृति ने यह किया, ऐसा होने का प्रमाण क्या है अथवा किन प्रमाणों से इस दावे की पुष्टि हो सकती है आदि प्रश्नो के लिये नाजीवाद स्थान भी नहीं देता। धर्म की बातों में शंका और तर्क तथा बुद्धि के लिये स्थान ही कहाँ रहता है।

इस सम्प्रदाय के देवता हिटलर हैं। एक नाजी लेखक कहता है कि "हम ईसा को केवल एक ही रूप मे ग्रहण कर सकते हैं और वह रूप है हिटलर का।" तात्पर्य यह कि हिटलर को देवदूत अथवा पैगम्बर अथवा अवतार का रूप प्रदान कर दिया गया। नाजीवादी

समझता है कि स्वर्ग मे बैठे भगवान् ने हिटलर को जर्मनभूमि पर भेजा है इसलिये कि वह इतिहास और प्रकृति का लक्ष्य पूरा कर सके। जहाँ यह धारणा और विश्वास हो वहाँ बुद्धि और विवेक के लिये कहाँ स्थान है ? नाजीवाद नार्डिक जाति की स्वतन्त्रता और गौरव का प्रतिपादक है। उधर हिटलर मे ही नार्डिक जाति की सारी विशेषता और उत्तमता का समावेश हुआ। वह उसके सजीव और पुञ्जीभूत प्रतीक हैं। अत नेतृत्व तथा अपरिमित और निरंकुश अधिकार के वे अधिकारी ओर उपभोक्ता हैं। सारी शक्ति और सारा अधिकार उन्हीं मे केन्द्रस्थ है। उनका कहना सत्य, उनका कहना न्याय्य और उनकी इच्छा ही नीति है। यही दो सत्य हैं जिन्हें नाजीवाद दिक्कालावच्छिन्न समझता है। इस सत्य की पूर्ति के लिए प्रत्येक व्यक्ति अस्तित्व रखता है और शासनसत्ता के अधिकार के अधीन है। इसके सिवा व्यक्ति का न कोई कर्त्तव्य है और न कोई अधिकार क्योंकि इसी मे नाजीधर्म की पूर्ति और इतिहास के प्रयोजन की सिद्धि है। इसी के फलस्वरूप जगत् की हीन जातियों को श्रेष्ठ नार्डिक जाति सभ्य और सुसंस्कृत बना सकेगी।

नाजीवाद के व्यावहारिक रूप की विवेचना करते हुए श्री राबर्ट ए० ब्रेडी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "स्पिरिट एन्ड स्ट्रक्चर आफ जर्मन फेसिज्म' मे लिखते है कि "नेशनल सोशलिस्ट पार्टी (जर्मनी का नाजीदल) ही देश की जनता की इच्छा और सकल्प को व्यक्त करती है। राष्ट्र का सर्वोत्कृष्ट नेता अपने सहकारियो को यह आदेश दे देता है कि उन्हें क्या करना चाहिए। ये सहकारी फिर अपने अधीन काम करनेवाले कर्मचारियो को बता देते हैं कि उन्हें क्या-क्या करना चाहिए। देश भर में फैले हुए ये अधीन कर्मचारी किसानो, मजदूरों, तथा व्यापक जनसमाज को भी आदेश दे देते हैं कि उन्हें क्या करना चाहिए, क्या उत्पादन करना चाहिए और क्या बेचना चाहिए और स्वयम् क्या प्राप्त करना चाहिए और किसे अपनी संपत्ति

समझना चाहिये। नाजीवाद में शक्ति और अधिकार का कैसा भयावना केन्द्रीकरण हुआ है और शासनसत्ता निरंकुशता के किस उत्तुङ्ग शिखर पर पहुँची हुई है यह इसी से स्पष्ट हो जाता है। सारी शक्ति एक व्यक्ति की मुट्ठी मे है और वहीं से अधिकार-धारा अधोमुख प्रवाहित होती है। हिटलर की इच्छा-अनिच्छा पर ही सारा राष्ट्र उठने-बैठने के लिये बाध्य है।

इस कल्पना में लोकतन्त्र अथवा समाजवाद, शान्तिवाद अथवा अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के लिये रञ्चमात्र भी गुञ्जाइश कहाँ है। समाज की स्वतन्त्रता अथवा व्यक्तिगत अधिकार, राष्ट्रों के परस्पर सहयोग अथवा पारस्परिक मानवीय सद्भाव, अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य अथवा विश्व की शान्ति की सम्भावना भी नहीं रह जाती। ऐसी स्थिति मे नाजीवाद की विचार-धारा जिस राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय नीति का प्रजनन करेगी उसकी कल्पना कर लेना कठिन नहीं है। युद्ध, रक्तपात, आक्रमणशीलता, दलन और शोषण के सिवा नाजीवाद की अन्तर्राष्ट्रीय नीति का और कोई आधार नहीं हो सकता। जगत् मे अशान्ति, भय, अविश्वास, और सशस्त्रता की प्रतिस्पर्धा का सर्जन कर देने के सिवा उस नीति का दूसरा परिणाम भी नहीं हो सकता। हिटलर को जगत् की शान्ति और व्यवस्था वस्तुत. स्थायी रूप में केवल एक ही स्थिति में दिखाई देती है। वह स्थिति तभी उत्पन्न होगी जब जगत् की सर्वोत्कृष्ट जर्मन जाति धरित्री को अपने अधीन करके अपना लक्ष्य पूरा कर ले।

अपनी इस नीति पर हिटलर स्वयम् प्रकाश डालते है। उन्हीं के शब्दों में उनका मन्तव्य पढ़िए। वे कहते हैं कि "मानवता और शान्तिवाद के सिद्धान्त सम्भव हो भले हो पर वे उसी समय भले होंगे जब भूमण्डल की सर्वश्रेष्ठ जाति विश्व पर विजय प्राप्त करके उसे अपने अधीन कर ले और उसका निर्दलन करके स्वयम् स्वामिनी बन जाय। अतः पहले युद्ध करो और तब बाद में शान्ति की बात करो

जायगी। यदि जर्मन जनता अपने एक सम्बन्ध पर स्थापित झुण्ड-प्रवृत्ति (हर्ड इन्स्टिक्ट) की अधिकारिणी रही होती और जर्मनी ने यदि अबतक संसार का राज्य प्राप्त कर लिया होता तो सम्भवत. हम उस शान्ति को प्राप्त कर चुके होते जिसका नाम ले-लेकर कुछ भ्रान्त शांति-वादी बुद्धि-भेद फैलाया करते है। वह शान्ति जब मिलेगी तब उसकी रक्षा विलासी व्यभिचारियो की शौकीनी से नहीं प्रत्युत उस प्रभुराष्ट्र के विजयी खड्ग के द्वारा हो सकेगी जो जगत् को उन्नत संस्कृति की ओर अग्रसर करता है।"

जिस उन्माद का परिचय उपर्युक्त वाक्यो मे मिल रहा है उस पर क्या अधिक टीका अपेक्षित है? स्पष्ट है कि खड्ग के द्वारा जगत् को पराधीन बनाने के बाद हिटलर शान्ति के आविर्भाव की कल्पना करते हैं और फिर उसके बाद खड्ग के द्वारा ही उस शान्ति की रक्षा संभव समझते हैं। इस प्रकार धरित्री की छाती पर स्थायी रूप से खड्ग का नग्न नर्तन होते रहने में ही उन्हें उन्नत संस्कृति दिखाई देती है। आगे और देखिए, वे कहते हैं "राष्ट्रों की सीमा की रचना मनुष्य ने ही की है और मनुष्य ही उसे मिटाता या बदलता है। यदि किसी ने शक्ति के द्वारा विस्तृत प्रदेश जीत लेने में सफलता प्राप्त कर ली है तो कदापि इसका यह अर्थ नहीं होता कि जो हो गया वह अनन्तकाल के लिये स्थिरसत्य हो गया। उससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि विजयी मे शक्ति थी और पराजित निर्बल था। अधिकार की धारा का स्रोत शक्ति है। जर्मन जाति यदि आज गिरी हुई है तो उसका यह अर्थ नहीं है कि वही उसकी नियति का विधान है। यह स्थिति तो केवल इस बात का परिणाम है कि उसने उठने, खड़े होने और गिर जाने से इन्कार कर दिया है। जर्मनी विश्व मे सर्वोत्कृष्ट बनेगा अथवा धरती से मिट जायगा।"

हिटलर के उपर्युक्त वाक्यों को केवल उनकी अन्तर्राष्ट्रीय नीति पर प्रकाश डालने के लिये उद्धृत नहीं किया है। मेरा आशय यह दिखाना

भी है कि प्रतिशोध और अपमान की ज्वाला मे जलते हुए राष्ट्र को कैसी नीति और कैसे उद्गार पसन्द आते हैं। हिटलर के वाक्यो मे जो उन्माद और उनकी विचारधारा तथा नीति मे जो बर्बरता किसी दूसरे को दिखाई देता है वही विजयी राष्ट्रो की ठोकरो से आहत जर्मन राष्ट्रो के हृदय को स्पर्श कर देती है। जिस अपमानजनक स्थिति में जर्मनी को ढकेल दिया गया उसकी ऐसी प्रतिक्रिया स्वाभाविक ही थी। फलत: जिस खड्ग को हिटलर अधिकार, शक्ति और न्याय का एकमात्र साधन समझते हैं उसका निर्माण करना ही उनकी एकमात्र आन्तरिक राष्ट्रीय नीति है। वह स्वयम् कहते है कि "जनता के नेता की राष्ट्रीय नीति यही है कि वह खड्ग का निर्माण देश मे कर सके।' इससे स्पष्ट हो जायगा कि नाजीवाद की उत्पत्ति किस लिये हुई है और किस लिये हुआ है उसका प्रयोग। जनता को सैनिक बना देना, प्रतिशोध दम्भ और द्वेष के भावों से उसे भर देना उनकी सरकार की चेष्टा है जातिगत श्रेष्टता की भावना उत्पन्न कर देना, भेड़िये आदि पशुओं मे जो झुण्डप्रवृत्ति होती है उसे पैदा कर देना, नेता के प्रति ऐसा अन्धविश्वास उत्पन्न कर देना कि जनता उसे खुदा का भेजा हुआ पैगम्बर समझे उनकी आन्तरिक नीति है।

जर्मनी मे विश्वविद्यालयो की शिक्षा का लक्ष्य ज्ञान की उपासना नहीं रणस्थल के लिये सैनिक तय्यार करना है। प्रत्येक विद्यार्थी को अनिवार्यत: सैनिक शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती है। बुद्धि को भले ही महत्त्व न दिया जाय पर शारीरिक बल अवश्य समझा जाता है। महिलाओ को यह उपदेश दिया जाता है कि उनका एकमात्र कर्तव्य है बच्चो को जनना क्योंकि बच्चो को सैनिक बना कर युद्ध मे भेजने तथा राष्ट्र के महान् लक्ष्य की पूर्ति मे बलि चढ़ा देने से बढ़ कर न कोई पवित्र कर्त्तव्य है और न उससे बढ़ कर गौरव की दूसरी बात हो सकती है। हिटलर के स्टार्म ट्रूप (तूफानी सेना) के सैनिको के लिए विवाह ...ना। अनिवार्य बना दिया गया था जिसमें जन-सङ्ख्या की वृद्धि हो।

महिलाओ का संघटन और उनकी शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था इस दृष्टि को लेकर की जाती रही है कि वे बलशील बच्चे उत्पन्न करने की योग्यता प्राप्त करें। बहुत सी महिलाएँ लिखा पढा कर इसलिये तय्यार की जाती रही हैं कि उनका विवाह सुदृढ शरीर वाले सैनिको से कराकर उन्हें मजबूत बच्चो की जननी बनाया जा सके। सारी व्यवस्था इसलिये थी कि समय आने पर इन बच्चो को युद्ध मे भेजा जा सके। तात्पर्य यह कि सारी राष्ट्रीय नीति एक लक्ष्य को लेकर परिचालित थी कि घोर युद्ध और सहार की सृष्टि करके संसार पर जर्मन जनता की प्रभुता स्थापित की जा सके। नाजीवाद जगत् की शान्ति और व्यवस्था की समस्या का यही एकमात्र हल उपस्थित करता है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये जर्मन-जनता की स्वतत्रता और अधिकार का निर्दलन कर देना पड़ता है तो नाजीवाद उसे भी अन्तिम सीमा तक कर देता है।

उसकी छत्र-छाया मे जनता और वहाँ के मजदूर तथा किसान के लिये उतनी स्वतन्त्रता भी विजातीय है जितनी की पूँजीवादी लोकतन्त्रात्मक देशो मे वहाँ की जनता को प्राप्त है। जर्मनी मे नाजी-वाद के सिवा किसी दूसरे दल को जीवित रहने का भी अधिकार नहीं है। और तो और हिटलर ने अपने देश के समस्त मजदूर संघटनो को उध्वस्त कर डाला है। उनका मूलोच्छेदन करते हुए उन्होंने घोषणा की थी कि "कैसा मजदूर दल? मजदूर दल की क्या जरूरत है। नेशनल सोशलिस्ट पार्टी ही तो मजदूर दल है। जब सारे राष्ट्रीय जीवन का प्रतिनिधित्व वह करती है तो फिर किसी दूसरे दल की न आवश्यकता है और न किसी दूसरे दल को स्थान है।" पर जहाँ मजदूरो की यह दशा है वहाँ दूसरे दल भी सुरक्षित नहीं हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जिन दलों और वर्गों की सहायता पाकर हिटलर पदारूढ़ हुए थे, शक्ति ग्रहण करने के बाद उहीं पर उनका पहला आघात हुआ। धीरे-धीरे उन्होंने अपने सहायको और विरोधियो का सफाया कर डाला। देश में एकमात्र नाजीदल रह गया।

नाजीवादी जर्मनी में उद्योगपतियों और पूँजीपतियों तक की दशा भी वह नहीं है जो पूँजीवादी देशों में उन्हें प्राप्त है।

बड़े-बड़े उद्योग और कल कारखाने उद्योगपतियों की निजी सम्पत्ति भले ही बने रहें पर अपनी सम्पत्ति का मनमाना उपभोग करने का अधिकार उन्हें नहीं रहा। अपने इच्छानुसार माल पैदा करना, बेचना मुनाफा कमाना और प्रतिद्वन्दिता करना उनके बूते की बात नहीं रह गई। सरकार के आज्ञानुसार उन्हें उत्पादन करना होगा, वितरण करना पड़ेगा और बिक्री के लिये बाध्य होना पड़ेगा। लाभ भी वे वही उठा सकेंगे जो सरकार चाहेगी। कल-कारखानों तथा उद्योग की व्यवस्था, मजदूरों की मजदूरी सरकार के आदेश के अनुसार निर्धारित होगी। इस प्रकार पूंजीपति अपनी संपत्ति का स्वामी नाममात्र को ही रह जाता है। इतना ही अलम् नहीं है। यह समझना भी भूल है कि नाजी या फासिस्ट सरकार पर पूँजीपति, उद्योगपति अथवा महाजन वर्ग की सत्ता प्रतिष्ठित रहती है। यह कहा जाता है कि नाजीवाद या फासिस्टीवाद पूजीवादी व्यवस्था को बचाए रखने के लिये पूँजीवादियों का ही अन्तिम प्रयास है। यह सच है कि पूँजीपतियों तथा उस वर्ग के एजेण्टों ने नाजी-विद्रोह की सहायता यही समझकर की थी कि नाजी सरकार आमूल प्रकम्पित और जर्जरीभूत पूँजीवादी व्यवस्था की रक्षा करने का ही काम करेगा। पर आगे चलकर उनकी यह धारणा भ्रान्त निकली और नाजी-विद्रोह तथा उसके उपरान्त की नाजी-सरकार तथा व्यवस्था ने उनकी भ्रान्ति सिद्ध कर दी।

फ्रेडरिक शूमेन अपनी पुस्तक "नाइट ओवर यूरोप" में लिखते हैं "नाजी अधिनायकवाद के सम्बन्ध में पहले जो भ्रान्त धारणा थी वह अब नहीं रही। मुझे यह अच्छी तरह स्मरण है कि बर्लिन में सन १९३३ ई० में श्री माउटर ने यह भविष्यवाणी की थी कि नेशनल सोशलिज्म एक दिन नेशनल बोल्शेविज्म का रूप ग्रहण करेगा। उस समय मैंने इस मत का प्रबल खण्डन किया था और यह राय दी थी

की नाजीवाद पूँजीवादियो और अनेक एजेन्टो का एक प्रयास है जो अपनी रक्षा के लिये किया गया है। पर बाद की घटनाओं ने यह सिद्ध कर दिया कि मेरा विचार गलत था और श्री माउटर जो कह रहे थे वही सत्य था। आज जर्मनी मे तृतीय राईख के नाम से जिस सरकार की सत्ता स्थापित रही उसके वास्तविक स्वरूप की कल्पना उस समय नहीं की जा सकी थी। यह सत्ता न तो पूजीपतियो और उनके ऐजेन्टो के हाथ की कठपुतली है और न उनकी कार्यसमिति है जो उनके हित की नीति संचालित करने मे लगी हुई है। पूँजीपति और सामन्तो को यदि वह सहन करती है तो केवल उस सीमा तक सहन करती है जहाँ तक उनका शोषण अपने हित में करना सम्भव होता है। पूँजीपतिवर्ग को भी वह अपने संकेत पर नचाती है और बलपूर्वक उनका उपयोग अपनी सुविधा के अनुकूल करती है। यह सम्भव नहीं है कि उक्त वर्ग उस सरकार की नीति के सञ्चालन की बागडोर अपने हाथो मे ले और उसे इस प्रकार प्रभावित करे कि वह उनके वर्गमूलक स्वार्थों की सिद्धि का साधक हो। नाजीवादी और नाजी व्यवस्था वस्तुत एक नव-विद्रोह है जिसका प्रवर्त्तन विद्रोहियो के ऐसे नये गुट ने किया है जिनकी अपनी नयी राजनीतिक और सामाजिक कल्पना है। सारे जगत् मे वे उसी विद्रोह की आग भड़काने की चेष्टा मे लगे हैं। सम्पत्ति और धन की वह कल्पना और उनका वह मूल्य तथा वह स्थान जो पुराने अर्थशास्त्रियों की दृष्टि मे था नाजीव्यवस्था में नहीं रह गया।"

फ्रेडरिक शूमेन का मत ग्राह्य है अथवा नहीं इस विवाद मे यहाँ न पड कर इतना तो स्वीकार किया ही जा सकता है कि फासिटी अथवा नाजी व्यवस्था में यद्यपि आर्थिक संघटन का मौलिक परिवर्तन नहीं होता तथापि वहाँ के आर्थिक क्षेत्र का सूत्र शासन-सत्ता के हाथ मे रहता है जो उसका संचालन अपने हित के लिये मनमाने ढंग से करती है। वहाँ के मजदूर यदि स्वतन्त्र नहीं, अधिकार वंचित हैं

तो पूँजीपॅतियों के गले पर भी शासन व्यवस्था की लम्बी भुजा पहुँची हुई है। दोनों पराधीन हैं सरकार के और उन्हें उतना अधिकार भी प्राप्त नहीं है जितना पूजीवादी लोकतन्त्रात्मक देशो के कानून प्रदान करते है। नाजीवाद की आर्थिक, समाजिक और राजनीतिक व्यवस्था का यही रूप है। मै समझता हूँ, कि पाठको ने फासिटीवाद और नाजीवाद के उपर्युक्त संक्षिप्त चित्रण से यह अभास पा लिया होगा कि उन दोनो की दृष्टि, लक्ष्य, पथ और प्रेरणा मे अधिक भेद नहीं है। दोनो मे प्रायः एक ही प्रवृत्ति और कल्पना का उदय हुआ है। यह प्रवृत्ति और यह कल्पना यदि समाजवाद की विरोधिनी है तो उससे कम लोकतंत्रवाद का भी विरोध नही करती। यदि वह जन-स्वतन्त्रता और जन-सत्ता का मूलोच्छेदन करती है तो सामन्तवादी और पूँजीवादी गुटो को भी दबाए रखने मे विश्वास करती है। एक वाक्य मे कहें तो कह सकते हैं कि नाजीवाद और फासिटीवाद उन समस्त धारणाओं, कल्पनाओ और आदर्शों का प्रतिवाद और उच्छेदन है जिनका विकास यूरोप मे 'पुनरुद्धार युग' (रेनिसाँ) के बाद हुआ था। वह पाश्चात्य संस्कृति की सारी भित्ति और मूलाधार पर कठार आघात है।

यह सच है कि फासिज्म मे आज जिन विचारोका विकसित रूप प्रदर्शित हुआ है वे जगत् के लिये बिल्कुल नये नहीं है। यूरोप में भी शताब्दियों पूर्व ऐसे दार्शनिक हो चुके हैं जिनकी विचारधारा मे आज के फासिज्म का प्रवाह स्पष्ट दिखाई देता है। फासिटीवाद के जन्म के शताब्दी पूर्व जर्मनी मे ही 'फीख्टे' और उनके बाद नीट्शे आदि ऐसे विचारक हुए हैं जिनके विचारो मे आधुनिक फासिज्म का स्रोत दिखाई देता है। नीट्शे को तो कुछ लोग फासिटीवाद का 'आदि-पुरुष' कहते हैं पर 'फीख्टे' आदि के विचार भी विशेष परिस्थिति में ही उपजे थे। फीख्टे का काल वह रहा है जब जर्मन राष्ट्र नेपोलियन के विरुद्ध घोर युद्ध मे संलग्न था। उस समय जर्मनी विशेष अवस्था

में था और उसकी विशेष आवश्यकता थी। फीख्टे अपने देश की स्थिति से प्रभावित हुए। उन्होने देखा कि संघटित और एकात्म हुआ जर्मनी ही नेपोलियन की विजयिनी रणवाहिनी का सामना कर सकता है। फलतः यह आवश्यक था कि जर्मन जनता की देशभक्ति की भावना का उद्बोधन कर दिया जाय।

इसी दृष्टि से फीख्टे ने अपने विचारो का प्रतिपादन किया। उन्होंने समाज को दो प्रकार के वर्गों मे विभक्त किया। एक वर्ग ता उन लोगों का वताया जो उत्तम पुरुष कहे जाते हैं और दूसरे वे हैं जो 'अनुत्तम' वर्ग मे है। 'उत्तम वर्ग' शासन करता है और राष्ट्र के लिये जीवन की वलि चढ़ा देता है। 'अनुत्तम वर्ग' वह है जो शासित रहता है और जिसका एकमात्र कर्त्तव्य यह है कि 'उत्तमवर्ग' की सेवा करे। फीख्टे ने 'उत्तमवर्ग' को जागरित करने की भरपूर चेष्ट की और घोपणा की कि इस वर्ग में सकल्प-शक्ति होती है जो इतिहासके प्रवाह को समय-समय पर मोड़ती रही है। फीख्टे की दृष्टि मे शक्ति और अधिकार-प्राप्ति की इच्छा ही मनुष्य-जीवन का मूल है और उसी मे 'उत्तम' को उत्तमता अभिव्यक्त हाती है। 'उत्तम' और 'अनुत्तम' के भेद के सिवा फीख्टे के विचारो में जाति-गति श्रेष्ठता की भावना का वीज भी उपस्थित है। वे कहते हैं कि जर्मनी मे यद्यपि, 'उत्तम' और 'अनुत्तम' का वर्ग-भेद मौजूद है फिर भी दूसरे राष्ट्रो की तुलना मे जर्मनीके 'अनुत्तम' भी 'उत्तम' हैं। क्योकि "जर्मन होना और चरित्र-शील होना वस्तुतत एक ही वात है।" फीख्टे जर्मनी को सघटित कर के कारपोरेट संस्था का रूप प्रदान करने की राय देते हैं और प्रत्येक व्यक्ति को सैनिक शिक्षा देकर देश-भक्ति की वह अग्नि प्रज्वलित करना चहाते हैं जो प्रत्येक जर्मन संतान को राष्ट्र के लिये जीवन-होम देने की उत्प्रेरणा प्रदान करे।

फीख्टे के उपर्युक्त विचारों में फासिज्म की कल्पना के जो बीज

निहित हैं वे स्पष्ट हैं। पर उन विचारों का उत्कृष्ट विचार तो नीट्शे के ग्रन्थों मे हुआ है। १९ वीं शती के मध्य मे नीट्शे का जन्म हुआ जो जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक हुए। उनके विचारो की विवेचना और खंडन-मंडन मे संलग्न होना मेरा लक्ष्य नहीं है पर उन्हे संक्षेप मे उपस्थित कर देना चाहता हूँ क्योंकि फासिज्म के आदि विचारो का आभास उसमें मिल जाता है। नीट्शे की वचार-धारा अहम्वाद का परम रूप प्रदर्शित करती है। वह सर्वत्र 'मैं' को ही देखते हैं और 'मैं' के सिवा दूसरा कुछ नहीं मानते। उनके मत से अहम् की भावना ही मुख्य है। वही उचित और उसी की पूर्ति कर्तव्य है। वही नैतिक है। अहम् का ही अस्तित्व है और उसके सिवा जो भी है वह महत्वहीन तथा निरर्थक है। वे समझते हैं कि ईश्वर भी नही है क्योंकि वह मर चुका और अहम् ने उसकी हत्या कर डाली है। अहम् ही सब का निर्णायक है, सब का संचालक है और सब का अस्तित्व उसी से सापेक्ष है। अक्षुण्ण ऐकान्तिक अहम् ही है। वह ईश्वरसे भी अधिक परिपूर्ण है। ईश्वर तो है ही नहीं और यदि हो भी तो अहम् ही ईश्वर है।

दार्शनिक दृष्टि से ये विचार ऊँचे हुए होते यदि नीट्शे ने अपने 'अहम्' को ऊँचा उठाया होता। अद्वैतवाद का प्रतिपादक वेदान्त भी 'सोहमस्मि' की आवाज लगाता है पर उसका अहम् इतना ऊँचा और इतना व्यापक है कि मैं और तुम की सारी दुनिया उसमे लय हो जाती। पर नीट्शे अपने अहम् को उतनी दूर न ले जा सके। वे उसकी व्याख्या करते हुए कहते कि 'मैं' का अर्थ है मेरा शरीर। सब का मानदण्ड यह शरीर ही है। शरीर ही सत्य है। दुनिया के समस्त दर्शनो से कहीं अधिक ज्ञान तुम्हारे शरीर मे है। तुम्हारे मस्तिष्क अथवा तुम्हारे विचारो से कहीं अधिक बुद्धिमानी तुम्हारे शरीर में है। नीट्शे इस शरीर की भी व्याख्या करते है और कहते हैं कि शरीर का अर्थ है शक्ति, प्रवृत्ति और इच्छा। प्रवृत्ति ही सत्य है और संकल्प ही सत्य है। संकल्प और प्रवृत्ति की भी अभिव्यक्ति बलशील होने तथा

शक्ति-लाभ करके दूसरे पर अधिकार स्थापित करने मे व्यक्त होती है। इन सिद्धान्तों के आधार पर नीट्शे दार्शनिक विचारो की एक दीवार खड़ी करते हैं। उनके मत से 'जीवन के संघर्षमे जो सवल और योग्य हैं वे टिकते हैं और निकम्मे तथा निर्जीव मिट जाते है'। विकास की प्रक्रिया इसी प्रकार चरितार्थ होती है और विकास ही प्रकृति का धर्म है। इसका अर्थ यह है कि जो सवल है, योग्य हैं और अधिकार स्थापित करने में समर्थ है उन्हीं को जीवित रहना चाहिए। निर्बलो का मिट जाना ही वाछनीय है। यही नैतिकता है क्योंकि विकास की क्रिया मे जो सहायक हो और जो उसकी धारा को अग्रसर करे वही नैतिक है। इसके विपरीत जो उस क्रिया का बाधक हो वही अनैतिक है।

नीट्शे की दृष्टि स्पष्टतः जिस बात का प्रतिपादन करती है वह यही है कि सवल और सशक्त रहें, जगत् का भोग करे और दूसरो पर अपने अधिकार की स्थापना करे। इस संघर्ष में जो सफल हो, वे ही सवल हैं और जो असफल हो वे निर्बल तथा अयोग्य हैं जिन्हें पीस कर मिटा देना ही नीति, न्याय और औचित्य है। नीट्शे सवल को सारा अधिकार प्रदान कर देते हैं। वह जीवित रहने का, अधिकार और प्रभुता स्थापित करने का तथा जो भी करना चाहे, वह सब करने का अधिकारी है। संघर्ष मे शस्त्र के द्वारा अपनी सवलता का परिचय देनेवाले को सारा अधिकार प्रदान कर देने के सिद्धान्त के नीटशे प्रबल प्रतिपादक हैं। इच्छा, सङ्कल्प और शस्त्र के द्वारा शक्ति-लाभ करके दूसरो पर अधिकार स्थापित करने की भावना और चेष्टा उनकी दृष्टि मे प्रकृति का नैतिक पथ, जीवन का चरम लक्ष्य और मनुष्य के लिये विधेय कर्त्तव्य है। इसके विपरीत जो भी है वह निर्जीवता, नपुंसकता और अनैतिकता है। अपने इस दृष्टिकोण के कारण वे लोकतन्त्रवाद और स्वयम् ईसाई धर्म की नैतिक कल्पना तथा आचारवाद का भी प्रबल विरोध और गहरी टीका करते हैं। मनुष्य सब समान हैं और सब की भलाई करना कर्त्तव्य है यह उनकी

समझ में बिल्कुल झूठ है। न सब समान हैं न सब की भलाई करना वे अपेक्षित मानते हैं। इस प्रकार के भाव ही दुर्बलो और निकम्मों के उपयुक्त है जो दास हैं और जिनका जीवन केवल इसलिये है कि सबल उन्हें कुचल कर विकास की प्रक्रिया का पथ प्रशस्त करे। दया, सहयोग, समवेदना आदि भाव ऐसे ही शक्तिहीनो के लिये हैं।

नीट्शे लोकतन्त्र की व्याख्या करते हुए कहते है कि सबल ने सब काल मे निर्बल पर शासन किया है। निर्बल अपनी रक्षा करने की चेष्टा करता है और राजनीतिक क्षेत्र मे उसकी यह चेष्टा लाकतन्त्र के रूप में व्यक्त होती है जिसमे मानवमात्र की समानता का झूठा सिद्धान्त खड़ा करके अपनी संख्या के बल से वह अपनी रक्षा करना चाहता है। इसी प्रकार नैतिक क्षेत्र मे अपनी रक्षा का प्रयास उसने किया जिसकी अभिव्यक्ति ईसाई-धर्म के आचारवाद मे होती है। नम्रता, दया आदि को धर्म घोषित करके ये दब्बू नैतिक आदर्शों की दीवार खड़ी करते हैं और उसके पीछे छिपकर अपनी जान बचाना चाहते हैं। नीट्शे को तो जीवन की सजीवता प्रभुता स्थापित करने की इच्छा में दिखाई देती है। जो प्रकृति के विकास-सोपान पर चढ़ चुका है, जो साधारण मनुष्यो की भीड़ मे असाधारणता प्राप्त कर चुका है, उसी मे उपर्युक्त इच्छा और संकल्प दिखाई देता है। ऐसे ही लोग 'उत्तम' है। उनके लिए न नीति का बन्धन है और न राष्ट्र का। वे स्वयम् अपने ही स्वामी होते हैं।

नीट्शे का विश्वास है कि विकास की क्रिया इसी प्रकार सम्पादित होगी। बन्दरो से विकसित होकर कोई प्राणी इसी प्रकार मनुष्य बना। नीट्शे समझते हैं कि अब मनुष्य को इसी प्रकार विकसित होकर किसी नई जाति को जन्म देना होगा। वह नयी जाति होगी अधि मानवो' की। उनके वाक्यो पर ध्यान दीजिए। "मानव को मानव जाति का अतिक्रमण करना है। पर इस दिशामे उसने अबतक क्या किया?

वह तो उलट कर चल पड़ा है और पुनः पशु हो जाना चाहता है। वन्दर आज मनुष्य की दृष्टि मे क्या महत्त्व रखता है? वह उपहास्य है और एक लज्जाजनक जन्तु के सिवा कुछ नहीं है। इसी प्रकार 'अधि-मानव' के सम्मुख आज के मनुष्य का क्या महत्त्व होगा? वह उपहास्य और लज्जाजनक जन्तु के सिवा कुछ नहीं।"

नीट्शे के विचारो को कुछ विस्तार के साथ लिखने का साहस इस दृष्टि से किया कि उसमे आधुनिक फासिटीवाद और नाजीवाद का आदिरूप स्पष्ट दिखाई देता है। 'अधि-पुरुप' और 'अधिनायक' लोकतन्त्र का विरोध और मनुष्य की असमानता का प्रतिपादन, शक्ति की प्राप्ति और निरकुश प्रभुता स्थापित करने की इच्छा, युद्ध और रक्तपात को प्रशसा, निर्दलन और शोषण मे नैतिकता के दर्शन, जगत् की पराधीनता और शस्त्र का राज्य, सत्यासत्य, विधि-निपेव की समस्त परम्परागत धारणाओ का मटियामेट करके उचित-अनुचित के निर्णय का सर्वाधिकार एकमात्र खड्ग मे प्रतिष्ठित कर देना आदि जो विशेपताएं फासिटीवाद मे प्रदर्शित हैं उनका बीज नीट्शे ऐसे विचारको के विचार-क्षेत्र मे दशको पूर्व अकुरित हो चुका है। आज वे ही विचार जर्मन नाजीवाद मे विकसित दिखाई दे तो इसमे आश्चर्य ही क्या है? नाजीवादी समझते है कि जर्मनी की नार्डिक जाति ही 'अधि-पुरुप' को उत्पन्न करने की शक्ति रखती है क्योकि वह जगत् की सर्वोत्तम जाति है, उसका रक्त सर्वोत्कृष्ट है और उसकी भूमि सर्वश्रेष्ठ है। फलत: विश्व को कुचल कर अपनी प्रभुता स्थापित करने का नैतिक अधिकार उसी को प्राप्त है। नाजी विचारको की इन घोषणाओ का कोई आधार नहीं है। जातिगत श्रेष्ठता का सिद्धान्त वैज्ञानिक नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी वह निराधार और असिद्ध है। इतिहास और समाज-शास्त्र दोनो ही दृष्टि से जातियो की रक्त-शुद्धि की कल्पना सर्वथा भ्रान्त सिद्ध हो चुकी है।

प्राणि-विज्ञान के द्वारा भी अब तक विभिन्न जातियो के रक्त मे

ऐसा कोई तत्त्व दिखाई नहीं पड़ा जिसके आधार पर एक जाति श्रेष्ठ और दूसरी हीन कही जा सके। इसके विपरीत यह स्वतः सिद्ध है कि जगत् की सभी जातियाँ विभिन्न जातियोंके सम्मिश्रण का ही परिणाम है। यह कहना कि इतिहास का निर्माण जातियों ने किया है असंगत तथा अर्द्धसत्य ज्ञात होता है। यदि, कभी किसी आदि काल में किसी जाति ने इतिहास के निर्माण का सूत्रपात किया हो, तो भी यह मानना होगा कि जातियों ने इतिहास का जितना निर्माण किया है उससे कहीं अधिक इतिहास ने जातियों का निर्माण किया है और आज तक कर रहा है। भगवान् ने किसी राष्ट्र को जगत् पर शासन करने का अधिकार प्रदान कर दिया है अथवा उसके लिये शस्त्र द्वारा अपनी संस्कृति बलपूर्वक किसी के गले के नीचे उतार देने का कर्तव्य निर्धारित कर दिया है—यह कहनेवाले और माननेवाले दोनों ही विक्षिप्त हैं। यह धारणा तो ऐसी है जो न केवल उन्मत्त-प्रलाप की भांति है प्रत्युत विनाशकारी दम्भ और घोर पशु-प्रवृत्ति का द्योतक है।

यह सब होते हुए भी जातिगत श्रेष्ठता की भावना और सिद्धान्त का ज्वलन्त प्रतीक बन कर नाजीवाद वसुधा की छाती पर नग्न ताण्डव कर रहा है। यह मानता हूँ कि इतिहास के लिये इस तरह की भावना सदा नयी नहीं है। भारत के प्राचीन आर्यों में भी यह प्रवृति थी जब अनार्य जातियों को दस्यु आदि के विशेषणों से विभूषित करके उनका भरपूर दमन किया जाता था। उस विकृत प्रवृत्ति से हिन्दू जाति आज भी मुक्त नहीं है। उसमें विभिन्न वर्णों की पारस्परिक श्रेष्ठता और लघुता की भावना आज भी वर्तमान है और अन्त्यजों की समस्या उसी पुरानी परिपाटी का अवशिष्ट रूप है। भारत ही नहीं यूरोप भी ऐसे भावों से ग्रस्त रहा है। 'एङ्गलो सैकशन' और जर्मनों ने शताब्दियों तक अपनी श्रेष्ठता के भाव को व्यावहारिक रूप प्रदान किया था। अपने को आर्यवंश की न्यूतानिक शाखा कहने वाले लोगों ने यूरोप में अपने आक्रमणों और अपनी विजयों के

आधार पर यह धारणा बना ली कि उनकी धमनियों में प्रवाहित रक्त की रचना भगवान् ने स्वयम् विशेष द्रव्यों से की है। ऐतिहासिक युगों में ऐसी तीव्र किन्तु निर्मूल धारणाओं के फलस्वरूप मनुष्य द्वारा मनुष्य का कितना निर्दलन और पीड़न हुआ है यह इतना स्पष्ट है कि कुछ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। तात्पर्य यह कि ऐसी प्रवृत्तियाँ पहले से रही हैं जो अनर्थ और पापका स्रोत होती रही हैं। पर प्रश्न तो यह है कि आज के युग में क्या मानव-समाज से कुछ अधिक भी आशा नहीं की जा सकती ?

जब ज्ञान और विज्ञान का इतना प्रसार हो चुका हो, जब सत्य की जिज्ञासा और उसका साक्षात्कार करने की प्रवृत्ति इतनी विकसित हो चुकी हो, जब मानव सभ्य और सुसंस्कृत होने का दावा कर रहा हो उस समय उस निराधार और वर्वर-युगीन जातिगत श्रेष्ठता के सिद्धान्त का ऐसा नङ्गा नाच क्या मानवता के महान् सांस्कृतिक पतन का द्योतक नहीं है ? यही कारण है कि मैं नाजीवाद को प्रयोग नहीं प्रहार मानता हूँ मानवता के मूल पर और वसुधा के वक्ष स्थल पर। मैं इसे पूँजीवाद की रक्षा की चरम चेष्टा नहीं प्रत्युत संस्कृति की धारा को प्रत्यावतर्ति कर देनेका प्रचण्ड प्रयास मानता हूँ। यह मनुष्यके हृदय की पशुता का भयावना विस्फोट है जो उन सब को नगण्य करने पर तुला हुआ है जिस पर मनुष्यता को गर्व है। पर जहाँ यह मानता हूँ वहीं यह भी मानता हूँ कि उस मन स्थितिके प्रजनन का सबसे अधिक उत्तरदायित्व उस पूँजीवाद पर है जिसके पाप की प्रतिक्रिया इस रूप में मूर्त्त हुई। पूँजीवाद शोषण और साम्राज्यवाद के रूप में यदि विकसित हुआ तो उसका अनिवार्य परिणाम विश्वव्यापी युद्ध के सिवा दूसरा नहीं हो सकता था। गत महायुद्ध का कारण यही था और वर्तमान महासमर का कारण भी यही है। अपनी कुनीति के कारण पूँजीवाद ने मानव समाज को भयावने गृह-युद्ध में झोंक दिया है। गत महायुद्ध में अन्ध स्वार्थ-परता और निरंकुश पशु-शक्ति के

द्वारा विजय प्राप्त की गई। इस घटना ने जगत् की आँखें खोल दी। उसने देखा कि दुनिया मे एक ही पदार्थ है जो न्याय और औचित्य का निर्णय करता है। वही शक्ति और अधिकार का भी निर्णायक है। जिसके पास शस्त्र का बल है वही सफल होता है, उसी की बात रहती है, उसी की उन्नति और प्रभुता का पथ प्रशस्त होता है तथा न्याय और नीति का उपयोग भी अपने हित मे करने मे वही समर्थ होता है।

विचार कीजिए कि क्या इस प्रकार पशुबल की ही सार्थकता सिद्ध नहीं कर दी गई? जो पराजित और दलित थे उनके मन पर क्या प्रतिक्रिया हो सकती थी? क्या वे यह न सोचते कि शस्त्र-शक्ति के बिना न उद्धार की आशा की जा सकती है और न जीवन की रक्षा। इस अवस्था मे यदि उन्होंने यह समझा हो कि सफलता प्राप्त करने के लिये एकमात्र उपाय और नीति यही है कि भुजा मे शस्त्र ग्रहण करने का बल हो तथा हृदय मे हो अपरिमित और नग्नस्वार्थ-परता तो इसमे आश्चर्य का स्थान कहाँ है? फलत शस्त्र की उपादेयता, उसकी सार्थकता देखकर प्रवंचितो, निर्दलितो तथा पराजितो मे प्रतिशोध की आग का सुलगने लगना स्वाभाविक था। परिणाम हुआ फासिटीवाद और नाजीवाद का उद्भव। शस्त्र और पशुशक्ति, प्रचण्ड दम्भ और दर्प, द्वेष और सन्देह के भावो से ओत-प्रोत विचार-धारा फूट पडी जिसने यूरोप की भूमि को प्लावित कर दिया। उसने समस्त मानवीय विचारो की कोमल लतिकाओ को अपने आवेग मे उखाड़ फेका। लोकतन्त्रवाद हो अथवा समाजवाद, अन्तर्राष्ट्रीयतावाद हो या शान्तिवाद वह सब का शत्रु हो गया। पूँजीवाद की रक्षा की चिन्ता भी उसे न रही। धन-प्राप्ति और मुनाफा कमाने की प्रवृत्ति को भी उसने पशुओ के योग्य घोषित कर दिया। उसने जीवन के सामने एक ही लक्ष्य रखा और पथ के अवलम्बन मे विश्वास प्रकट किया। वह लक्ष्य और पथ यह था कि अधिकार की प्राप्ति करो और

शस्त्र की पूजा के द्वारा ही वह लक्ष्य सिद्ध करो। शस्त्र उठाओ और बलपूर्वक वसुधा का निर्दलन करके अपनी प्रभुता स्थापित कर दो। उसने वह आग लगाने की चेष्टा की जिनमे सब 'वाद' जल कर राख हो जायॅ और उस भस्मावशेष मे से एक दूसरा 'वाद' संभूत हो जो पशुतावाद की ही संज्ञा प्राप्त करने का पात्र है।

यही है रोम-बर्लिन का वीभत्स चीत्कार। इस उन्मत्तता मे भला कोई रचनात्मक तत्त्व कहाँ है? यह प्रयोग जीवन की रचना नहीं उसके विनाश का हेतु हो रहा है। आज जगत् मे दहकनेवाली समराग्नि उसका परिणाम है जिसमे वह स्वयम् तथा यूरोप की सारी सस्कृतियाॅ और गौरव भस्मीभूत होता दिखाई देता है। इसके सबंध मे कुछ अधिक लिखना व्यर्थ ज्ञात होता है। उससे गाँधीजी की पद्धति की तुलना करने की बात भी सोचना अपराध है। आश्चर्य होता है उन लोगो की बुद्धि पर जो कह दिया करते हैं कि गांधी की विचाधारा फासिस्ट है और गाँधी भी स्वयम् फासिस्ट है। उन विदेशी मूर्खों की स्वार्थपरता को तो मैं समझ सकता हूॅ जो गाँधी को फासिस्ट कहने का दुराग्रह करते हैं पर उन भारतीयो को क्या कहूॅ जो बिना समझे-बूझे अनर्गल प्रलाप कर देने में नहीं हिचकते। वे जरा बुद्धि से काम लें और गांधी जी की शैली तथा प्रयोग से फासिटीवाद के स्वरूप की तुलना तो करें।

गाँधी जहाँ मानव-समाज को विकास के पथ पर कतिपय पग आगे बढ़ाने के लिये सचेष्ट है वहाँ फासिज्म को लौटा कर वहाँ ले जाने पर तुला हुआ है जहाँ से मनुष्य सहस्राब्दियां पूर्व चल चुका था। गाँधी मनुष्य को मानव बनाना चाहता है और फासिटीवाद पशु। गाँधी भावी जगत् की रचना अहिसा पर करना चाहता है और फासिटीवाद हिसा को ही धर्म, सत्य तथा नीति समझता है। गाँधी जन-समाज की स्वतन्त्रता का अभिलाषी है और फासिटीवाद पराधीनता का।

गाँधी मानव-व्यक्तित्व के विकास का आकांक्षी है और फासिटीवाद उसका दमन तथा विलोप चाहता है। गाँधी के जीवन का आदर्श त्याग और अपरिग्रह तथा सेवा में प्रतिष्ठित है और फासिटीवाद का प्रभुता, निर्दलन तथा शोपण मे। गाँधी केन्द्रीभूत शक्ति तथा अधिकार के विघटन का पक्षपाती है और फासिटीवाद उसका अकल्पित, अभूतपूर्व तथा घृणित केन्द्रीकरण करना चाहता है। गाँधी का पथ स्वयम् बलि चढ़ कर दूसरे की सेवा करने मे है और फासिटीवाद दूसरे का बलिदान करके अपनी सेवा कराना चाहता है। गाँधी कष्ट सहन और तप के द्वारा न केवल स्वात्म-शुद्धि की चेष्टा करता है प्रत्युत मानवमात्र के सद्भावो, उसकी नैतिक प्रवृत्तियो तथा उसके उत्तमाश को उज्जीवित करना चाहता है और फासिटीवाद इन सब को नगण्य करके मनुष्य की आदि बर्बर-प्रवृत्ति का प्रबोधन कर रहा है।

एक के विचार के मूल मे है सेवा और प्रेम, दूसरे की जड है द्वेष और प्रतिशोध। एक अहम् की सत्ता को विराट् मे लय कर देना चाहता है और दूसरा संकुचित अहम्वाद को ही जागरित कर रहा है। एक संयम और सन्तुलन तथा समन्वय को व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन का पथ समझता है और दूसरा जगत् को असन्तुलित करके उसे घोर निरकुशता और उच्छृङ्खलना के चरणो मे समर्पित किए दे रहा है। एक प्रकाश का पूजक है तो दूसरा अन्धकार की सत्ता स्थापित कर देना चाहता है।। एक मे जीवन की उपासना और उसके निर्माण की आकाक्षा का चरमरूप प्रदर्शित है तो दूसरा मृत्यु तथा विनाश को ही स्थायी बना देने पर तुला हुआ है। भला दोनो मे कहाँ साम्य है और कैसे हो सकती है उनकी परस्पर तुलना? कृष्ण ने गीता मे जीवो के आसुर स्वभाव और दैवी सम्पत्ति की जो रूप-रेखा विकसित की है उस पर दृष्टिपात कीजिए और उनकी तुलना फासिटीवाद तथा गाँधीवाद से कर लीजिए। आसुर स्वभाव का वर्णन करते हुए श्री कृष्ण कहते हैं—

प्रवृत्ति च निवृत्तिं च जना न विदुरासुरा. ।
न शौचं नापि चाचारो, न सत्यं तेषु विद्यते ॥
असत्यमप्रतिष्ठन्ते , जगदाहुरनीश्वमू ।
अपरस्परसम्भूतं, किमन्यत्कामहैतुकम् ॥
एतां दृष्टिमवष्टम्य, नष्टात्मानोल्पबुद्धय: ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माण:, क्षयाय जगतोऽहिता. ॥
काममाश्रित्य दुष्पूर, दभमानमदान्विता. ।
मोहाद्गृहीत्वाऽनद्ग्राहान्प्रवतन्तेऽशुचिव्रता ॥
चिन्तामपरिमेया च, प्रलयान्तामुपाश्रिता ।
कामोपभोगपरमा, एतावदिति निश्चिता॰ ॥
अशापाशशतैर्वद्धा , कामक्रोधपरायणा: ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयन् ॥
इदमद्यमयालब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे, भविष्यति पुनर्धनम् ॥
ईश्वरोहमहंभोगी, सिद्धोहं वलवान् सुखी ।
आढ्योभिजनवानस्मि,कोन्योस्तिसदृशो मया ॥
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य, इत्यज्ञानविमोहिता ।
अनेकचित्तविभ्रान्ता, मोहजालसमावृता. ॥
आत्मसम्भावितास्तब्धा, धनमानमदान्विता ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते, दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥
अहंकारं वल दर्पं, काम क्रोधं च सश्रिता ।
मामात्मपरदेहेषु , प्रद्विपन्तोभ्यसूयका ॥

अर्थात् "आसुर स्वभाववाले मनुष्य न तो यह जानते है कि क्या कर्त्तव्य है और न यह जानते हैं कि क्या अकर्त्तव्य है। न उनमे सत्याचरण होता है न शौच और न आचार। जगत् को आश्रयरहित मानने वाले, सत्य और ईश्वर का भी अस्तित्व न स्वीकार करनेवाले, विश्व को अकस्मात् , निष्प्रयोजन तथा केवल कामकौतुक से सम्भूत

समझनेवाले, अपनी अपरिसीम कामनाओं की पूर्ति की इच्छा रखनेवाले, दम्भ मान और मद से युक्त अपने ही भोग को सत्य समझते हैं और उन्हीं की पूर्ति में जीवन को लगा लेना एकमात्र लक्ष्य मानते हैं। आज यह मिला कल उसे प्राप्त करना चाहिए, आज इस शत्रु का नाश किया और कल उसका नाश करना चाहिए, मैं ही ईश्वर हूँ, मैं ही भोगी, सिद्ध, बलवान् और सुखी हूँ। मुझ से बड़ा धनवान, शक्तिमान् और योग्य कोई नहीं हो सकता। ऐसी बुद्धि, दृष्टि और मिथ्याज्ञान को अपनाकर, अभिमान दम्भ और स्वार्थ मे अन्धे होकर इस प्रवृत्ति के लोग जगत् के अहित और विनाश के कारण होते हैं तथा अति उग्र और क्रूर कर्मों का प्रवर्तन कर देते है।"

पाठक गीता के उपर्युक्त वाक्यों पर विचार करे और देखें कि फासिटीवाद मे क्या उन्हीं प्रवृत्तियों का चरम विकास नहीं हुआ है? दूसरी ओर दैवी सम्पत्ति का वर्णन भी श्रीकृष्ण के शब्दों मे ही सुन लीजिए। वे कहते है—

अहिंसा, सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवम् ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृति शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पद दैवीमभिजातस्य भारत॥

अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, किसी की निन्दा न करना, प्राणिमात्र के प्रति दयाभाव, अलोलुपता, लज्जा, स्थिरता, तेजस्विता, क्षमा, धैर्य, बाह्याभ्यन्तर शुद्धि, अद्रोह, अनावश्यक दम्भ का अभाव आदि दैवी प्रवृत्तियाँ है।

विचार कीजिए कि गाँधीवाद की मूल भित्ति क्या उपर्युक्त प्रवृत्तियों पर ही स्थापित नहीं है? क्या वह उन्हीं भावनाओं की उपासना, उद्बोधन और आवाहन की चेष्टा नहीं करता? क्या वह उन्हीं के जागरण के द्वारा नए जगत् और नए जीवन की रचना करना नहीं चाहता और क्या उसी मे आधुनिक समस्याओं का हल नहीं देखता? फिर

आसुर भावापन्न फासिटीवाद और शुभ-प्रवृत्तिमूलक गाँधीवाद में तुलना हो ही कैसे सकती है ? वे दोनो मूलत. विरोधी हैं। फलत' गाँधीजी के विचारो मे फासिटीवाद की गध खोजनेवाले या तो अज्ञानी हैं अथवा हठधर्मी के पुजारी है।

हाँ यूरोप के अन्य सभी 'वादो' मे हम फासिटीवाद की किसि न किसी प्रवृत्ति का आभास अवश्य पाते है। पूँजीवादी लोकतन्त्र ने आज जो रूप ग्रहण कर लिया है वह फासिटीवाद का ही एक और सस्करण हो गया है। साम्राज्यवाद और फासिटीवाद मे आप को अधिक भेद दिखाई न देगा। और तो और रूसी समाजवाद मे भी फासिटी-प्रवृत्तियो की अनेक बातें स्पष्टत समाविष्ट है। एकमात्र भौतिक दृष्टि पर आश्रित यूरोप की सारी सास्कृतिक धारा ने, तथा उसके विज्ञान-वाद और बुद्धिवाद ने भी अप्रत्यक्ष या प्रत्यक्षरूप से यूरोप के जन-समाज में जीवन और जगत् के प्रति जो दृष्टिकोण उत्पन्न कर दिया है उसमे आप उन भावो और प्रवृत्तियो का प्रभाव देखेंगे जिसे कृष्ण ने आसुर भाव का नाम प्रदान किया है। पर फासिटीवाद की तुलना यदि दूर से भी किसी के साथ नहीं की जा सकती, यदि कोई उसके भावो से पूर्णत अस्पृश्य है, और कोई सर्वथा, मूलतः सिद्धान्तत' तथा व्यवहारत उसका विरोधी है तो वह गाँधीवाद है। गाँधी का प्रयोग ही इसलिये है और उसकी सारी चेष्टा का लक्ष्य ही यह है कि मान-वता उन प्रवृत्तियो और पथो से मुक्त तथा विरत की जाय जिसका प्रतिनिधित्व यूरोप का फासिटीवाद तथा नाजीवाद मुख्यत', और सभी वाद गौणत कर रहे है।

बापू की दृष्टि और पथ

गत महायुद्ध के बाद यूरोप मे हुए कुछ प्रयोगो की अति संक्षिप्त रूपरेखा गत पृष्ठो मे की जा चुकी। उनके सम्बन्ध मे यदि एक वाक्य मे कुछ कहना हो तो यही कहा जा सकता है कि वे प्रयोग उस धारा के प्रतीक हैं जो युद्धोत्तर विश्व मे लोकतन्त्र के आदर्श और उसकी कल्पना के विरुद्ध प्रवाहित हुई। रूसी समाजवाद तथा उसी प्रकार इटालियन और जर्मन फासिटीवाद स्पष्टरूप से उस लोकतत्र के विरुद्ध थे जिसका विकास यूरोप की भूमि पर गत कतिपय शताब्दियो मे हुआ था। पर समाजवाद और फासिटीवाद तक ही यह बात परिमित नहीं है। यूरोप मे घटित घटनाओ ने स्वयम् लाकतंत्रात्मक देशो मे उस प्रवृत्ति को जन्म प्रदान किया जो उन्हें लोकतंत्र के विरुद्ध ले वहीं। यह सत्य है कि उनका ऊपरी वेष तब भी लोकतंत्रात्मक बना रहा और अब भी बना हुआ है। पर उसके आवरण मे जो प्रेरणा सक्रिय हुई वह धीरे-धीरे लोकतन्त्रवाद को ही चबाती गई। लोकतन्त्र की यह विकृति ही गत महायुद्ध का कारण हुई। उसके बाद उसका क्षय क्रमश' होता गया जो गत बीस वर्षो मे अपने चरम बिन्दु पर पहुंच गया। लोकतंत्र के इस ह्रास मे हृदयहीन उत्पादक यन्त्रो के आविर्भाव ने किस प्रकार सहायता पहुॅचाई और किस प्रकार उससे उद्भूत पूॅजीवाद लोकतन्त्र को ले डूबा इस पर थोड़ा प्रकाश पहले डालने की चेष्टा की जा चुकी है।

यूरोप मे एक युग था जब राष्ट्रीयता प्रगति की पुजारिणी, उदार और उन्नत भावो की जननी लोकतन्त्र तथा जन-स्वातन्त्र्य की प्रतिपादिनी और नैतिक धाराओं से ओत-प्रोत थी। पर उसी यूरोप मे यन्त्रवाद के उस युग का विकास हुआ जब राष्ट्रीयता और लोकतन्त्र आर्थिक तथा

राजनीतिक साम्राज्यवाद का जगत् के दोहन और दलन का जनस्वत्व और जन-सत्ता के कुटेव का तथा शक्ति और अधिकार के वर्गमूलक-केन्द्रीकरण का कारण हो गया। युद्ध के बाद लोकतन्त्रवादी राष्ट्रो ने राष्ट्रसंघ की स्थापना अवश्य की, उसे लोकतंत्रात्मक रूप भी प्रदान किया पर अतत. उपर्युक्त संघटन साम्राज्यवादी लिप्सा की पूर्ति और आर्थिक शोषण का ही कारण बना। आशय यह है कि गत दो दशको मे जो प्रयोग हुए वे चाहे लोकतन्त्रवादियो की ओर से हुए हो अथवा दूसरी दिशा से स्वरूपत और भावतः लोकतन्त्रवाद को नगण्य ही करने वाले थे।

आर्थिक तथा राजनीतिक क्षेत्र मे किसी न किसी वर्गविशेष की अधिकारसत्ता को केन्द्रित करने की चेष्टा सब ने समानरूप से की। इस केन्द्रीकरण की सफलता के लिये केन्द्रीभूत हिसा की अनिवार्य आवश्यकता प्रतीत हुई फलत सब ने शस्त्र का आश्रय ग्रहण किया। केन्द्रीभूत हिसा का जब आविर्भाव होगा तब जन-समाज का निर्दलन और शोपण न केवल स्वाभाविक है प्रत्युत अवश्यम्भावी है। परिणामतः सारी धरती हिंसा, दलन और दोहन की आग मे भस्म होने लगी, मानव-समाज के सास्कृतिक महाविनाश का पथ प्रशस्त होने लगा और प्रगति तथा विकास की धारा मानवपशुता की मरुभूमि मे पहुँच कर सूखती दिखाई देने लगी। ऐसे समय जब युग की यह अवस्था थी भारत मे एक नया और महान् प्रयोग आरम्भ हुआ। मानव समाज सामूहिक हिसा से कैसे त्राण पावे, कैसे सास्कृतिक विकास के पथ पर उसकी चिरयात्रा अबाधगति से जारी रहे, कैसे जनसमाज दैन्य, दलन, दासता की घृणित विभीपिका से मुक्त हो और कैसे मनुष्य ज्ञान-विज्ञान से उपार्जित विभूति का उपयोग जगत् के विनाश नहीं कल्याणार्थ करने में समर्थ हो ? युग के प्रश्न का तथा उसकी समस्या का यही रूप था। भारत में आरम्भभूत यह प्रयोग युग की समस्या को हल करने का ही प्रयास था।

इस समस्या के सुलझाव का अभिनव उत्तर लेकर एक युग-पुरुष उपस्थित हुआ। उसकी कल्पना की मौलिक दृष्टि थी अनोखी और मार्ग था नवीन। उसने आवाज लगाई कि मानव की मानवता का उद्बोधन किये बिना समस्या को हल करना असम्भव है। मानवता का जागरण उसी स्थिति मे सम्भव है जब उसके ज्ञान और विज्ञान का, अर्थ और काम का, समाज और जीवन का, राजनीतिक तथा विधान का समन्वय नैतिकता के साथ स्थापित हो। वैज्ञानिक विभूति हो अथवा यान्त्रिक उद्योगवाद, लोकतन्त्र हो अथवा समाजवाद, मनुष्य उन सब का दुरुपयोग करके अनर्थ की सृष्टि कर सकता है। महती कल्पनाएँ, उत्कृष्ट संघटन तथा आविष्कार भी अभिशाप बन जा सकते है। उसके द्वारा भी जगत् का कल्याण उसी समय हो सकता है जब उनका आधार मनुष्य की उद्बुद्ध नैतिकता हो। आज मनुष्य को सब कुछ उपलब्ध है पर खो गई है उसकी मानवात्मा। फलत. उसका विशाल ऐश्वर्य और महान्-वैभव उसके पराभव और पतन का कारण हो रहा है।

यही थी दृष्टि जिसे लेकर उक्त युग-पुरुष ने जगत् की ओर देखा। उसने भविष्य के निर्माण की कल्पना की। भावी जगत् ऐसा हो जिसमें मनुष्य का उज्वलांश उज्जीवित हो, उसकी राजनीति और अर्थ-नीति एवं विधि और व्यवस्था ही नहीं वरन् जीवनका सारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग नैतिक भावों से आप्लुत और प्रभावित हो। उसी स्थिति मे जगत् का निर्माण अहिंसा के आधार पर हो सकेगा ओर हिंसा से मुक्त धरित्री मे जन समाज निर्दलन और शोषण से बच कर आर्थिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकेगा। मनुष्य की वे वृत्तियाँ जो सहयोग और समवेदना, सेवा और स्नेह की ओर सहज ही उन्मुख है जब तक जागरित नहीं होतीं तब तक समता, स्वतन्त्रता, और बंधुत्व के विकास की आशा भी करना बालू से तेल निकालने के सामान है। समता, स्वतन्त्रता और बन्धुत्व के आधार पर यदि जगत् की रचना

करनी है तो वह स्थिति लानी होगी जिसमें प्रेम और विधान एक हो। इसी मे उसने नये प्रकार के लोकतंत्र की कल्पना व्यक्त की। वह लोकतन्त्र नहीं जो अहम् के सुख को जीवन का लक्ष्य समझे। वह लोकतन्त्र नहीं जो सुख की कल्पना सासारिक भोगों तक ही परिमित रखता हो। वह लोकतन्त्र नहीं जो अधिकार और शक्ति की सत्ता को केन्द्रित करता हो और वह भी लोकतन्त्र नहीं जो वर्ग द्वारा वर्ग के शोपण का औचित्य व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के आवरण मे सिद्ध करता हो।

उसका कल्पित लोकतन्त्रात्मक जगत् ऐसा है जिसमे शक्ति और अधिकार समाज के आधारभूत जन-मण्डल मे वितरित हो। जन-समाज ही उसका स्रोत और निधि हो। आर्थिकक्षेत्र मे जनसमूह स्वावलम्बी और स्ववश हो, उत्पादन के साधन और उत्पन्न पदार्थ का सच्चा स्वामी हो। समाज और व्यक्ति एक दूसरे के पूरक हो। व्यक्ति का व्यक्तित्व समष्टि मे लय हो जाने के लिए हो और समूह व्यक्ति को इस प्रकार सर्वाङ्ग और सर्वांश मे विकसित होने मे सहायता दे कि वह विराट् मे अपने को उत्सर्ग कर देने में सफल हो। अहम् की सत्ता के इस क्रमिक और सर्वांशिक उदय किन्तु स्वेच्छाकृतलय के फलस्वरूप जिस समाजवाद का उदय होगा उसमें सच्चे वर्गहीन समाज का विकास हो सकेगा। सच्ची वर्गहीनता उसी समय सम्भव है जब मनुष्य मानवता के उच्चस्तर पर पहुँचा हुआ हो। कानून अथवा शस्त्र अथवा निरंकुश शासनसत्ता के प्रबल आघात से जीवन के विकास तथा मानव की प्रगति की आशा करना विशुद्ध भ्राति है। मनुष्य का विकास मनुष्य का निर्माण करने से होगा। निर्माण इस प्रकार किया जाय कि वह अपने अधिकार नहीं कर्त्तव्य की ओर अभिमुख हो। कर्त्तव्य ही हो उसका लक्ष्य और कर्त्तव्य ही हो पथ। कर्त्तव्यकी भावना में अहम्का विसर्जन सन्निविष्ट हो। जब व्यक्ति और समाज की दृष्टि अधिकार की ओर से हट कर कर्तव्य पर स्थिर हो तब श्रम का आधार हो जायगा प्रेम और पूँजी का आधार होगा उत्सर्ग।

इस प्रकार पूँजी और श्रम का समन्वय होगा उत्सर्ग और प्रेम में। वर्ग का संघर्ष और वर्गों का भेद वर्गद्वेष की आग भड़काने से भला कैसे मिट सकता है ? उसका स्थायी हल तो उसी समय सम्भव है जब वर्गों के विरोधी हितों के विरोधत्व को मिटा दिया जाय। विरोधत्व का लोप विरोधी हितों को किसी एक विन्दु में लय कर देने से हो सकता है। यह समन्वय और सामञ्जस्य ही वर्गसंघर्ष का लोप करेगा और वर्गभेद को मिटा देने का कारण होगा। उस युग-पुरुष ने इसी रूप में नए लोकतन्त्र और सच्चे समाजवाद की कल्पना की। उसने विरोधी हितों को प्रेम और उत्सर्ग में लय कर देने की बात सोची और यह देखा कि इसकी सिद्धि उसी दशा में हो सकती है जब मनुष्य की मनोवृत्ति को अधिकार-प्राप्ति की ओर से हटा कर कर्तव्य पालन की ओर अग्रसर किया जाय। मनुय की दृष्टि और वृत्ति के इस परिवर्तन का एकमात्र उपाय यह है कि उसकी सहज और सनातन नैतिक अन्तश्चेतना का जागरण हो। इसी भांति उसने भावी जीवन और जगत् की रचना का स्वप्न देखा। अपनी इस कल्पना को उसने व्यक्त किया यह कह कर कि अहिंसा के आधार पर जगत् का निर्माण करना होगा। मानव-समाज के विचारक्षेत्र को यही उसकी महती देन थी।

पर उसकी सक्रियता विचारक्षेत्र तक ही परिमित न थी। उसके जीवन में उज्वल आदर्श-वादिता के साथ-साथ कठोर कर्मठता का अभिनव सम्मिश्रण हुआ है। वह भारत के उन महर्षियों की परम्परा से प्रसूत है जो सिद्धान्तवादिता की सार्थकता, जीवन में उसे व्यावहारिक रूप देनेमें ही मानते थे। फलत: उसने अपनी कल्पना को साकार रूप प्रदान करने का भारी भार भी उठाया। लक्ष्य स्थिर कर लेने के बाद वहाँ तक पहुँचने का पथ उपस्थित करने का उत्तरदायित्व अपने कन्धों पर लाद वह आगे बढ़ा। आदर्श और कल्पना की भारी गठरी का असह्य बोझ उसके सिर पर था। चारो ओर अंधकार था, मानव-जगत् के जीवन की प्रबल धारा हाहाकार करती हुई विपरीत दिशा की

ओर वही जा रही थी, मानव-पशुता का डरावना अट्टहास दशो दिशाओ को कम्पित् किए हुए था पर वह वृद्धकाय किन्तु अन्तरालोक से उल्लसित तपस्वी अपनी लकुटी ठेगते हुए पथ का निर्माण करने के लिए अग्रसर हुआ। पथ के निर्माण की उसकी यह चेष्टा उस प्रयोग के रूप मे व्यक्त है जिसका सूत्रपात भारत मे गत पचीस वर्ष पूर्व हुआ।

यह प्रयोग था नैतिक पद्धति से अनैतिक भावो और वेषो का अदम्य प्रतिरोध करने का जिस के फलस्वरूप नैतिकता का जागरण हो सके और जीवन की रचना नैतिक आदर्शों के आधार पर की जा सके। लक्ष्य के अनुकूल पथ न होने पर लक्ष्य का भेदन असम्भव है। यदि लक्ष्य यह है कि अहिसा की प्रतिष्ठा समाज के संघटन के मूल मे हो, यदि मनुष्य को दासता, हिंसा तथा वर्वरता से मुक्त करना हो तो उसकी सिद्धि के लिए साधन का अहिंसक होना अनिवार्य है। वर्वरता का पराभव यदि मानवतासे न हो तो मानवता का विकास सम्भव ही नहीं। उसने विश्वास और श्रद्धा के साथ यह देखा कि मनुष्य के जीवन का स्वरूप द्वन्द्वात्मक है जिसमें पशुता के साथ मानवता की सहज प्रतिष्ठा है। मनुष्य अपनी ही पशुता से संघर्ष करता हुआ विकास की ओर वढ़ा है। फलतः यदि उसे अपनी यात्रा जार रखनी है तो उस युद्ध को भी जारी रखना होगा। इस स्थिति मे मानव-पशुता से मानवी-मानवता का संघर्ष अपेक्षित है। उसने मानवीय युद्ध के व्यूहन का भार उठा लिया। युद्ध और क्रान्ति को हिसा तथा रक्तपात के वीच से वाहर निकाल कर मानवता के उच्च और पूत धरा-तल पर ले जाना उसकी प्रयोग-पद्धति का आधार हो गया। असह-योग और सत्याग्रह मे उसकी अहिसक रणपद्धति मूर्त्त हुई। द्रोह-रहित विद्रोह और रक्त-रहित युद्ध की प्रणाली उसकी दूसरी महती देन थी जिसे उसने मानव-समाज के व्यावहारिक कार्यक्षेत्र को प्रदान किया।

विचारो और कल्पनाओं को साकाररूप प्रदान करने के लिए

आधार-पीठिका अपेक्षित होती है। जिस प्रकार बोल्शेविज्म को रूस की भूमि और नाजीवाद को जर्मनी की सीमा अपने-अपने प्रयोग के लिये प्राप्त हुई उसी प्रकार भारत का विस्तृत-भूखण्ड परिस्थितियों के प्रताप से अपना प्रयोग करने के लिये तथा अपने विचारों को कार्य-रूप मे परिणत करने के लिये गांधीजी को मिल गया। उनकी विचार-धारा का जन्म यद्यपि अफ्रीका मे हुआ था तथापि उसे प्रौढ़ता, विस्तार और गति भारत मे ही मिली। विराट् के विकसित होने और फूलने-फलने के लिये उपयुक्तक्षेत्र, उपयुक्त अवसर और उपयुक्त परि-स्थिति का मिलना आवश्यक होता है। यह अवसर और यह परि-स्थति भारत मे वर्तमान थी। भारत की समस्या युग की समस्या का ही अङ्ग है जिससे जगत् उत्पीडित है। यदि जगत् साम्राज्यवाद का, जातिगत श्रेष्ठता की भावना और वर्णभेद का, आर्थिक और राजनी-तिक पराधीनता का, पूँजीवाद और शस्त्रवाद का शोषण और उत्पी-ड़न का शिकार है तो भारत भी उसीसे त्रस्त है। भारत ही तो मानव-समाज के उस अंश का ज्वलंत प्रतीक है जो मनुष्य की पशुता और स्वार्थान्धता से बुरी तरह निर्दलित है। जगत् की समस्त दबी हुई जातियो की समस्या का सजीवरूप भारत मे वर्तमान है। उससे बढ़ कर दूसरा कौन है जो यूरोप में उत्पन्न अमानवी प्रवृत्ति का कुपरिणाम भोग रहा हो? ऐसी स्थिति मे उस प्रवृत्ति का प्रतिरोध और विलोप करने लिये आवश्यक प्रेरणा तथा पथ भारत के सिवा और कौन प्रस्तुत कर सकता है?

स्पष्ट है कि जिस जगद्व्यापिनी प्रवृत्ति और क्रिया का सक्रियरूप भारत मे व्यक्त हुआ उसकी प्रतिक्रिया भी यहीं हो सकती थी। यूरोप ने इस देश को समस्याओं और परिस्थितियों की जिस विकटता और उलझन मे डाल दिया उसका प्रतिकार भी यही देश कर सकता था। जगत् की परिस्थिति यदि उपर्युक्त समस्याओं के हल की माँग कर रही थी तो भारत की अवस्था भी उसी की अपेक्षा कर

रही थी। गाँधी जी का उदय इसी माँगका परिणाम है। वे सम्भूत हैं उस परिस्थिति के गर्भ से जो स्वभावतः उपर्युक्त समस्याओ की विभीषिका से छुटकारा पाने की माँग कर रही थी। यही कारण है कि परिस्थिति के अनुकूल पथ और पद्धति लेकर वे अवतरित हुए। वही पथ और पद्धति आज "गाँधीवाद" के नाम से जगत् के सामने उपस्थित है। स्वयं गाँधीजीने 'गाँधीवाद' की कोई निश्चित रूपरेखा और व्याख्या नहीं की है। यह सच है कि गाँधीजी का दृष्टि के पीछे निश्चित विचारधारा है, जीवन और जगत् तथा मानव इतिहास के प्रति निश्चित दृष्टिकोण है। उनके विचारो का ठोस दार्शनिक आधार भी स्पष्ट प्रकट होता है। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होने उस रूप में और उस अर्थ मे किसी 'वाद' की रचना की है जिस रूप और जिस अर्थ में यूरोप के अनेक विद्वानो और दार्शनिकों ने की है। गाँधी जी स्वयम् न किसी 'वाद' के प्रवर्तक बनना चाहते हैं, न किसी नव धर्म के गुरू और न किसी नूतन मठ के महन्त। वह अपने को सत्य का विनम्र साधक और सत्यानुशीलन मे सलग्न एक आतुर अन्वेषक के रूप मे ही व्यक्त करते रहे हैं। जो व्यक्ति अपने को छोटा सा साधकमात्र समझता है और जो अब तक किसी अनुसन्धान मे सलग्न है वह सत्य के सम्बन्ध में न अंतिम निर्णय प्रदान करने का साहस कर सकता है और न अपने मत को सारे ज्ञान का "इदमित्थम्" कहने का दावा कर सकता है। वह अनुयायियो से इसी कारण यह अपेक्षा भी नहीं करते कि वे उनके विचारों को उस रूप मे स्वीकार करें।

किसी प्रमाणिक ग्रन्थ की रचना करके गाँधीवाद का प्रवर्तन करने मे न गाधी जी सफल हुए और न मार्क्स और स्टर्नर, हिटलर या मुसोलिनी की भाति न कभी यह घोषणा ही कर सके कि वह जगत् को कोई ऐसी दृष्टि प्रदान कर रहे है जो अबतक के इतिहास में कभी किसी को सुझाई नहीं पडी। गाधीजी मे न इतनी अहम्मन्यता है और न इतना साहस। उनके सम्बन्ध मे इतना ही कहा जा सकता है कि वे कर्मठ

आधार-पीठिका अपेक्षित होती है। जिस प्रकार बोल्शेविज्म को रूस की भूमि और नाजीवाद को जर्मनी की सीमा अपने-अपने प्रयोग के लिये प्राप्त हुई उसी प्रकार भारत का विस्तृत-भूखण्ड परिस्थितियों के प्रताप से अपना प्रयोग करने के लिये तथा अपने विचारों को कार्य-रूप मे परिणत करने के लिये गांधीजी को मिल गया। उनकी विचार-धारा का जन्म यद्यपि अफ्रीका मे हुआ था तथापि उसे प्रौढता, विस्तार और गति भारत मे ही मिली। विराट् के विकसित होने और फूलने-फलने के लिये उपयुक्तक्षेत्र, उपयुक्त अवसर और उपयुक्त परि-स्थिति का मिलना आवश्यक होता है। यह अवसर और यह परि-स्थति भारत मे वर्तमान थी। भारत की समस्या युग की समस्या का ही अङ्ग है जिससे जगत् उत्पीडित है। यदि जगत् साम्राज्यवाद का, जातिगत श्रेष्ठता की भावना और वर्णभेद का, आर्थिक और राजनी-तिक पराधीनता का, पूँजीवाद और शस्त्रवाद का शोषण और उत्पी-ड़न का शिकार है तो भारत भी उसीसे त्रस्त है। भारत ही तो मानव समाज के उस अंश का ज्वलंत प्रतीक है जो मनुष्य की पशुता और स्वार्थान्धता से बुरी तरह निर्दलित है। जगत् की समस्त दबी हुई जातियो की समस्या का सजीवरूप भारत मे वर्तमान है। उससे बढ़ कर दूसरा कौन है जो यूरोप मे उत्पन्न अमानवी प्रवृत्ति का कुपरिणाम भोग रहा हो? ऐसी स्थिति मे उस प्रवृत्ति का प्रतिरोध और विलोप करने लिये आवश्यक प्रेरणा तथा पथ भारत के सिवा और कौन प्रस्तुत कर सकता है?

स्पष्ट है कि जिस जगद्व्यापिनी प्रवृत्ति और क्रिया का सक्रियरूप भारत मे व्यक्त हुआ उसकी प्रतिक्रिया भी यहीं हो सकती थी। यूरोप ने इस देश को समस्याओं और परिस्थितियों की जिस विकटता और उलझन में डाल दिया उसका प्रतिकार भी यही देश कर सकता था। जगत् की परिस्थिति यदि उपयुक्त समस्याओं के हल की ग कर रही थी तो भारत की अवस्था भी उसी की अपेक्षा कर

रही थी। गाँधी जी का उदय उसी माँगका परिणाम है। वे सम्भूत हैं उस परिस्थिति के गर्भ से जो स्वभावतः उपर्युक्त समस्याओं की विभीषिका से छुटकारा पाने की माँग कर रही थी। यही कारण है कि परिस्थिति के अनुकूल पथ और पद्धति लेकर वे अवतरित हुए। वही पथ और पद्धति आज "गाँधीवाद" के नाम से जगत् के सामने उपस्थित है। स्वयं गाँधीजीने 'गाँधीवाद' की कोई निश्चित रूपरेखा और व्याख्या नहीं की है। यह सच है कि गाँधीजी का दृष्टि के पीछे निश्चित विचारधारा है, जीवन और जगत् तथा मानव इतिहास के प्रति निश्चित दृष्टिकोण है। उनके विचारो का ठोस दार्शनिक आधार भी स्पष्ट प्रकट होता है। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने उस रूप में और उस अर्थ में किसी 'वाद' की रचना की है जिस रूप और जिस अर्थ में यूरोप के अनेक विद्वानो और दार्शनिको ने की है। गाँधी जी स्वयम् न किसी 'वाद' के प्रवर्तक बनना चाहते हैं, न किसी नव धर्म के गुरु और न किसी नूतन मठ के महन्त। वह अपने को सत्य का विनम्र साधक और सत्यानुशीलन मे सलग्न एक आतुर अन्वेषक के रूप में ही व्यक्त करते रहे हैं। जो व्यक्ति अपने को छोटा सा साधकमात्र समझता है और जो अब तक किसी अनुसन्धान में सलग्न है वह सत्य के सम्बन्ध में न अंतिम निर्णय प्रदान करने का साहस कर सकता है और न अपने मत को सारे ज्ञान का "इदमित्थम्" कहने का दावा कर सकता है। वह अनुयायियो से इसी कारण यह अपेक्षा भी नहीं करते कि वे उनके विचारो को उस रूप मे स्वीकार करें।

किसी प्रमाणिक ग्रन्थ की रचना करके गाँधीवाद का प्रवर्तन करने मे न गाँधी जी सफल हुए और न मार्क्स और स्टर्नर, हिटलर या मुसोलिनी की भाति न कभी यह घोषणा ही कर सके कि वह जगत् को कोई ऐसी दृष्टि प्रदान कर रहे है जो अबतक के इतिहास में कभी किसी को सुझाई नहीं पड़ी। गाधीजी में न इतनी अहम्मन्यता है और न इतना साहस। उनके सम्बन्ध मे इतना ही कहा जा सकता है कि वे कर्मठ

आधार-पीठिका अपेक्षित होती है। जिस प्रकार बोल्शेविज्म को रूस की भूमि और नाजीवाद को जर्मनी की सीमा अपने-अपने प्रयोग के लिये प्राप्त हुई उसी प्रकार भारत का विस्तृत-भूखण्ड परिस्थितियों के प्रताप से अपना प्रयोग करने के लिये तथा अपने विचारों को कार्य-रूप मे परिणत करने के लिये गांधीजी को मिल गया। उनकी विचार-धारा का जन्म यद्यपि अफ्रीका मे हुआ था तथापि उसे प्रौढ़ता, विस्तार और गति भारत मे ही मिली। विराट् के विकसित होने और फूलने-फलने के लिये उपयुक्तक्षेत्र, उपयुक्त अवसर और उपयुक्त परि-स्थिति का मिलना आवश्यक होता है। यह अवसर और यह परि-स्थति भारत मे वर्तमान थी। भारत की समस्या युग की समस्या का ही अङ्ग है जिससे जगत् उत्पीड़ित है। यदि जगत् साम्राज्यवाद का, जातिगत श्रेष्ठता की भावना और वर्णभेद का, आर्थिक और राजनी-तिक पराधीनता का, पूँजीवाद और शस्त्रवाद का शोषण और उत्पी-ड़न का शिकार है तो भारत भी उसीसे त्रस्त है। भारत ही तो मानव-समाज के उस अंश का ज्वलंत प्रतीक है जो मनुष्य की पशुता और स्वार्थान्धता से बुरी तरह निर्दलित है। जगत् की समस्त दबी हुई जातियों की समस्या का सजीवरूप भारत मे वर्तमान है। उससे बढ़ कर दूसरा कौन है जो यूरोप में उत्पन्न अमानवी प्रवृत्ति का कुपरिणाम भोग रहा हो ? ऐसी स्थिति मे उस प्रवृत्ति का प्रतिरोध और विलोप करने लिये आवश्यक प्रेरणा तथा पथ भारत के सिवा और कौन प्रस्तुत कर सकता है ?

स्पष्ट है कि जिस जगद्व्यापिनी प्रवृत्ति और क्रिया का सक्रियरूप भारत मे व्यक्त हुआ उसकी प्रतिक्रिया भी यहीं हो सकती थी। यूरोप ने इस देश को समस्याओं और परिस्थितियों की जिस विकटता और उलझन में डाल दिया उसका प्रतिकार भी यही देश कर सकता था। जगत् की परिस्थिति यदि उपर्युक्त समस्याओं के हल की माँग कर रही थी तो भारत की अवस्था भी उसी की अपेक्षा कर

रही थी। गाँधी जी का उदय उसी माँगका परिणाम है। वे सम्भूत हैं उस परिस्थिति के गर्भ से जो स्वभावतः उपयुक्त समस्याओ की विभीषिका से छुटकारा पाने की माँग कर रही थी। यही कारण है कि परिस्थिति के अनुकूल पथ और पद्धति लेकर वे अवतरित हुए। वही पथ और पद्धति आज "गाँधीवाद" के नाम से जगत् के सामने उपस्थित है। स्वयं गाँधीजीने 'गाँधीवाद' की कोई निश्चित रूपरेखा और व्याख्या नहीं की है। यह सच है कि गाँधीजी का दृष्टि के पीछे निश्चित विचारधारा है, जीवन और जगत् तथा मानव इतिहास के प्रति निश्चित दृष्टिकोण है। उनके विचारो का ठोस दार्शनिक आधार भी स्पष्ट प्रकट होता है। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होने उस रूप में और उस अर्थ में किसी 'वाद' को रचना की है जिस रूप और जिस अर्थ में यूरोप के अनेक विद्वानों और दार्शनिको ने की है। गाँधी जी स्वयम् न किसी 'वाद' के प्रवर्तक बनना चाहते हैं, न किसी नव धर्म के गुरू और न किसी नूतन मठ के महन्त। वह अपने को सत्य का विनम्र साधक और सत्यानुशीलन मे संलग्न एक आतुर अन्वेषक के रूप मे ही व्यक्त करते रहे हैं। जो व्यक्ति अपने को छोटा सा साधकमात्र समझता है और जो अब तक किसी अनुसन्धान मे सलग्न है वह सत्य के सम्बन्ध में न अंतिम निर्णय प्रदान करने का साहस कर सकता है और न अपने मत को सारे ज्ञान का "इदमित्थम्' कहने का दावा कर सकता है। वह अनुयायियो से इसी कारण यह अपेक्षा भी नहीं करते कि वे उनके विचारों को उस रूप मे स्वीकार करें।

किसी प्रमाणिक ग्रन्थ की रचना करके गाँधीवाद का प्रवर्तन करने मे न गाँधी जी सफल हुए और न मार्क्स और स्टर्नर, हिटलर या मुसोलिनी की भाति न कभी यह घोषणा ही कर सके कि वह जगत् को कोई ऐसी दृष्टि प्रदान कर रहे हैं जो अवतक के इतिहास में कभी किसी को सुझाई नहीं पडी। गाधीजी में न इतनी अहम्मन्यता है और न इतना साहस। उनके सम्बन्ध मे इतना ही कहा जा सकता है कि वे कर्मठ

साधक हैं जो वर्तमान जगत् को और उसकी समस्याओं तथा उसके स्वरूप को एक विशेष दृष्टि से देखते हैं और उसके प्रकाश मे जिन तत्थ्यो पर पहुँचते हैं उन्हीं के आधार पर वर्तमान प्रश्नों को सुलझाने की पद्धति खोज निकालने की चेष्टा करते हैं। फलतः भले ही गाँधीजी के पास कोई वाद न हो तथापि उनकी एक विशेष दृष्टि है, उनकी एक विशेष पद्धति है उनके प्रयोग मे वे दृढ़तापूर्वक संलग्न हैं। उनके लिये उनकी पद्धति और उनके पथ का स्वरूप विशुद्ध प्रयोगात्मक है जो उत्कट साधना के रूप मं सामने प्रस्तुत होता है। गाँधीजी ऊँची दार्शनिक उड़ानों मे भी नहीं पड़ते। उनकी दृष्टि सृष्टि के उद्गम और जीवन के स्रोत अथवा प्रकृति के मूल की विवेचना करने में अपना समय नहीं लगाती। जो सामने है और जो स्थूल रूप से समीप तथा दृश्य है उसे ग्रहण करती है और उसी के द्वारा मौलिक, तात्विक तथा रहस्यमय बिन्दु तक पहुँचने की चेष्टा करती है। वे जीवन की प्रयोगशाला मे, जीवन के आदर्श और उसके सत्य की प्राप्ति के लिये जीवन द्वारा ही जीवन का प्रयोग करते दिखाई देते हैं।

मनुष्य संसार और जीवन के प्रति जो दृष्टिकोण ग्रहण करता है उसी के अनुसार वह व्यक्ति और समाज के लिये आदर्श की कल्पना करता है और उसी के अनुकूल आचरण का पथ भी निर्धारित कर लेता है। मानव-जीवन के प्रति गाँधीजी भी विशेष दृष्टि ग्रहण करते हैं। अवश्य ही उनकी कल्पना में न कोई गम्भीर 'रहस्यवाद' है और न कोई बडी गूढ़ दार्शनिकता। वह योगियो की भाँति दिव्यज्ञान का दावा भी नहीं करते। पर यह सब होते हुए भी वे जीवन के प्रति केवल भौतिक दृष्टि स्वीकार करने मे समर्थ नहीं हैं। साधारण जीवनके प्रवाह और विधि-विधान के मूर्त स्वरूप को देखकर वे इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि विश्व की एकमात्र भौतिक व्याख्या करना सत्य की उपेक्षा करना है। ऐसी व्याख्या गाँधी जी की दृष्टि मे यदि ।धार नहीं है तो एकांगी अवश्य है। जीवन का एक स्वरूप

भौतिक है, और उसीकी एक धारा भी भौतिक है इसे गाँधीजी स्वीकार करते हैं। पर वह यह भी मानते हैं कि उसी जीवन का एक दूसरा पहलू भी है, एक दूसरा अंग और प्रवाह भी है जो अभौतिक है। विश्व की रहस्यमय अनन्तता मे उन्हें किसी वास्तविकता की अलौकिक अभिव्यक्ति दिखाई दे जाती है। जिस रहस्य मे प्रवेश करने मे हम असमर्थ हैं वही किसी अक्षय चिरंतन सत्ता के अस्तित्व का आभास दे देता है। गाँधीजी को इस मूर्त विश्व मे उस सत्ता के अस्तित्व का आभास दे देता है। गाँधीजी को इस मूर्त विश्व मे उस सत्ता की असीम चेतना और अनन्त सौंदर्य की झलक मिल जाती है। वह देखते हैं कि मानव-चेतना स्वतः उसीका अंग भूत है जो उसी के सौंदर्य की परिसीम अनुभूति सदा से करती आई।

यही कारण है कि गाँधीजी जीवन और विश्व के दोनो पहलुओं का अस्तित्व समान रूप से स्वीकार करते हैं। स्थूल विश्व जहाँ भौतिक शक्तियों और पार्थिव तत्त्वों के पुञ्जीभूत परिणाम के रूप मे स्थित है वहीं अमूर्त चेतन का पहलू भी वर्त्तमान है जिसकी अभिव्यक्ति के रूप में जीवन उपस्थित होता है। यही भावानुभूति और भावुकता उन्हें भौतिकता की सीमा से परे ले जाती है। गाँधीजी समझते हैं कि जीवन के इस स्वरूप को अस्वीकार करना सत्य से मुख मोडना है। जीवन का यह द्वन्द्वात्मक स्वरूप प्रकृति का सहज विधान है। एक में जितना सत्य है उतना ही सत्य दूसरे में भी है। जितना सत्य स्थूल शरीर और भौतिक तत्त्वों मे है उतना ही सत्य उस अमूर्तालोक मे भी है जो जीवन को सौन्दर्यानुभूति कराने में सफल होता है। गाँधीजी पार्थिव जगत् के अस्तित्वको जिस सीमा तक स्वीकार करते हैं उसी सीमा तक चेतन के स्वतन्त्र और अक्षुण्ण अस्तित्व को भी मानते हैं। एक यदि अनादि है तो दूसरा भी अनादि और अविनश्वर है। फलत अधिक दार्शनिक प्रपञ्चों मे न पड़ते हुए भी वे इस विश्वास को लेकर अग्रसर होते हैं कि विश्व के मूल में चेतन की स्वतन्त्र सत्ता प्रतिष्ठित

साधक हैं जो वर्तमान जगत् को और उसकी समस्याओं तथा उसके स्वरूप को एक विशेष दृष्टि से देखते हैं और उसके प्रकाश में जिन तत्थ्यों पर पहुँचते हैं उन्हीं के आधार पर वर्तमान प्रश्नों को सुलझाने की पद्धति खोज निकालने की चेष्टा करते है। फलतः भले ही गाँधीजी के पास कोई वाद न हो तथापि उनकी एक विशेष दृष्टि है, उनकी एक विशेष पद्धति है उनके प्रयोग मे वे दृढ़तापूर्वक संलग्न हैं। उनके लिये उनकी पद्धति और उनके पथ का स्वरूप विशुद्ध प्रयोगात्मक है जो उत्कट साधना के रूप में सामने प्रस्तुत होता है। गाँधीजी ऊँची दार्शनिक उड़ानो में भी नहीं पड़ते। उनकी दृष्टि सृष्टि के उद्गम और जीवन के स्रोत अथवा प्रकृति के मूल की विवेचना करने में अपना समय नहीं लगाती। जो सामने है और जो स्थूल रूप से समीप तथा दृश्य है उसे ग्रहण करती है और उसी के द्वारा मौलिक, तात्विक तथा रहस्यमय बिन्दु तक पहुँचने की चेष्टा करती है। वे जीवन की प्रयोगशाला में, जीवन के आदर्श और उसके सत्य की प्राप्ति के लिये जीवन द्वारा ही जीवन का प्रयोग करते दिखाई देते हैं।

मनुष्य संसार और जीवन के प्रति जो दृष्टिकोण ग्रहण करता है उसी के अनुसार वह व्यक्ति और समाज के लिये आदर्श की कल्पना करता है और उसी के अनुकूल आचरण का पथ भी निर्धारित कर लेता है। मानव-जीवन के प्रति गाँधीजी भी विशेष दृष्टि ग्रहण करते हैं। अवश्य ही उनकी कल्पना में न कोई गम्भीर 'रहस्यवाद' है और न कोई बड़ी गूढ़ दार्शनिकता। वह योगियो की भाँति दिव्यज्ञान का दावा भी नहीं करते। पर यह सब होते हुए भी वे जीवन के प्रति केवल भौतिक दृष्टि स्वीकार करने मे समर्थ नहीं है। साधारण जीवनके प्रवाह और विधि-विधान के मूर्त स्वरूप को देखकर वे इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि विश्व की एकमात्र भौतिक व्याख्या करना सत्य की उपेक्षा करना है। ऐसी व्याख्या गाँधी जी की दृष्टि मे यदि ... नहीं है तो एकागी अवश्य है। जीवन का एक स्वरूप

भौतिक है, और उसीकी एक धारा भी भौतिक है इसे गाँधीजी स्वीकार करते हैं। पर वह यह भी मानते हैं कि उसी जीवन का एक दूसरा पहलू भी है, एक दूसरा अंग और प्रवाह भी है जो अभौतिक है। विश्व की रहस्यमय अनन्तता मे उन्हें किसी वास्तविकता की अलौकिक अभिव्यक्ति दिखाई दे जाती है। जिस रहस्य मे प्रवेश करने मे हम असमर्थ हैं वही किसी अक्षय चिरंतन सत्ता के अस्तित्व का आभास दे देता है। गाँधीजी को इस मूर्त विश्व मे उस सत्ता के अस्तित्व का आभास दे देता है। गाँधीजी को इस मूर्त विश्व मे उस सत्ता की असीम चेतना और अनन्त सौंदर्य की झलक मिल जाती है। वह देखते हैं कि मानव-चेतना स्वतः उसीका अंग भूत है जो उसी के सौंदर्य की परिसीम अनुभूति सदा से करती आई।

यही कारण है कि गाँधीजी जीवन और विश्व के दोनो पहलुओ का अस्तित्व समान रूप से स्वीकार करते हैं। स्थूल विश्व जहाँ भौतिक शक्तियो और पार्थिव तत्त्वों के पुञ्जीभूत परिणाम के रूप मे स्थित है वहीं अमूर्त चेतन का पहलू भी वर्त्तमान है जिसकी अभिव्यक्ति के रूप में जीवन उपस्थित होता है। यही भावानुभूति और भावुकता उन्हें भौतिकता की सीमा से परे ले जाती है। गाँधीजी समझते हैं कि जीवन के इस स्वरूप को अस्वीकार करना सत्य से मुख मोड़ना है। जीवन का यह द्वन्द्वात्मक स्वरूप प्रकृति का सहज विधान है। एक मे जितना सत्य है उतना ही सत्य दूसरे मे भी है। जितना सत्य स्थूल शरीर और भौतिक तत्त्वो में है उतना ही सत्य उस अमूर्तलोक में भी है जो जीवन को सौन्दर्यानुभूति कराने में सफल होता है। गाँधीजी पार्थिव जगत् के अस्तित्वको जिस सीमा तक स्वीकार करते हैं उसी सीमा तक चेतन के स्वतन्त्र और अक्षुण्ण अस्तित्व को भी मानते हैं। एक यदि अनादि है तो दूसरा भी अनादि और अविनश्वर है। फलत अधिक दार्शनिक प्रपञ्चों में न पड़ते हुए भी वे इस विश्वास के अग्रसर होते हैं कि विश्व के मूल में चेतन की स्वतन्त्र सत्ता

है। भौतिकवादियों की भाँति वे चेतना को जड़भूतों की अभिव्यक्ति-मात्र स्वीकार करने में समर्थ नहीं हैं और न यही स्वीकार कर सकते हैं कि द्रव्य द्वारा द्रव्यता की अनुभूति ही चेतना है। अचेतन भौतिक द्रव्यता की अनुभूति कर ही नहीं सकता क्योंकि अनुभूति चेतना का ही गुण है। अतः वे "आत्मवाद" के "चेतनवाद" को ग्रहण करके अग्रसर होते हैं। इसी दार्शनिक आधार को ग्रहण करके वे जीवन और जगत् पर दृष्टिपात करते हैं। जीवन के विकास के मूल-तत्व के रूप में वे चेतन सत्ता को ही स्वीकार करते हैं। वे यह भी देखते हैं कि जीवन की चेतना का एक मार्ग स्पष्ट रूप से असंदिग्ध है। सदा से मनुष्यता तथा मनुष्य का अनादि और अविनश्वर चेतन सुन्दर-असुन्दर, सत्य-असत्य, शिव-अशिव तथा उचित-अनुचित की कल्पना करता, और अनुभूति करता आया है।

सत्य, शिव और सौन्दर्य की सत्ता के सम्बन्ध में विवाद खड़ा किया जा सकता है। कहनेवाले कह सकते है कि उनकी सत्ता सापेक्ष है; क्योंकि उनकी कल्पना युग-युग मे बदलती रही है। जिसे आज हम सत्य समझते हैं वह कल असत्य हो जाता है ; जिसे एक सुन्दर समझता है वह दूसरे के लिए असुन्दर है। फलतः इनका कोई स्वतंत्र अस्तित्व ही नहीं है और जो है वह हमारी दृष्टि से अथवा युग के धर्म से सापेक्षामात्र है। ऐसी स्थिति मे उन्हे न वास्तविक कहा जा सकता है और न जीवन का आधार माना जा सकता है। अधिक विवाद और वितंडा में पड़े बिना उपर्युक्त तर्क के उत्तर मे इतना कह देना पर्याप्त होगा कि दृष्टि-भेद होनेमात्र से सत्य की सत्ता सापेक्ष नहीं हो जाती ! सत्य अथवा सौन्दर्य अथवा शिव की कल्पना यदि सदा से की जाती रही है, तो यही इस बात का प्रमाण है कि उसकी स्वतन्त्र सत्ता प्रतिष्ठित है कल्पना उसी की होती है। जो हो और जो नहीं है, जिसका अस्तित्व ही नहीं है, उसकी कल्पना भी नहीं है। चेतन यदि ी कल्पना सदा से करता आया है और यदि चेतन अविनश्वर है

तो सत्य भी अविनश्वर है उसके सम्बन्ध मे हमारा दृष्टिकोण युग के धर्म से अथवा स्थान के भेद से अवश्य सापेक्ष रहा है, जिसके फलस्वरूप दृष्टिभेद दिखाई देता रहा है। स्थान भेद से अथवा काल भेद से यदि दृष्टिभेद हो जाय तो यह नहीं कहा जा सकता कि दृश्य सत्ता का अस्तित्व अथवा उसका स्वरूप वस्तुतः परिवर्तित हो गया।

यह मानता हूँ कि सत्य की व्याख्या करना, सौन्दर्य की रूपरेखा का अङ्कन करना नितान्त असम्भव है। अधूरे मनुष्य की अपूर्ण वाणी कब इसमे समर्थ हो सकी है? भौतिक विज्ञान का शास्त्री क्या बता सकता है कि उसके विद्युत् धनकण और ऋणकण का अन्तिम रूप क्या है? वह भी कहता है कि अपने अन्तिम रूप मे वे अमूर्त हो जाते है और उनके अस्तितव का पता वायुमण्डल मे उनके द्वारा उद्भूत गति-लहरी और सञ्चालनमात्र से चलता है। विश्व का समस्त भूतात्मक दृश्य लोक उसी तत्त्व का परिणाम और उसी की छाया है; पर स्वयं उसका अन्तिम और वास्तविक रूप अमूर्त्त और अभौतिक-सा है। मैं पूछता हूँ कि जब साकार भौतिक तत्त्व की यह दशा है, तो निराकार के स्वरूप का अङ्कन करना भला कैसे सम्भव हो सकता है? पर उनका अस्तितव है—इसे अस्वीकार करना भी सम्भव नहीं है; क्योंकि जीवन उनका आभास पाता और अनुभूति करता रहता है। उनकी स्पष्ट छाया विश्व की अनन्त मोहकता और महिमा-मण्डित रहस्य मे झलक जाया करती है। विचार तो कीजिए कि प्रकृति की अविचल नियमबद्धता मे,काल के अनन्त प्रवाह में, वैभव और अभाव की सतत क्रीड़ा मे, विनाश और निर्माण की निरन्तर परिचालित प्रक्रिया मे, प्रकृति के गर्भ मे निहित सत्य का आभास क्या नहीं मिल जाता?

सिद्धार्थ के उत्सग मे, ईसा के बलिदान में, रवीन्द्र के विश्व-बन्धुत्व मे और गाँधी के अद्रोह और त्याग में क्या सौन्दर्य और शिवत्व की झलक नहीं मिल जाती? प्रखर जलधार में डूबते हुए किसी असहाय बालक की प्राण रक्षा के लिये जब कोई अपने को भूलकर खतरे में

झोंक देता है, जब भूखे की करुण पुकार सुनकर कोई अपने आगे की थाली उसे अर्पण कर देता है, जब क्षणमात्र के लिये भी 'अहं' के भौतिक बन्धन से निकलकर हम किसी को जगद्धित मे अपने को मिटाते देखते हैं, तो क्या विश्व के मूल मे स्थित उस भावमय तत्त्व की झिल-मिल आभा नहीं मिल जाती जो जीवन और जगती को जीने और रहने योग्य बनाती है? अपने उदर और अपने भोग को केन्द्र मे स्थिर करके सारे विश्व को उसी की तृप्ति का साधन मानने वाला प्राणी जब कभी अपनी इस सहज प्रेरणा से ऊँचे उठता है और जब अपने को दूसरे मे लीन करता है, तो उस क्षण उसके जीवन पर जो आलोक झलकता है, जो सौन्दर्य दिखाई देता है, सत्य और शिव की जो उज्वलता चमक उठती है, उसकी अनुभूति क्या हम नहीं करते? उसी मे इस विश्व का उत्तमांश सजीव रूप मे मूर्तिमान् हुआ क्या दृष्टिगोचर नहीं होता? स्पष्ट है कि मानव का चेतनांश इसी अनुभूति के आधार पर और अपने विवेक के द्वारा उनके ही आलोक मे जीवन का पथ प्राप्त करता है।

जीवन की प्रवृत्ति उसी प्रकार स्वाभाविक है जिस प्रकार मनुष्य की वह प्रवृत्ति जो अहं और स्वार्थ की तृप्ति की कामना मे विभोर रहती है। मानव-जीवन और उसके समाज का इतिहास यह सिद्ध करता है कि समय-समय पर मनुष्य के विवेक ने, उसकी भावुकता और भगवान् ने अपनी उपर्युक्त प्राकृतिक प्रेरणा के वशीभूत होकर सत्य, सौंदर्य और शिवतत्त्व की आराधना मे जीवन की सार्थकता और विश्व का कल्याण देखा है। मनुष्य की पशु-प्रवृत्तियाँ जहाँ सक्रिय रही है, वहीं उसके जीवन की एक उत्प्रेरणा उसे सदा इस ओर भी उन्मुख करती रही है। मनुष्य के जीवन की गति का इतिहास यह भी सिद्ध करता है कि उन्हीं के प्रकाश में मनुष्य सदा से कुछ आदर्शों को प्रतिष्ठित करता आया और उन आदर्शों के आधार पर कर्त्तव्याकर्त्तव्य करता रहा है। ये आदर्श ही जीवन की प्रेरणात्मिका शक्ति

के रूप मे स्थित रहे हैं, जिनकी पूर्ति करने की ओर मानव की सजीवता अभिमुख होती रही है। ये आदर्श ही जीवन के मूल्याङ्कन के लिये मानदण्ड के रूप मे प्रस्तुत होते रहे हैं।

मनुष्य की एक प्रवृत्ति जहाँ अपने विलास, ऐश्वर्य और भोग को जीवन का आदर्श मान कर उसे आगे बढ़ने के लिये प्रेरित करती रही है वहीं उसके हृदय की दूसरी शुभ्रधारा उसे सचाई के लिये, सौन्दर्य और कल्याण के लिये भी अग्रसर करती रही है। जीवन का यह द्वन्द्वात्मक सङ्घर्ष यद्यपि प्राकृतिक है, तथापि शुभ्रधारा की विजय से ही मानवता का विकास होता रहा है। जीवन की यह शुभ्र गति जहाँ उसकी प्रगति और विकास मे सहायक होती है, वहीं उससे विरति पतनाभिमुख बनाती है। स्पष्ट है कि पतन, विनाश और अन्धकार का, दुख और बन्धन का कारण होता है। दूसरी ओर विकास की यात्रा मे निश्रेयस और अभ्युत्थान अभिनिविष्ट है। जब-जब व्यक्तिगत या सामाजिक जीवन इस ओर विशिष्ट रूप से उन्मुख हुआ है, तब-तब मानवता अपने सुन्दर और विकसित रूप मे सामने आई है। महती संस्कृतियों का निर्माण तथा इतिहास के गौरवपूर्ण युगो का प्रवर्तन इसी का परिणाम रहा है। जब कभी व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन इस प्रकाश से विमुख होकर विपरीत दिशा का अवलंबन करता है तब उसके विकास की गति कुण्ठित होती दिखाई देती है। फलत जीवन का यह स्वरूप इस बात का प्रमाण है कि प्रकृति ने सहज-विकास के लिये विधेय पथ का निर्माण कर दिया है। यदि यह सत्य है कि जीवन का विकास की ओर अभिमुख होना प्राकृतिक विधान है, तो यह भी स्पष्ट है कि विधेय पथ पर यात्रा करना भी जीवन के लिये प्रकृति द्वारा निर्धारित विधान है। इसे ही हम उसका नैतिक विधान कह सकते है।

जीवन को इस दृष्टि से देखना और इसी प्रकाश में उसके प्रयोजन की स्थापना करना गाँधी की दृष्टि की विशेषता है। व्यक्ति के जीवन

का ही नहीं, अपितु जगत् की सारी व्यवस्था और संघटन, उसकी संस्था और उसके नियम, उसके आदर्श और व्यवहार को उसी कसौटी पर कसने के बाद गाँधी उनके खरे और खोटे होने का निर्णय करता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि वह जीवन को नैतिक दृष्टि से देखता है, नैतिक दृष्टि से ही उसकी व्याख्या करता है और उसी नैतिक दृष्टि से उसके लिये आदर्श और व्यवहार की स्थापना करता है। उसकी सारी विचारधारा नैतिकता के आधार पर ही स्थापित है। विकास के मूल मे वह संघर्ष देखता है, पर उस संघर्ष का रूप उसकी दृष्टि में कुछ दूसरा ही प्रतिभासित होता है। अस्तित्व की रक्षा के लिये परिवर्तित परिस्थितियो के अनुकूल अपने को बनाने के लिये, अपने भोगोपभोग तथा उदर और काम की तृप्ति के लिये जीव-जगत् मे सदा से संघर्ष होता रहा है, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। पर विकास की क्रिया में संघर्ष का यही स्वरूप रहा है और यही प्रमुख कारण रहा है, इसे गाँधी स्वीकार नहीं करता। विकास की प्रक्रिया आंशिक नहीं सामूहिक रूप से हुई है। उसने जहाँ एक अंश को विकसित किया वहीं दूसरा अंश चेतन भी विकसित होता गया है; जिसके फलस्वरूप मनुष्य का विवेक और उसकी अन्तर्दृष्टि, उसकी अनुभूति तथा कल्पना भी विकसित होती गई है। विकास की क्रिया में इसी कारण विवेक और प्रवृत्ति का सहज संघर्ष होता है और विवेक की विजय से ही मानवता की उत्पत्ति और उसके विकास की यात्रा फलवती हुई है।

यदि यह न हुआ होता तो वन्य मानव मानव न हुआ होता। मानवने ही विश्व की अनन्तता और जीवन की ग्रन्थियो को रहस्य और विस्मय की दृष्टि से देखा है, उसमें सुन्दर-असुन्दर का भेद पाया है, पशुता और मानवता का स्वरूप समझा है। आखिर इस विवेक ने ही तो उसे विकसित किया है। जीवन की यह नैसर्गिक प्रक्रिया उस सनातन नियम का ही परिणाम है, जो विश्व के सचालन के निमित्त प्रकृति के नैतिक विधान के रूप मे परिचालित ज्ञात होता है। मनुष्य के

लिए उचित आदर्श और कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का निश्चय, गाँधी की दृष्टि में, नैतिकता के प्रकाश मे ही किया जा सकता है। जो आदर्श मनुष्य की शुभ्र प्रवृत्ति के अनुकूल हो और इस प्रकार मानवता के विकास का कारण हो सके वही उसकी दृष्टि मे ग्राह्य है। जो आचरण उसके अनुकूल हो और उसकी ओर अग्रसर कर सके वही विधेय है। गाँधी इसी में जीवन की सार्थकता और मानवता की प्रगति देखता है। इस नैतिक दृष्टिकोण को ग्रहण करके वह जगत् की समस्त समस्याओ पर दृष्टिपात करता है, उनके कारण और हल को ढूँढ़ता है तथा तदनुकूल समाधान समुपस्थित करता है। यही है भावालोक जिसके प्रकाश मे वह व्यक्ति के, समाज के, राष्ट्रो के आचरण की विवेचना और निर्धारण करता है। यही है प्राण जो गाँधी के विचार-क्षेत्र मे प्रकाशमय केन्द्रविन्दु के रूप में अवस्थित है। तात्पर्य यह कि बापू की विचार-धारा नैतिक स्रोत से प्रवाहित होती है अतः इतिहास पर उसी दृष्टि-कोण से दृष्टिपात करना उसके लिये अनिवार्य है। मानव इतिहास की यदि कोई धारा है तो गाँधी उसे मनुष्य के अन्त.स्थ द्वन्द्वो के संघर्ष के मध्य से ही प्रवाहित देखता है। जीवन की शुभाशुभ प्रवृत्ति से ही उसका उद्भव होता है और उसी से वह धारा प्रभावित होती है। मनुष्य का आचरण, उसका सारा व्यवहार, उसकी सारी क्रिया शुभा शुभमयी चेतना की उत्प्रेरणा के अनुकूल ही होती है। जीवन की व्याप्ति, मनुष्य से मनुष्य का सम्बन्ध, आर्थिक, सामाजिक और राज नीतिक संघटन तथा व्यवस्थाओ का निर्माण और परिचालन, विभिन्न राष्ट्रो का पारस्परिक सम्बन्ध आदि सभी बातें मनुष्य के जीवन से सम्बद्ध हैं, अतः उन सब पर उसके शुभा-शुभमय अंतर का गहरा प्रभाव पड़ता है। संक्षेप मे कह सकते हैं कि मानव जगत् का सारा बाह्लोक वास्तव मे उसके अंतर का ही प्रतिबिम्ब है।

मानव जाति का इतिहास सभ्यताओं के उत्थान और पतन की ही गाथा है। मनुष्य जिस भाति अपने व्यक्तिगत और सामाजिक

जीवन का संचालन करता है, अपने संमुख जो आदर्श स्थापित करता है, उसी में उसकी सभ्यता के उत्थान और पतन का संकेत स्पष्ट रूप से झलक जाता है। लाखों वर्ष पूर्व इस धरती के जीवन में किसी युग मे, उसकी गोद मे मनुष्य ने जन्म ग्रहण किया उस काल मे भी मनुष्य की कोई न कोई सभ्यता रही होगी। वह वनस्थ प्राणी रहा होगा और उसकी संस्कृति रही होगी। तत्कालीन संस्कृति की कल्पना आज यदि करनी हो तो जंगल निवासी वानरो या चीतों अथवा भेड़ियो की रहन-सहन देख कर ही करनी होगी। वन मे भी वहाँ का अपना विशेष जीवन होता है। विशेष प्रकार का समाज होगा और विशेष प्रकार के विधान तथा व्यवस्थाएँ होगी। यह सच है कि वहाँ के जीवन पर उस सास्कृतिक कल्पना की छाया भी नहीं पड़ी है, जिसे हम सभ्यता के नाम से पुकारते हैं। पर इतना स्वीकार करना ही होगा कि पशु-जगत् मे भी अपने ढंग की सामाजिकता है, जीवन है, व्यवस्था है जो उसका सचालन करती रहती है। सारी व्यवस्था और जीवन, सारी सामाजिकता और व्यवहार का आधार कुछ थोडी सी प्रवृत्तियाँ मात्र है, जो उस जगत् का सचालन करती हैं। उन प्रवृत्तियो को हम उँगली पर गिन सकते हैं। भूख, भय, काम, हिंसा तथा प्रतिहिंसा के सिवा न उनके जीवन का कोई आधार है और न कोई आदर्श।

न जाने कितनी सहस्राब्दियाँ बीत गयीं पर पशु उसी दशा मे पड़ा हुआ है। मछली और कछुए वनविलाव और चीते आज से करोड़ो वर्ष पूर्व जिस सभ्यता और जीवन को लेकर अवतरित हुए उसी मे आज भी पड़े हुए हैं। पर मानव प्राण अपने गर्भ मे कुछ और लेकर आया था। जीव-जगत् मे वह क्षण महती क्राति के रूप मे उपस्थित हुआ होगा जब आदि मानव की आदि चेतना ने पाशविक जडता के बंधन को ढीला करने का महा-प्रयास आरम्भ किया होगा। अवश्य ही आदि व बर्बर ही था, हिंसा और अज्ञान तथा प्रजनन और उदर की

भावना ही उसके जीवन की शक्ति, प्रेरणा तथा आदर्श रही होगी। फिर भी पशुता के कठोर लौह-बंधन से उन्मुक्त होने के लिये इस प्राणी का प्रयास वह महाविद्रोह था जिसने धरातल की धारा ही बदल दी। मनुष्य की यह उत्क्रान्ति संभवत उस महती प्राकृतिक प्रक्रिया का परिणाम था जिसने आदिमानव के जड़जीवन में स्थित चेतना को विकास की ओर अग्रसर किया। प्रवृत्तियों के प्रभूतांधकार से प्रच्छन्न मानव के मानस-पटल में, चेतन के विकास से उद्भूत, विवेक की वह चिनगारी जल उठी जो क्रमशः जीवन को आलोकित करने के लिये उज्ज्वल प्रकाश का रूप ग्रहण करने लगी। सहसा उसके सम्मुख जीवन और जगत् का कुछ दूसरा ही स्वरूप भासने लगा होगा। प्रकाश और अन्धकार के इस अन्त.संघर्ष में नवोदित विवेक विजयी होता गया और मानव को आगे बढ़ाता गया। उस युग के आने के पूर्व, जब वास्तविक रूप से सभ्यता का प्रादुर्भाव हुआ, सुसंस्कृत बनने में मनुष्य ने न जाने कितनी सहस्राब्दियाँ गुजार दीं।

उसका अन्धकार कितना बलवान् था, इसका प्रमाण वह लम्बी अवधि है जो सभ्य बनने के पूर्व मनुष्य को बितानी पड़ी। एक समय आया जब मनुष्य ने अपनी प्रवृत्तियों पर बड़ी सीमा तक विजय पाई जब भय, भूख, भोग और हिंसा तथा स्वार्थ की सीमा संकुचित कर सका। जैसे-जैसे इस प्राणी को इसमें सफलता मिलती थी वैसे-वैसे मानवता का उदय होता गया। मानव-समाज की यह गति ही उसकी संस्कृति की धारा है, जिसके-प्रवाह का चित्रण इतिहास के रूप में प्रकट होता है। इतिहास का यह प्रवाह हमारे सामने है, जो इस बात को सिद्ध करता है कि मनुष्य समाज के उत्थान और विकास के मूल में मनुष्य का वह शुभांश रहा है, जो क्रमश उसकी पशु प्रवृत्तियों पर विजय लाभ करता गया है। जब-जब व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में उन उच्चतर भावों का प्राधान्य रहा है, जो व्यक्ति और समाज की सहानुभूति, समवेदनशीलता तथा सामूहिक हित और

सहिष्णुता की ओर उत्प्रेरित करते रहे हैं, तत्र-तत्र मानव समाज उन्नति और विकास की ओर बढ़ता चला गया है।

मनुष्य का सत्त्व ही उसे अपनी प्रवृत्तियों पर, अपनी परिस्थितियों पर और अपनी पशुता पर विजय प्राप्त कराता रहा है, जिसके फलस्वरूप युग-युग मे सभ्यताओं की नींव पड़ती रही है, जो मानव जीवन के लिये जीवनादर्श की स्थापना करती गयी है। पर जहाँ सभ्यताओं का विकास होता दिखाई देता है, वहाँ उनके पतन के दृश्य भी सामने आते हैं। मानव समाज और उसका सारा इतिहास किसी लक्ष्य की ओर गतिशील हैं। जीवन की गति ओर उसका नैसर्गिक धर्म विकास की ओर है। विकसित होते जाना ही प्रग त है। विकास का अधर्मी जीवन उसकी गति पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हा जाता है। मनुष्य मूलतः पशु है, पर पशुता से, पशुभाव और पशुवृत्ति से, पशु-सस्कार और पशु-आदर्श से क्रमश. विरत होते जाना और पदे-पदे मानवता की ओर बढ़ते जाना ही उसका प्रयास रहा है, इसी को आप विकास की यात्रा कह सकते हैं। उसकी यह गति ही प्रगति है जिसे हम जीवन का सहज धर्म कह सकते हैं। इस स्थिति मे भले ही वह बिन्दु अज्ञात हो जहाँ मनुष्य की यात्रा समाप्त होने वाली हो, पर इतना तो स्पष्ट है कि उसका सहज और सीधा मार्ग प्रगति मे ही समाविष्ट है। इसी के प्रकाश में हम शुभ-अशुभ की विवेचना भी कर सकते हैं। जो गति और प्रवृत्ति विकास और प्रगति मे सहायक हो वह शुभ है और जो उससे विमुख करे वही अशुभ है।

उपर्युक्त पंक्तियों मे यह लिखा गया है कि जहाँ इतिहास सभ्यता के विकास की गाथा उपस्थित करता है, वहीं सभ्यताओं के पतन के दृश्य भी सामने आते हैं। इतिहास की विवेचना करने पर यह ज्ञात होता है कि मानव के शुभ का उद्बोधन जहाँ सस्कृतियो का निर्माण करता है, वहीं उसके अशुभ का जागरण उसके पतन का कारण होता। जीवन मे यह द्वन्द्व मूलरूप से प्रस्तुत है। जिस प्रकार प्रगति

उसका सहज धर्म है उसी प्रकार मानव-पशुता मनुष्य को पीछे घसीटने में भी समर्थ हो जाया करती है। जब कभी मनुष्य अपने पाशव भावो से ग्रस्त और विपन्न होता है तो प्रगति के पथ से विरत हो जाता है। जब मनुष्य का दम्भ और स्वार्थ प्रबल हो उठता है, जब वह सारे जगत् की सत्ता की उपयोगिता केवल अपने उपभोग मे समझता है, जब प्रवृत्तियाँ उसके जीवन की अधिकारिणी हो जाती हैं, जब अहं और भोग ही उसका आदर्श बन जाता है, जब उसका विवेक धूमिल हो जाता है, तब मानव की मानवता मोहित हो जाती है। जिसके फलस्वरूप उसकी विकास-यात्रा कुठित हो जाती है, उसका स्वप्रगिगामी हो जाता है और मानव समाज बर्बरता की ओर अग्रसर हो जाता है। यही स्थिति होती है जब मनुष्य और उसकी सभ्यता का प्रत्यावर्तन होता दिखाई देता है। मानव-जाति के जीवन मे समय-समय पर यह अवस्था आई है, जब उसे अनिवार्यत ऐसे संकट का सामना करना पड़ा है। उस काल मे यदि सहज आन्तरिक उत्प्रेरणा से मानव अपने पतन की गति का अवरोधन करने मे समर्थ होता है तो बच जाता है अन्यथा वही संकट उसका विनाश करने में समर्थ होता दिखाई देता है।

मानव-समाज के इतिहास को इसी दृष्टि से देखना गांधीजी की विशेषता है। इतिहास की इस गति को देखकर वह इसी परिणाम पर पहुंचता है कि मानव समाज के कल्याण, सुख और श्रेय के लिये शुभ पर आरूढ़ होना ही एकमात्र मार्ग है। यह सच है कि मनुष्य की अशुभ प्रवृत्तियो का सर्वथा उन्मूलन और तिरोभाव सम्भव नहीं, क्योंकि वह जीवन के मूल मे निहित है पर उसके साथ ही यह भी सच है कि संयम, सन्तुलन और नियन्त्रण की प्रक्रिया प्रकृति की देन है जो निरन्तर होती रही है और सतत होती रहेगी। शुभ प्रवृत्ति को इसी कारण जीवन मे सक्रिय होने का अवसर मिलता रहता है। मनुष्य का शुभ ही था जिसने उसे सामाजिक प्राणी बनाया। त्याग,

समवेदना, सहयोग और सामंजस्य पर ही सामाजिक जीवन अवलम्बित है। अपने अधिकारों के संकोच और दूसरों के प्रति कर्त्तव्य की विस्तृति पर ही उसका निर्माण होता। समाज का विकास तो वस्तुतः विशुद्ध स्वार्थ और केवल अहंवाद का प्रतिवाद ही है। जगत् को अह के लिये नहीं परन्तु अह को पर के लिये उपयोगी बनाने की ओर पहला कदम उठाने के बाद ही मनुष्य सामाजिक प्राणी बना होगा। समाज में अहं और पर का समन्वय ही तो विकसित हुआ है।

जीवन की अनुभूति ने सिद्ध किया कि मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास और उसकी प्रगति तथा उत्थान समाज में ही सम्भव है। मनुष्य की समस्त अन्तःस्फूर्तियों तथा उत्तम तत्त्वों का अभिव्यञ्जन समाज के द्वारा ही होता है। मानव ऐसा प्राणी है जिसके समस्त अवयवों की, जीवन की, उसकी सभी साध की परितृप्ति केवल उदर और प्रजनन की कामना-पूर्ति से नहीं हो जाती। उसे अपने स्नेह और उत्सर्ग, अपने अनुराग और विराग, अपने प्रेम और घृणा, अपनी समवेदनशीलता और सहानुभूति का प्रदर्शन करने के लिये भी उपयुक्त साधन की आवश्यकता है। तभी उसे जीवन की पूर्णता का अनुभव हो पाता है। समाज इसका साधक है। यही कारण है कि जैसे-जैसे सहयोग, सेवा तथा सहानुभूति की उसकी परिधि विस्तृत होती गई और जिस अनुपात में वह अहंभाव तथा विशुद्ध स्वार्थ का विसर्जन करता चला गया, वैसे-वैसे उसकी सामाजिकता बढ़ती गई और उसका विकास होता गया। इस दशा में किसे सन्देह हो सकता है मनुष्य के शुभांश की सक्रियता में। मानव जीवन का यही मानवी और नैतिक पथ है जो उसके कल्याण और अभ्युत्थान का साधक हो सकता है। जो जीवन नैतिक आदर्शों से अनुप्राणित न हो और जो समाज तथा जिस समाज की व्यवस्था नैतिकता के आधार पर स्थापित न हो, वह मानवता को संकटापन्न किए बिना बाकी नहीं रह सकता। उस स्थिति से भूमण्डल का अनीति और बर्बरता से आक्रान्त हो जाना : अनिवार्य है।

इसी प्रकाश में जब गाँधी अर्वाचीन जगत्, मानव-समाज की आधुनिक स्थिति तथा आज की उसकी गति और व्यवस्था पर दृष्टिपात करता है, तो उसे आपाद-मस्तक अनैतिक और अमानवीय पाता है। अनैतिक और अमानवीय इस लिये कि वह उस आदर्श से विमुख है जिसकी ओर अपनी समस्त भौतिकता को लिए-दिए भी बढ़ते जाना उसकी ऐतिहासिक परंपरा और वैकासिक पथ रहा है। सहयोग, सामाजिकता और संयम, उत्सर्ग, त्याग और सेवा की भावनाओं में उज्वलता की अनुभूति करने वाली, उनमें ही निराकार किन्तु सत्ताशील सत्य, सौन्दर्य और कल्याण का आकारांकन कराने वाली उसकी वह सहज नैतिक उत्प्रेरणा आज बन्द हो गयी है जिसे विकास की सहनी प्रक्रिया ने ही उसे प्रदान किया था गाँधी की दृष्टि में आज मनुष्य-समाज के समुख जो प्रचण्ड ऐतिहासिक संकट आया दिखाई दे रहा है उसका वास्तविक कारण यही है। वह उसके मूल में स्वयं मनुष्य को ही कारण के रूप में देख रहा है। वह देख रहा है कि आज मनुष्य के अन्तःस्थ जो आदि पशुप्रवृत्ति मौजूद है वह सक्रिया हो उठी है, जिसके नियंत्रण और नियमन पर ही संस्कृति का भविष्यत् निर्भर करता है। मानवता उस नयाने शिखर पर पहुँची दिखाई दे रही है जहाँ से एक कदम आगे बढ़ी तो तलहीन गत में गिरकर विलुप्त होती दिखाई देगी। आज उसका पशु-बल जागरित है जिसने उसकी अन्तर्दृष्टि को धूमिल कर दिया है। फलत. वह पथभ्रष्ट है, आदर्शभ्रष्ट है और विवेकभ्रष्ट है।

ऐसी स्थिति में उसकी सारी व्यवस्थाएँ अमानवीय हो जायँ तो इसमें आश्चर्य नहीं। बर्बर आदि मानव जिन प्रवृत्तियों के प्रभाव से अभिभूत हो कर जीवन-रथ को आगे बढ़ाता था, वही क्या आज दुनिया का आदर्श और उत्प्रेरक शक्ति नहीं हो गई है? एक दृष्टि से आधुनिक मनुष्य अपने पूर्व पुरुष से भी अधिक भयावना हो गया है। वह भी बर्बर पर उसमें उतनी शक्ति कहाँ थी जो आज के मनुष्य को

प्राप्त है। वह पाशव था पर उसके विवेक की चिनगारी, अपने लघु रूप में ही सही धीरे-धीरे सुलगने लगी थी। आज के मनुष्य की आदि बर्बरता जागरित तो है ही साथ-साथ वह अकल्पित रूप से शक्ति-सम्पन्न हो गया है। उधर युग-युग से उपार्जित अपनी बुद्धि और मस्तिष्क की सारी शक्ति का उपयोग अपनी पशुता के समर्थन, उसकी सफलता और उसके औचित्य को सिद्ध करने में लगाना आरम्भ कर दिया है। हृदयांधकार का प्रतिवाद अन्तःस्थ प्रकाश कर सकता था, पर प्रकाश का उपयोग भी जब अंधकार की वृद्धि में किया जाने लगा तो स्थिति की भयानकता सिद्ध करने की विशेष आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। महान् सिद्धान्तों और आदर्शों का उल्लेख अपने कुत्सित अहं की तृप्ति के लिये किया जाता है। इस प्रकार मनुष्य भयानक आत्मप्रवंचन में संलग्न है।

हृदयस्थ अनैतिकता और अमानवता मनुष्य के समस्त आचरण और व्यवहार पर उसके विचार और दृष्टिकोण पर, उसकी व्यवस्था और संघटन पर, उसके ज्ञान और भावना पर इस प्रकार छा गया है कि सारी सांस्कृतिक धारा भयावनी हो उठी है। आज का आर्थिक संघटन शोषण पर, राजनीतिक दलन पर और अन्तर्राष्ट्रीय द्वेष तथा प्रवंचन पर स्थापित है। अर्थनीति और राजनीति ही नहीं प्रत्युत समस्त सांस्कृतिक जीवन इसी आधार पर आश्रित हो गया है। मनुष्य ने जीवनरक्षा के लिये संघर्ष करते हुए सब पर विजय प्राप्त कर ली। अपने से कहीं अधिक बलशील जीव-जन्तुओं के मस्तक को अपने चरणों से कुचल डाला। उसने प्रकृति की अपरिमित शक्ति को विज्ञान के द्वारा नाथकर अपनी दासी बना लिया। इस शक्तिशील प्राणी का सामना करने वाला संसार में कोई बाकी न बचा। अब वह संघर्ष करे तो किससे करे? आखिर अपनी शक्ति की आजमाइश और उपयोग तो करना ही चाहिए। विज्ञान ने यह धारणा भी बैठा दी कि संघर्ष अनिवार्य है, क्योंकि उसीके द्वारा विकास-प्रक्रिया चरितार्थ

होती है। फलतः प्रकृति की कला की अनुपम रचना यह मानव, अपने को दिग्विजयी पाकर भी किसी न किसी से लोहा लेने को उतावला हो उठा। उसे किसी ने यह न बताया कि युद्ध करना है, पर करना है अपनी पशुता से। परिणाम हुआ यह कि मानव का संघर्ष मानवता मे ही आरम्भ हो गया और आज का सारा सांस्कृतिक पथ उसी संघर्ष का रण-स्थल हो गया है।

मनुष्य मनुष्यता का ही हनन करने लगा और आज अपने समस्त साधनों का उपयोग, अपने ज्ञान-विज्ञान का उपयोग, अपनी बुद्धि और बल का उपयोग उसी लक्ष्य की सिद्धि में कर रहा है। जो विज्ञान जगत् के कल्याण का साधक हो सकता था, वह उसके विनाश का हेतु हो रहा है। जो अविष्कार संसार का अभाव, दरिद्रता और दैन्य से मुक्त कर सकते थे वे शोषण और दलन के लिये प्रयुक्त हो रहे है। दिक्काल की दूरी को सर्वथा मिटाकर, जगत् को परस्पर निकट लानेवाले आधुनिक साधन जो मानव-समाज को एक सूत्र मे आबद्ध करके उसे एकता प्रदान कर सकते थे वे ही उसके लिये अभिशाप हो गये। पूर्व युग का मानव प्राकृतिक और भौगोलिक बाधाओं के कारण अपनी प्रभुता को सर्वत्र व्याप्त कर देने मे असमर्थ होता था, पर वही आज सारे भूमण्डल को उससे परिप्लावित कर देने मे समर्थ हो रहा है।

इस स्थिति का कारण ढूँढने के लिये विशेष आयास की आवश्यकता नहीं। स्थूल रूपसे कह सकते है कि जब जीवन का आदर्श भौतिक सुख और भोग की तृप्ति हो जाय और जब अहं के प्रति राग एकमात्र उनका पथ समझ लिया जाय, तो मानव की आक्रमणशील प्रवृत्ति का उत्तेजित हो जाना अनिवार्य है, जिसका अन्त हिंसा, रक्तपात और संहार मे ही होगा। मनुष्य का बाह्य उसके अन्तर का ही प्रतिबिम्ब है। किसी भी व्यवस्था का जन्म और उसका सञ्चालन मनुष्य के हृदय के ही आश्रित है। वही है आधार और वही है तत्त्व जो उनमे प्राण-प्रतिष्ठा करता है। फलत जबतक अवस्थाएँ मानव की नैतिक भावना

और अन्तर् के शुभांश से उद्भूत और परिचालित नहीं होती उसका स्वरूप चाहे कितना भी उदार और आकर्षक क्यों न हो, तबतक उनका कोई अर्थ नहीं, क्योंकि वे निकम्मी सिद्ध होगी। स्मरण रखना चाहिए कि व्यवस्थाएँ निमित्तमात्र हैं, जिनका उपयोग करनेवाला दूसरा है, जो अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल ही उनका उपयोग करेगा। ऐसी स्थिति में इच्छाओं की आग में जलानेवाला मनुष्य जब इच्छाओं की तृप्ति में ही सुख की कल्पना कर रहा हो और जब इस सुख की प्राप्ति ही उसकी दृष्टि मे जीवन का एकमात्र प्रयोजन हो गया हो, तब निस्सन्देह उसका सारा प्रयत्न और चेष्टा उसी दिशा की ओर उन्मुख रहेगी। जीवन का प्रवाह आखिरकार यह आदर्श लेकर मनुष्यता को किधर ले जायगा? स्पष्ट है कि इसी कारण आज का राजनीतिक और आर्थिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय संघटन मानव के उपर्युक्त अन्तर् से आछन्न हो रहा है। परिणामत. मनुष्य की हृदयाग्नि के दाह मे जगत् भस्म हो रहा है।

आधुनिक विचारक और जगत् की समस्या को सुलझाने की इच्छा रखनेवासे प्रश्न के मूल में नहीं जा रहे हैं। आज की विचार-पद्धति ऊपरी स्तर मे प्रगट हुए रोग के उपसर्गों को ही वास्तविक रोग समझ कर उपचार मे लग जाती है जिसके फलस्वरूप विफलता ही हाथ लगती है। उग्र राष्ट्रवादिता, पूँजीवाद, आर्थिक और राजनीतिक साम्राज्यवाद, वर्ग-संघर्ष और अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता जगत् की दुर्दशा के कारण अवश्य हो रहे है, पर इस दुरवस्थाके मूल मे उन्हे ही कारण समझकर आगे बढ़ना वास्तविक निदान से विमुख होना है। गाँधी की दृष्टि इनसे मूलतः भिन्न है। वह विश्व की अव्यवस्था और संकट की जड़ में मनुष्य के अन्तर् को देख रहे हैं, जो अपने अशुभ और पाशव से पराजित होकर अमानवीय और अनैतिक हो गया है। आज का जगत् दुर्भाग्य से अपनी पशुता को ही पुनरुज्जीवित करने मे अपनी शक्ति का क्षय कर रहा है। यूरोप का अशिव 'भौतिकवाद' मनुष्य भूत बनाने मे सफल हुआ, अतएव उसकी प्रेतलीला से वसुधा

विपत्संकुला होकर त्राहि-त्राहि कर रही है। मनुष्य कदाचित् उस ऐतिहासिक युग से जा रहा है जब उसका अन्तर प्रगति और विकास के पथ से विरत हो गया है।

गाँधी की दृष्टि मे यही है रोग का मौलिक निदान और 'पूजीवाद' या 'साम्राज्यवाद', 'फासिटीवाद' या 'नाजीवाद', 'वर्गसघर्ष' या 'मानव-दोहन' वस्तुत उसी विघातक महारोग के भयावने उपसर्ग मात्र है, जिसमे मानव की घृणित पशुता और अशुभ का चरम रूप प्रदर्शित हुआ है। वे स्वयं वसुन्धरा की आकुलता के कारणरूप मे भले ही दृष्टिगोचर हो पर यथार्थतः उनका सर्जन मनुष्य के 'लोभवाद', 'प्रभुतावाद' और 'प्रतिशोधवाद', 'भोगवाद' और 'स्वार्थवाद' के गर्भ से हुआ है। वे इन कारणो के ही परिणाम हैं, जो स्वय आज कारण बनकर मानवता के क्लेश और विनाश के स्रोत हो रहे है। मोहाच्छन्न और भ्रान्त मनुष्य अवाछनीय अनादर्शत्व को जीवन के आदर्श के पुनीत पदपर प्रतिष्ठित करके लक्ष्यभ्रष्ट हो गया है और अपने साथ-साथ समस्त जगती को भ्रष्टता की ओर लिए बढा चला जा रहा है।

इस स्थिति मे यह अनिवार्य है कि उसकी भावना उसके सारे विधान, व्यवस्था, सघटन, सस्था और साधनो पर आधिपत्य स्थापित करके उनपर वही रग चढ़ा दे जिस रग मे उसने मनुष्य को रग डाला है। फलत सारा सास्कृतिक भवन विषाभिभूत होकर मानवता के कोमल कलेवर को जर्जर और विक्षत कर डाले तो आश्चर्य क्या है। मनुष्य के व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन का मूल्याकन जिन मानदण्डो से किया जाने लगा है, उनमे उन नैतिक आदर्शो के लिये स्थान नही रहा जिनके आधार पर ही मानवता का निर्माण सभव है। स्वतन्त्रता, न्याय और समानता तथा बन्धुत्व का नामोल्लेख करना एक बात है, पर उन्हे जीवन मे व्यावहारिक रूप प्रदान करना बिल्कुल दूसरी चीज है। स्मरण रखना चाहिए कि अहं की पूजा तथा भोग और प्रभुता की एषणा के साथ-साथ उपर्युक्त नैतिक आदर्श कदापि नही चल

सकते। एक के अभाव, सम्पूर्ण नहीं तो कम से कम एक की गौणता और संयम तथा निग्रह पर ही दूसरे की अट्टालिका खड़ी की जा सकती है। आज अभाव है एक का, पर अभाव है दुर्भाग्य से उनका जिन्हें हम नैतिक आदर्शों के नाम से संबोधित करते हैं और जो मानवता के प्राण हैं। लुप्त हो रहा है मानवांतर् का वह अंश जो प्रकृत्या सत्य की ओर अभिमुख होता है और जो 'स्व' के विराट् विलय में जीवन का सत्य समझता है, और उसी मे विकास की पूर्णता की आभा देखता। मानव-जगत् का ज्ञान-विज्ञान, उसकी कला और साहित्य उसका आर्थिक सघटन और राजनीतिक ढाँचा सब धीरे-धीरे उसकी वासना पूर्ति के लिये ही उपयुक्त होने लगे हैं। गत एक शताब्दी के इतिहास का अक्षर-प्रत्यक्षर पुकार-पुकार कर इसी अवस्था की ओर सकेत कर रहे जिसका हैं संसार की आज की परिस्थिति ही उसका ज्वलंत प्रमाण है।

विज्ञान के प्रसाद से औद्योगिक क्रान्ति हुई पर मनुष्य उसका सदुपयोग न कर सका। यदि कर सका होता तो जगत् से अभाव का नाम निशान भी मिट गया होता और "विभूति मे अभाव" की विचित्र पहेली भी न उपस्थित हुई होती। लोभ और अधिकाधिक प्रलोभन ने न केवल उत्पादक और औद्योगिक देशो मे शोषित नर-कंकालो की महती सेना सघटित कर दी, बेकारो और भुक्खडो की भारी भीड पैदा कर दी, प्रत्युत उत्पन्न पदार्थों की खपत के लिये भी धरातल के अनेक भूभागो मे उपनिवेशो और शासित प्रदेशो का निर्माण कर डाला, जहाँ पराधीन और प्रताडित जन-समुदाय पशुओ की भांति मानव-पशुता से पीड़ित और निर्दलित जीवन-यापन करने को बाध्य हो गया। साम्राज्यो की प्रभुता के लिये उग्र राष्ट्रवादिता के नाम पर होड़ मच गई जिसने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो को विषाक्त कर डाला। मनुष्य ने विज्ञान का दुरुपयोग करके प्रतिद्वन्द्विता मे विजय पाने के लिये

साम्राज्य-विस्तार तथा अर्थलोलुपता की पूर्ति के लिये अक-

लिपत नव शस्त्रों और साधनों की रचना कर डाली। अनिवार्य था कि शस्त्र संग्रह के लिये भी घुडदौड मच जाती। फलत भय, प्रतिहिंसा और द्वेष के आधार पर जीवन की स्थापना हो गयी। लोभ, एषणा और प्रभुता को आदर्श मान कर अग्रसर हुए मनुष्य के सारे विचार, कार्य और आचरण तदनुकूल हो गए।

फलत आधुनिक संस्कृति की धारा, शक्ति तथा शस्त्र के दो दुकूलों के मध्य से प्रवाहित होने लगी। यही कारण है कि गत २५ वर्षों मे दो-दो बार भूमण्डल विश्वव्यापी अराजकता और हिंसा का शिकार हुआ। युद्ध भी यद्यपि किया गया महान् आदर्शों के नाम पर, पर मनुष्य ने उसके द्वारा अपनी पशुता ही चरितार्थ की। गत महायुद्ध के समय लघुराष्ट्रों की स्वतन्त्रता की रक्षा की दुहाई बार-बार दी गई। बार-बार कहा गया कि जगत् से सदा के लिये युद्ध का नाम-निशान मिटा देने की भावना लेकर ही मानव-इतिहास का यह अन्तिम युद्ध लड़ा जा रहा है। पर क्या उसमे सफलता मिली है ? राष्ट्रसंघ की स्थापना का भी कोई परिणाम नहीं निकला। संघ की वे अनेक योजनाएँ जो राष्ट्रों के बीच उठने वाले आर्थिक झगडों को हल करने के लिये बनाई गई थी, निकम्मी सिद्ध हुईं। नि शस्त्रीकरण के प्रश्न को लेकर हुए कतिपय विश्व-सम्मेलन भी निरर्थक और निष्फल हुए। सबसे बढ़ कर मनुष्य के स्वरूप की पोल खुल गई उस समय जब, अवसर उपस्थित होने पर आदर्शों की दुहाई देने वालों ने स्वयं अपने स्वार्थ के लिये निर्लज्जता पूर्वक उन्हीं आदर्शों को तिलाञ्जलि दे दी।

अपना उल्लू सीधा करना ही जिनका एकमात्र लक्ष्य हो वे अपनी सुविधा के अनुसार न्याय की पूजा करेंगे और तिरस्कार भी। जब चाहेंगे निर्बलों को बलि चढ़ा देंगे और अपने कुकृत्य का औचित्य सिद्ध करने में सङ्कोच भी न करेंगे। ऐसी स्थिति में कहाँ रह गए वे लौकिक नैतिक आदर्श जिनके प्रकाश में मनुष्य अपने आचरण का विधान करता। हिटलर को मानवता और शान्ति का शत्रु घोषित

करना उचित ही है, पर घोषणा करनेवालों को यह भूल जाना उचित नहीं है कि उन्होंने स्वयं ही शक्ति तथा शस्त्र और गुण्डई तथा अराजकता को न केवल पनपने का मौका दिया है वरन् उनकी सार्थकता सिद्ध कर दी है।

शस्त्र के द्वारा शस्त्र पर विजय प्राप्त करके शस्त्र की ही महिमा स्थापित की जाती है। बल का दमन अधिक बल के द्वारा करने के बाद पराजित के लिये सिवा इसके दूसरा कौन सा मार्ग रह जाता है कि वह विजेता से अधिक शक्ति-सम्पन्न होने की चेष्टा करे। ऐसी स्थिति मे शक्ति के द्वारा शक्ति का मर्दन करनेवाले जब अधिक बल सम्पन्न का सामने पाते है, तो उसी प्रकार नाक रगडने लगते है जिस प्रकार चेम्बरलैन ने हिटलर के सम्मुख रगड़ी। फलत गुण्डई और अराजकता का उत्तेजन मिल जाता है। इस प्रकार पशुता और मद, आक्रमणशीलता तथा हिसा के लिये हिटलर को दोष देकर शान्त हो जाना उस महारोग की उपेक्षा करना है जिससे मानव-समाज सत्रस्त है। उन्माद और स्वार्थपरता से यदि धरित्री आकीर्ण है तो उससे सारा जगत् प्रभावित होगा, विजयी हो या पराजित, सभी उसी के वशीभूत होकर कार्य करेगे।

मानव की अन्तर्भूत भावनाएँ उसकी सक्रियता का स्रोत है, अत महत्व है मनुष्य के प्रकृत रूप का। वह रूप यदि पशुता से आच्छन्न है, तो व्यवस्थाओं और विधान तथा जगत् का कल्याण करने मे समर्थ वैज्ञानिक साधनों से भी पशुता ही प्रवाहित होती दिखाई देगी। आज का विचारक समाज जगत् के इस प्रकृत रूप की ओर ध्यान नहीं दे रहा है। यही कारण है कि बार-बार चेष्टा करने पर भी स्थिति सुलझने के बजाय बिगड़ती चली जा रही है। यह धारणा नितान्त भ्रामक है कि उपसर्गों का शमन करने के प्रयासमात्र से रोग का परिहार करना भी सम्भव होगा।

गाँधी इसी प्रकाश में जगत् की समस्या पर दृष्टिविक्षेप कर रहा

है। वह आधुनिक सङ्कट के मूल मे मनुष्य की अनैतिकता और अमानवता को जहाँ कारण रूप मे देख रहा है, वहीं यह भी समझता है कि स्थिति को सुलझाने के लिये एकमात्र उचित उपाय और मार्ग यही है कि मानव के प्रकृत रूप का ही उपचार किया जाय, क्योंकि जब सारी सस्कृति, समाज, जीवन, आदर्श, व्यवस्थाओ और विधानो पर उसकी पशुता छाई रहेगी तो जगत् के कल्याण की आशा करना विशुद्ध आत्म-प्रवञ्चन के सिवा कुछ नहीं है। आज मानव-समाज को दो मे से एक चुनना है। वह या तो पशुता के आलिङ्गन मे ही विभोर होकर बर्बरता की ओर झुक जाय और इस प्रकार स्वयं अपना ही सहार कर डाले, अथवा अपने स्वरूप को इस प्रकार बदले कि आज का सारा दृष्टिकोण, उसके जीवन, समाज और सस्कृति का आधार उलट-पुलट जाय। उसके स्थान पर नई कल्पनाओ, नवादर्शों और उत्तम भावनाओ की नींव पर नव जगत् की रचना करे, जो उसके पद और गौरव के अनुकूल हो तथा उसकी वास्तविक प्रगति और विकास के पथ को प्रशस्त करे, यही है नई ध्वनि और नई धारणा जिसे लेकर गाँधी जगत् के सम्मुख उपस्थित हुआ है।

वह जानता है कि मनुष्य अशुभ की ओर प्रकृत्या आकृष्ट है। वह उसकी उन समस्त प्रमाथिनी और बलवती प्रवृत्तियो से परिचित है, जिन्हे हम पशुभाव के नाम से पुकारते है। पर जिस प्रकार वह यह जानता है कि मनुष्य अपने दम्भ और अहङ्कार मे, अपनी प्रभुता और गर्व की लालसा मे, अपने भोग और स्वकाय-पूजा की कामना मे रस लेता है उसी प्रकार वह यह भी जानता है कि चेतनाश से उद्भूत मनुष्य को विवेक की वह विभूति भी प्राप्त है, जो उसे समय-समय पर यह आभास भी देती रहती है कि उसका जीवन केवल इतनी सी सकुचित सीमा मे आबद्ध होने के लिये नहीं है और इससे ऊँचे उठने मे ही उसकी मानवता है। यही मनुष्य का शुभाश है जिसकी विजय मे ही शुद्ध मनुष्य है। यही मनुष्य की साधना रही है। जब-जब वह

करना उचित ही है, पर घोषणा करनेवालों को यह भूल जाना उचित नहीं है कि उन्होंने स्वयं ही शक्ति तथा शस्त्र और गुण्डई तथा अराजकता को न केवल पनपने का मौका दिया है वरन् उनकी सार्थकता सिद्ध कर दी है।

शस्त्र के द्वारा शस्त्र पर विजय प्राप्त करके शस्त्र की ही महिमा स्थापित की जाती है। बल का दमन अधिक बल के द्वारा करने के बाद पराजित के लिये सिवा इसके दूसरा कौन सा मार्ग रह जाता है कि वह विजेता से अधिक शक्ति-सम्पन्न होने की चेष्टा करे। ऐसी स्थिति मे शक्ति के द्वारा शक्ति का मर्दन करनेवाले जब अधिक बल सम्पन्न का सामने पाते है, तो उसी प्रकार नाक रगडने लगते हैं जिस प्रकार चेम्बरलैन ने हिटलर के सम्मुख रगड़ी। फलत गुण्डई और अराजकता का उत्तेजन मिल जाती है। इस प्रकार पशुता और मद, आक्रमणशीलता तथा हिसा के लिये हिटलर को दोष देकर शान्त हो जाना उस महारोग की उपेक्षा करना है जिससे मानव-समाज सत्रस्त है। उन्माद और स्वार्थपरता से यदि धरित्री आकीर्ण है तो उससे सारा जगत् प्रभावित होगा, विजयी हो या पराजित, सभी उसी के वशीभूत होकर कार्य करेगे।

मानव की अन्तर्भूत भावनाएँ उसकी सक्रियता का स्रोत है; अत महत्व है मनुष्य के प्रकृत रूप का। वह रूप यदि पशुता से आच्छन्न है, तो व्यवस्थाओं और विधान तथा जगत् का कल्याण करने मे समर्थ वैज्ञानिक साधनो से भी पशुता ही प्रवाहित होती दिखाई देगी। आज का विचारक समाज जगत् के इस प्रकृत रूप की ओर ध्यान नही दे रहा है। यही कारण है कि बार-बार चेष्टा करने पर भी स्थिति सुलझने के बजाय बिगड़ती चली जा रही है। यह धारणा नितान्त भ्रामक है कि उपसर्गों का शमन करने के प्रयासमात्र से रोग का परिहार करना भी सम्भव होगा।

गाँधी इसी प्रकाश मे जगत् की समस्या पर दृष्टिविक्षेप कर रहा

है। वह आधुनिक सङ्कट के मूल मे मनुष्य की अनैतिकता और अमानवता को जहाँ कारण रूप मे देख रहा है, वहीं यह भी समझता है कि स्थिति को सुलझाने के लिये एकमात्र उचित उपाय और मार्ग यही है कि मानव के प्रकृत रूप का ही उपचार किया जाय, क्योंकि जब सारी संस्कृति, समाज, जीवन, आदर्श, व्यवस्थाओं और विधानों पर उसकी पशुता छाई रहेगी तो जगत् के कल्याण की आशा करना विशुद्ध आत्म-प्रवञ्चन के सिवा कुछ नहीं है। आज मानव-समाज को दो मे से एक चुनना है। वह या तो पशुता के आलिङ्गन मे ही विभोर होकर बर्बरता की ओर झुक जाय और इस प्रकार स्वयं अपना ही संहार कर डाले, अथवा अपने स्वरूप को इस प्रकार बदले कि आज का सारा दृष्टिकोण, उसके जीवन, समाज और संस्कृति का आधार उलट-पुलट जाय। उसके स्थान पर नई कल्पनाओं, नवादर्शों और उत्तम भावनाओं की नींव पर नव जगत् की रचना करे, जो उसके पद और गौरव के अनुकूल हो तथा उसकी वास्तविक प्रगति और विकास के पथ को प्रशस्त करे, यही है नई ध्वनि और नई धारणा जिसे लेकर गाँधी जगत् के सम्मुख उपस्थित हुआ है।

वह जानता है कि मनुष्य अशुभ की ओर प्रकृत्या आकृष्ट है। वह उनकी उन समस्त प्रमाथिनी और बलवती प्रवृत्तियों से परिचित है, जिन्हें हम पशुभाव के नाम से पुकारते हैं। पर जिस प्रकार वह यह जानता है कि मनुष्य अपने दम्भ और अहङ्कार मे, अपनी प्रभुता और ऐश्वर्य की लालसा मे, अपने भोग और स्वकाय-पूजा की कामना मे रस लेता है उसी प्रकार वह यह भी जानता है कि चेतनांश से उद्भूत मनुष्य को विवेक की वह विभूति भी प्राप्त है, जो उसे समय-समय पर यह आभास भी देती रहती है कि उसका जीवन केवल इतनी सी सकुचित सीमा में आबद्ध होने के लिये नहीं है और इससे ऊँचे उठने मे ही उसकी मानवता है। यही मनुष्य का शुभांश है जिसकी विजय मे ही मनुष्य मनुष्य है। यही मनुष्य की साधना रही है। जब-जब वह

अपनी साधना के इस पथ से विरत होता है तब-तब उसका पतन होता है। और तत्पथाभिगामी होने पर उसके इतिहास का उज्ज्वल रूप प्रकट होता है।

बापू स्वयं इसी पथ का यात्री है और यदि उसका कोई 'वाद' हो तो कह सकते हैं कि 'गाँधीवाद' मनुष्य को साधनारूढ बनाने का, उसे पथारूढ़ करने का उत्कट प्रयोग है। वह प्रयोग है मानव के उज्ज्वलांश को उज्जीवित कर देने का, जिसमे उसकी चेतना प्रबुद्ध होकर अपने सत्स्वरूप मे अवस्थित हो जाय। मनुष्य मनुष्यता की ओर उन्मुख हो, अपनी महिमा और लक्ष्य को समझे, प्रकृति के विधान का आदर करे तथा जिस साधना के द्वारा उसका विकास होता है अथवा जिधर चलने के लिये ही कदाचित् उसका अवतार हुआ है उसी ओर गतिशील हो। उसके इस सात्विक भाव पर ही गाँधी उसका कल्याण और भविष्य निर्भर मानता है। वह चाहता है कि उसी के आधार पर न केवल मनुष्य का व्यक्तिगत जीवन अवलम्बित हो, प्रत्युत उसके सामाजिक संघटन का, समष्टि और व्यष्टि के पारस्परिक संबन्ध का, सारी सामाजिक व्यवस्था का भवन भी खड़ा हो। मनुष्य की राजनीति, अर्थनीति सभी उसके आश्रय पर आश्रित हो। इन सब मे उसके उत्तम अंश का प्रतिबिम्ब झलक रहा हो, तभी मानव-जगत् की रक्षा हो सकेगी। जब तक ऐसा नही होता तब तक मनुष्य पर पाशव सत्ता का अधिकार छाया रहेगा। यह धरित्री भी मनुष्य की पशुता से घृणित नरक तुल्य हो जायेगी और मानवता का वह भव्य भवन जिसका निर्माण युग-युग से मनुष्य की उज्ज्वलता करती आई है भूमिसात् हो जायेगा।

'गाँधीवाद' की इस दृष्टि के संबन्ध मे तरह-तरह की शङ्काएँ खड़ी की जा सकती हैं। कहा जा सकता है कि यह सारी कल्पना ही भ्रांत है, क्योकि मनुष्य को देव बनाने की चेष्टा कभी सफल हो ही नहीं सकती। मनुष्य प्रकृत्या स्वार्थी है, जो अपनी कामना और प्रवृत्ति की

पूर्ति मे धर्मतः सदा से संलग्न रहा है और सदा रहेगा। यह सोचना कि उसे ऊँचा उठा कर उसका स्वरूप परिवर्तित करना सभव होगा ऐसी असंभव कल्पना है जिसे कभी व्यावहारिक रूप दिया ही नहीं जा सकता। यह आशा करना कि सामूहिक रूप से मानव-समाज जैसा है उससे कुछ भिन्न बनाया जा सकेगा वास्तविकता की उपेक्षा करके हवा मे महल बनाने के समान है। यह तर्क यदि सचमुच प्रौढ़ और साधार स्वीकार कर लिया जाय तो 'गाँधीवाद' का सारा आधार ही समाप्त हो जाय पर सौभाग्य से बात ऐसी नहीं है। मनुष्य देवता भले ही न बने पर मनुष्य बनना उसकी नियति का विधान है। यदि ऐसा न होता तो वह भी पशु ही बना रह गया होता। मानव जाति का इतिहास इस बात का साक्षी है कि मनुष्य बदलता रहा है और बदलते हुए बढ़ता गया है।

इतिहास की गति को इसी दृष्टि से देखना होगा अथवा मानव समाज के भविष्य मे अपना विश्वास खो देना होगा। मनुष्य के परिवर्तन मे अविचल श्रद्धा गाँधी की दृष्टि धारा की विशेषता है, क्यो कि वह मनुष्य के उज्ज्वलाश मे अटल निष्ठा रखता है। 'गाँधीवाद' का अनुमान करती विचार-धारा का स्रोत गाँधी का यही विश्वास है। उसकी सारी प्रक्रिया और पद्धति भी मनुष्य के उत्तमाश को न केवल आधार मान कर अग्रसर होती है, बल्कि सक्रिय रूप ग्रहण करके उसे झकृत और सजीव कर देने के लक्ष्य को लेकर आगे बढ़ती है। तात्पर्य यह कि नैतिकता के आधार पर जीवन और जगत् की रचना मे ही गाँधी को मनुष्यता का कल्याण दिखाई पडता है। नैतिकता का प्रजनन तथा उसका आधार है मानव का अंतर, अत. उसे उद्‌बुद्ध करना आवश्यक समझता है। आधुनिक विश्व की विचार-पद्धति और बौद्धिक प्रकाश मनुष्य के अन्तर् का स्पर्श नहीं करता। 'भौतिकवाद' तथा 'विज्ञानवाद' जीवन के इस अश की भयज़नक उपेक्षा कर रहा है, जिसके फलस्वरूप वर्तमान मानव-समाज मोहा-

कुल होकर भ्रष्टादर्शों को जीवनादर्श के स्थान पर प्रतिष्ठित करने में सफल हो गया है। फलतः जगत् न केवल विनाशोन्मुख हुआ दिखाई दे रहा है, वरन् संहार से उसे बचाने की चेष्टा भी असफल सिद्ध हो रही है।

यह न समझिए कि गाँधी की यह धारणा और विवेचना किसी काल्पनिक और भावुक व्यक्ति की कपोल-कल्पना के सिवा कुछ नहीं है। पाश्चात्य जगत् के गम्भीर तथा सत्यद्रष्टा मनीषी भी इस तथ्य को धीरे-धीरे स्वीकार करने लगे हैं। 'आइन्स्टाइन' सा महान् वैज्ञानिक आज धरती पर दूसरा कौन है! विज्ञान जगत् यह स्वीकार करने को बाध्य है कि आधुनिक दुनिया का यह मस्तिष्क अपनी विशालता और सूझ तथा गभीर मननशीलता में बेजोड है। वही 'आइन्स्टाइन' कहते हैं कि "हमारे पूर्ववर्तियों ने हमे उन्नत तथा महान् वैज्ञानिक और यांत्रिक ज्ञान प्रदान कर दिया है, जिसके द्वारा मानव-जीवन को स्वतन्त्र और सुन्दर बनाने की वह अभूतपूर्व क्षमता प्राप्त हुई थी, जैसी इतिहास के किसी युग ने कभी उपस्थित नहीं की थी। पर यह देन अपने साथ वैसे भयावने संकट भी लाई है, जैसे मानव-समाज के इतिहास में कभी प्रस्तुत नहीं हुए थे। आज सभ्य मानव-जगत् का भविष्यत् सब से अधिक इसी एक बात पर निर्भर करता है कि उसमें नैतिक शक्तियों का प्रजनन करने की क्षमता है अथवा नहीं। फलतः हमारे सामने कठिन काम करने को बाकी पड़ा है।"

आगे 'आइन्स्टाइन' और कहते हैं "जीवन के प्रयोजन अथवा उसके अर्थ के सम्बन्ध में खोज करने की बात यद्यपि हमें व्यर्थ सी जॅचती है, फिर भी प्रत्येक व्यक्ति के सामने कुछ आदर्श होते हैं, जो उसके विचारों, निश्चयों और कार्यों का निर्णय करते रहते हैं। इस दृष्टि से मैंने केवल भोग और सुख को कभी जीवन का साध्य नहीं समझा। जीवन के आधार के रूप में ऐसी कल्पना मेरी दृष्टि में सूअरों के झुण्ड के लिए ही उपयुक्त हो सकती है। जिन

आदर्शों ने मुझे सदा उत्प्रेरित किया है और समय समय पर प्रसन्नता-पूर्वक जीवन का सामना करने की शक्ति प्रदान की है वे सत्य, सौन्दर्य और शिवमय रहे हैं। सम्पत्ति, बाह्य सफलता और विलास की भावना से उत्प्रेरित प्रयत्न मुझे सदा घृणित दिखाई पड़े है।"

पर प्रश्न यह है कि जीवन के सुख की जो कल्पना 'आइन्स्टाइन' की दृष्टि मे सूअरो के झुण्ड के लिये ही उपयुक्त है और जिन भावो से उत्प्रेरित होकर जीवन का पोपण करना उन्हे घृणित दिखाई देता है, उन्हीं की सत्ता और प्रभाव क्या आज के मनुष्य पर नहीं छा गया है? आज मनुष्य को सूअर से मानव बनाए बिना क्या जगत् की समस्या हल हो सकती है और क्या संसार-व्यापक घृणित परिस्थिति से पार पाया जा सकता है? क्या जिनके पास सुख, भोग और प्रभुता के साधन भरे पड़े है, वे उसे केवल अपने लिये ही रखना नहीं चाहते? जो है उसी से उन्हें सन्तोप नहीं होता, अपितु उत्तरोत्तर उसकी वृद्धि मे ही जीवन की सारी सचेप्टता लगा दी जाती है। जिनके पास नहीं है वे घृणा और द्वेप से संतप्त हैं। स्पष्ट है कि जगत् की सारी सम्पदा और विभूति को कुछ हाथो में सकलित करके रखने वाला अल्पसंख्यक समुदाय जब बहुसंख्यक जन-समाज को इस सम्पत्ति में भागीदार बनाना अस्वीकार करेगा, और जब सास्कृतिक तथा वैज्ञानिक प्रगति से उपार्जित सारे वैभव और ऐश्वर्य को केवल अपने उपभोग का साधन बनाने की चेष्टा करेगा तो अभाव से संत्रस्त लोग घृणा और द्वेप की अग्नि लगा कर सब कुछ विनष्ट कर देने के लिये अनिवार्यत. अग्रसर होगे।

जब यह स्थिति उत्पन्न होती है तो सकट की अवस्था का प्रजनन हो ही जाता है। इतिहास मे ऐसी स्थिति अनेक बार आ चुकी है। मानव-हृदय मे उत्पन्न यह गृह-युद्ध बहुधा सभ्यता और मानवता का हनन करने का कारण होता रहा है। बर्बरता और मनुष्या के इस सङ्घर्प मे बहुधा सभ्यताऍ स्वयं संतप्त हो गई हैं। यूरोप ने आज पुनः

वही क्षण उपस्थित कर दिया है। वह जिसे आज सभ्यता कहता है। वह मानवता के लिये अभिशाप सिद्ध होने लगी है। बापू इसी दृष्टि से यूरोप की ओर देख रहा है। वह कहता है "मै आधुनिक सभ्यता का दृढ़ और कृतसकल्प विरोधी हूँ। मैं चाहता हूँ कि आप यूरोप के अन्तरिक्ष पर अपनी दृष्टि डाले। तनिक देखिए तो सही कि संसार पश्चिमी सभ्यता के चरणो के नीचे दलित होकर किस प्रकार कराह रहा है। यूरोप मे जो हो रहा है वह इस बात का साक्षी है कि पाश्चात्य सभ्यता उन काली और शैतानी शक्तियो का प्रतीक है, जो मनुष्य को जलाए जा रही है। वह सभ्यता मुख्यत. भौतिक है, जो केवल स्थूल भूतो और भौतिक नियमो की खोज मे सलग्न हैं। वह मानव-शक्ति का उपयोग उत्पादन के उन साधनो और विनाश के उन शस्त्रो की खोज और निर्माण मे करती है, जो जगत्-संहार के कारण हो रहे है। यदि समय रहते आप जाग नहीं उठते तो अनैतिकता की उत्ताल तरङ्गे जो आपके चारो ओर उठ रही है और उत्तरोत्तर उग्र होती जा रही हैं, शीघ्र ही आप को निमग्न कर लेगी। अत मै अपनी सारी शक्ति के साथ पुकार-पुकार कर कह रहा हूँ कि सावधान हो जाइये और उस भयावनी ज्वाला से पूर्व कि वह आपको जला कर भस्म कर दे, दूर हट जाइए।"

'आइन्स्टान' जिन नैतिक शक्तियो के प्रजनन की बात कहते है, गाँधी उसी का अभाव आज के जगत् मे देख रहा है। वह आज जीवन के लिये जिस साध्य और आधार को सूअरो के झुण्ड के लिये उपयुक्त समझते हैं गाँधी उन्हीं का व्यापक प्रभाव विश्व पर छाया देखता है। जगत्-सङ्कट के मूल मे उसकी दृष्टि मे यह मुख्य कारण है। सम्प्रति प्रश्न यह है कि मनुष्य का अशुभ उसे पराधीन रखता है अथवा उसका शुभ जागरित होता है। मनुष्य सभ्यता की रक्षा के लिये सभ्यता का आश्रय ग्रहण करता है अथवा अपने विलास - ऐश्वर्य के लिये, अपने भाग और अपनी वासना के लिये सभ्यता

को ही नष्ट कर देता है। आज मानव-जगत् को इसी प्रश्न का उत्तर देना है और उस उत्तर पर ही उसका भविष्यत् निर्भर करता है। गाँधी स्वयं जगत् और मानव-समाज के सम्मुख महान् प्रश्नात्मक चिह्न के रूप मे उपस्थित हुआ है। पर वह न केवल स्वय प्रश्नात्मक चिह्न है, प्रत्युत उक्त प्रश्न का उत्तर भी है। वह जगत् का कल्याण मानव-हृदय की विजय मे देखता है और आज की परिस्थिति को सर्वथा उलट-पुलट देने के लिये नैतिक पद्धति, नैतिक प्रयोग और नीति-सम्मत साधना के रूप मे अवतरित होता है। यही कारण है कि जीवन और जगत् को वह गतिशील द्वन्द्वात्मक 'भौतिकवाद' के प्रकाश मे नहीं देखता वरन् द्वन्द्वात्मक 'जीवनवाद' मे विश्वास करता है। गाँधी का 'गाँधीवाद' वास्तव मे जीवन, मानवसमाज और जगत् का नैतिक भाष्य है।

अहिंसक क्रान्ति की कल्पना

गाँधी जीवन और जगत् को जिस दृष्टि से देखना है उसका उल्लेख गत पृष्ठों मे किया जा चुका है। उसके प्रकाश में आधुनिक जगत् की समस्या का जो कारण प्रतिभासित होता है उसकी चर्चा भी कर आए।

गाँधी का यह विश्वास है कि मानवता के कल्याण के लिए जगत् का आमूल परिवर्तन अपेक्षित है। दुनिया का कल्याण इधर-उधर थोड़ा बहुत रद्दोबदल कर देनेमात्र से नहीं हो सकता। कारण यह है कि आज की व्यवस्था का सारा आधार विषाक्त और जर्जरीभूत हो गया है। जीवन के सामने जो आदर्श स्थापित हो गये हैं, जो वृत्तियाँ और भावनाएँ मनुष्य का सञ्चालन कर रही हैं, जो व्यवस्था और सङ्गठन बना हुआ है, संस्कृति की धारा की जो दिशा है, वह सब जब तक पलट न दी जायगी और उनके स्थान पर नए आदर्श, जीवन का अंकन करने वाले नए मानदण्ड और मनुष्य को उत्प्रेरणा प्रदान करने वाली शक्ति को नई दिशा और नया कलेवर प्रदान नहीं किया जाता तब तक केवल चकत्तियों के लगाने से पतनोन्मुख आज का सांस्कृतिक पट परिवर्तित नहीं किया जा सकता। फलतः गाँधी संसार को संहार की अग्नि से बचाने के लिये, शोषण और निर्दलन से मानवता को मुक्त करने के लिये तथा मानव बर्बरतासे जगती का उद्धार करने के लिये ऐसे सर्वाङ्गीण प्रबल और मौलिक परिवर्तन की आवश्यकता समझता है जो जीवन, समाज और संस्कृतिके मूलधार को ही बदल दे। यही कारण है कि हम आज की सारी दुनिया और उस पर छाई हुई आज की संस्कृति के समस्त उपादान के विरुद्ध गाँधी को सजीव मूर्त्त विद्रोह के रूप में प्रस्तुत पाते हैं। उसकी विचारधारा आधुनिक मानव-समाज के सम्मुख उप-

स्थित हुए भ्रष्टादर्शों के विरुद्ध सतेज क्रान्ति-प्रवाह है, जो सात्विक
उद्घोष और सात्विक संघर्ष के द्वारा मनुष्य को अपनी दृष्टि पर पड़े
मलिन मोह के आवरण को फाड़ फेंकने के लिए उत्प्रेरित कर रहा है।

जगत् को परिवर्तित करने की आवश्यकता और वाञ्छनीयता मे
आज कहाँ मतभेद नहीं है। सब अनुभव कर रहे हैं कि वर्तमान
स्थिति चलने वाली नहीं है। कोई वाद हो अथवा विचार, नेता हो या
मनीषी सब यह स्वीकार करते हैं कि जब तक आज की अवस्था और
व्यवस्था में, मनुष्य और उसकी कार्यपद्धति में आवश्यक परिवर्तन
नहीं किया जाता तब तक हमारा सांस्कृतिक शकट आगे नहीं बढ़ता।
आगे बढ़ना तो दूर रहा उसके प्रत्यावर्तन का भय भी उत्पन्न हो गया
है। परिवर्तन की यह आवश्यकता और आकांक्षा इतिहास की कोई
नयी घटना नहीं है। परिवर्तन जीवन का धर्म है, क्योंकि उसी में
विकास का स्रोत सन्निहित है। जीवन और समाज की गति के साथ
स्थिति बदलती है और नवीन आवश्यकताएँ उत्पन्न होकर नवीन व्यव-
स्थाओं की माँग करती हैं। इतिहास सरिता के अविरल प्रवाह मे इसी
प्रकार सांस्कृतिक तरंगे उठती और विलीन होती रहती हैं। उत्थान
और विलय की इस क्रिया में पतन के साथ उत्थान की चेष्टा मे ही
जीवन की रक्षा संभव है। इसके विपरीत निश्चेष्टता मे उसका विलोप
निश्चित है। इसी कारण परिवर्तन की चेष्टा मानव-समाज के जीवन
को बनाए रखने के लिये बहुधा संजीवनी सिद्ध होती रही है।

अवसर आया है जब मनुष्य ने अपनी दुनियाँ को बदलने के लिये
महाप्रयास किया है। आज भी स्थिति कुछ वैसी ही है। जीवन की
तुला बुरी तरह डगमगा गयी है और जगत् की अवस्था से किसी को
संतोष नहीं है। वह वर्ग भी जो आज की व्यवस्था से परिपोषित है
और जिसका स्वार्थ उसी मे स्थिर है, वर्तमान जगत् की आवश्यकता
के अनुकूल रद्दोबदल करने की बात सोचने लगा है। पर वह आव-

श्यकता क्या है जिसके लिये वर्तमान जगत् में परिवर्तन इष्ट समझा जा रहा है स्थूल रूप से कह सकते हैं कि मानव-समाज हिंसा, रक्तपात तथा आक्रमणशीलता से आक्रान्त है। शोषण, अन्याय, अत्याचार पराधीनता और दैन्य से मानवता त्रस्त है। इन प्रवृत्तियों का उत्पात इतना बढ़ गया है कि मनुष्य के लिये अब उनकी उपेक्षा करना सम्भव नहीं रहा। यों तो मनुष्य की हिंसा-प्रवृत्ति, रक्त-पिपासा, दूसरे पर प्रभुता स्थापित करने की इच्छा, आक्रमण-शीलता और स्वार्थ-पूजा की भावना सदा मनुष्य के साथ ही लगी रहती है। पर सदा उसने इनकी उग्रता, गुरुता और सीमा को घटाते जाने की चेष्टा में ही जीवन की उन्नति और मानवता का गौरव देखा है। यह सत्य है कि अब तक मनुष्य कभी इनका सम्पूर्ण उन्मूलन न कर सका, पर कभी किसी युग में उसने हिंसा और आक्रमणशीलता को स्वयमेव उचित अथवा अपने आदर्श के रूप में ग्रहण नहीं किया।

सदा से मनुष्य ने मनुष्य का दलन किया है, शोषण और शासन किया है, साम्राज्यों का विस्तार करके जन-समूह की स्वतन्त्रता अपहृत की है, पर यह सब किया गया है मानवता के कल्याण के नाम पर। अशान्ति मिटे, हिंसा का लोप हो, मत्स्यन्याय न चलने पावे, दुर्बल की रक्षा हो और मनुष्य पशुता से दूर किया जा सके, यही लक्ष्य उपस्थित किया जाता रहा है। तात्पर्य यह कि हिंसा या रक्तपात तथा आक्रमणशीलता का आश्रय ग्रहण किया जा रहा है यह कह कर कि उसके द्वारा अहिंसा, सुख और कल्याण का साधन करना ही लक्ष्य है। आज भी हम वही स्थिति पाते हैं। हिंसा और आक्रमणकारिता की सजीव प्रतिमा आधुनिक नाजीवाद भी यह कहते हुए मानव-रक्त का पान करने में संलग्न होता है कि वह धरित्री को हिंसा से मुक्त करना चाहता है। उसकी दृष्टि में जगत् संकटापन्न है उन राष्ट्रों की गुट को प्रभुता से जो अपने स्वार्थ के लिए संसार पर अपना अधिकार बनाए रखना चाहते हैं। उनकी दुष्टता के फलस्वरूप संसार में युद्ध की आग भड़कती रहती

है। हिटलर कहते हैं कि मैं यह स्वीकार करने के लिये तय्यार नहीं हूँ कि कुछ राष्ट्रों को ईश्वर का यह आदेश प्राप्त है कि वे पहले शस्त्र के बल पर जगत् को अपने अधीन कर लें और फिर नैतिक सिद्धान्तों का राग अलाप कर इस डॉकेजनी की रक्षा करें। पूजीवादी लोकतन्त्रात्मक राज्य युद्ध लोलुप हैं जो शान्ति और व्यवस्था के पुजारी जर्मनों के लिये भयावने खतरे हैं।

वह आगे कहता है कि "धुरी राष्ट्रों का सघ समस्त यूरोप को, शान्ति और सस्कृति के शत्रुओं की आसुरी प्रभुता से मुक्त करने के लिये है।" यदि पूंजीवादी लोकतन्त्रात्मक साम्राज्यवादी राष्ट्रों पर दृष्टिपात कीजिए तो आप पावेंगे कि वे भी सारी हिंसा और अपनी पशुता तथा आक्रमणशीलता को साधन समझते है जगत् को हिसा और अशान्ति से मुक्त करने का। चर्चिल के शब्दों में "मनुष्य स्वतन्त्र हो, समानता और बन्धुत्व की पताका फहराए, जगत् से अशान्ति और दलन मिट जाय तथा सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना हो"—यही मित्र राष्ट्रों का एकमात्र लक्ष्य है। जगत् को शान्ति की आवश्यकता है इसे सब स्वीकार करते हैं। हिंसा, युद्ध, अन्याय और शोषण मिट जाय तथा स्वतन्त्रता और न्याय की स्थापना हो यही सब का उद्घोषित लक्ष्य है। वे भी इसी लक्ष्य की दुहाई देते हैं, जिनका स्वार्थ आज की व्यवस्था में सन्निविष्ट है और जो स्वय हिंसा तथा अशान्ति के मूर्तिमान स्वरूप है। आज इस आवश्यकता की पूर्ति के लिये उचित उपायों की खोज का प्रश्न जगत् के सामने सजीव रूप में उठ खड़ा हुआ है। जैसा कि पूर्व की पंक्तियों में कह चुका हूँ, हिंसा और रक्तपात करते हुए मनुष्य ने कभी उन्हें अपना आदर्श स्वीकार नहीं किया, पर आज तो स्थिति कुछ और जटिल हो गयी है। जिस प्रकार मनुष्य की शक्तिवृद्धि हुई है, उसमें हिंसा और विनाश करने की उसकी क्षमता भी अकल्पित रूप से बढ़ गयी है। चाहे किसी लक्ष्य के लिये क्यों न हो हिंसा का आश्रय ग्रहण करना भयावह हो गया है और यदि उसकी धारा का अवरोधन

नहीं किया जाता तो पृथ्वी मानव से हीन हुई दिखाई देगी। यही कारण है कि जगत् को आज शान्ति और युद्ध से, दलन तथा शोषण से अन्याय तथा पराधीनता से पूर्णत मुक्त करना मानव-समाज के अस्तित्व की रक्षा के लिये आवश्यक हो गया।

इस आवश्यकता की पूर्ति के लिये जगत् की व्यवस्था मे परिवर्तन इष्ट समझा जाने लगा है। आज इतिहास की यही माँग है कि समाज की गति के अनुसार उसकी जो नयी आवश्यकता उत्पन्न हो गयी है, उसे पूरा करने के लिये अनुकूल-परिवर्तन किया जाय। यूरोप में 'मार्क्सवाद' का जन्म इसी परिवर्तन की पुकार का प्रतीक है। वह ऐसे विश्व विद्रोह की कल्पना करता है, जिसमे वर्ग प्रभुता मिट जाय, और जगत् मे वर्गहीन समाज की स्थापना हो जाय। वह समझता है कि शोषण या पराधीनता, हिंसा या रक्तपात, भूमण्डल की सारी अव्यवस्था और उत्पीडन के मूल मे आधुनिक जगत् की वह व्यवस्था है, जिसने उत्पादन के सारे साधनो पर पूंजीवादी अनुत्पादक वर्ग की प्रभुता स्थापित कर दी है। इस विश्वविद्रोह के लिये उनकी अपनी पद्धति है और अपनी विशेष प्रक्रिया है। पर परिवर्तन की माँग मार्क्सवाद के समान विद्रोहिणी विचारधारा तक ही परिमित नहीं है। यदि सावधानी के साथ देखा जाय तो स्वय पूँजीवादी अथवा जगत् का प्रभुवर्ग भी यह समझने लगा है कि उसे अपनी व्यवस्था मे परिवर्तन किए बिना अपने अस्तित्व की रक्षा करना असम्भव हो जायगा।

'फासिटीवाद' या नाजीवाद' भी वर्तमान व्याख्या के प्रति प्रचण्ड विद्रोही ही है, यद्यपि उसकी धारा मूलतः प्रतिगामिनी तथा पाशविक है। 'लोकतन्त्रवादी' पूजीपति राष्ट्र भी यह अनुभव कर रहे हैं कि उन्हें अपने में परिवर्तन करना ही होगा अन्यथा मिट जाने का खतरा उठाना पड़ेगा। इस भावना का परिचय अमेरिका के रूजवेल्ट के उस प्रयोग मे प्रदर्शित है जो 'न्यूडील' के नाम से विख्यात है। पूंजीवादी लोकतन्त्रात्मक राष्ट्रो मे आयोजित अर्थनीति तथा 'राज्याधीन पूँजीवाद'

(स्टेट कैपिटलिज्म) की जो प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो रही है, तथा किसी न किसी प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय विश्व-सघ की स्थापना करके एक सीमा-तक राष्ट्रीय सरकारों के अक्षुण्ण अधिकार का समर्पण करके भी राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्ध तथा सहयोग की जो मॉग की जाने लगी है, वह उस अपेक्षित परिवर्तन की इच्छा का ही द्योतक है। अवश्य ही यह प्रवृत्ति वर्गप्रभुता तथा आधुनिक अवस्था को बनाए रखकर केवल उसके लिए उठे खतरों को टालने के भाव से ही उत्प्रेरित है। इन सब के सिवा यूरोप के अनेक अन्यवादों का भी उल्लेख किया जा सकता है जो आज के जगत् के रद्दोबदल इष्ट समझते हैं।

फलत जगत् को बदलने की इच्छा चतुर्दिक् दिखाई देती है। यद्यपि कोई किसी एक दृष्टि से परिवर्तन की इच्छा करता है और कोई किसी दूसरे से। इसी प्रकार परिवर्तन की प्रक्रिया को चरितार्थ करने के लिये सबकी अपनी-अपनी पद्धति है, जो मूलत. और स्वरूपत परस्पर विषम है। बापू भी मौलिक परिवर्तन का इच्छुक है पर उसकी दृष्टि और पद्धति उपर्युक्त सबसे भिन्न है। वह परिवर्तन चाहता है इसलिये कि वसुन्धरा की गोद में पालित मानव स्वत. मनुष्य की प्रभुता और उसके उत्पीड़न, उसकी निर्ममता तथा निर्दलन से मुक्त हो। वह परिवर्तन इसलिये भी चाहता है कि धरती सघर्ष तथा सहार की लीला से त्राण पा जाय और मनुष्य उस विकास के पथ पर अग्रसर हो सके जिस पर बढ़ना प्रकृति द्वारा निर्धारित विधान है। नव जगत् की रचना के लिये वह जो आधार उपस्थित करना चाहता है वह अभिनव है और परिवर्तन की प्रक्रिया के लिये जिस पद्धति को लेकर सामने आता है वह भी अपने ढङ्ग की अनोखी है।

गॉधी जिस नये आधार और नई पद्धति को सामने रखता है, उसकी विवेचना करना इन पक्तियों का लक्ष्य है। वह जगत् का सारा जीवन और मानव-समाज की सारी संस्कृति को अहिंसा के आधार पर स्थापित करने का लक्ष्य उपस्थित करता है और उस लक्ष्य की पूर्ति

के लिये अहिंसात्मक पद्धति का प्रयोग करना चाहता है। गाँधी यह विश्वास नहीं करता कि आधुनिक सांस्कृतिक भवन के किसी खण्ड विशेष में कुछ सुधार, कुछ परिवर्तन, कुछ मरम्मत कर देने मात्र से मानवता की समस्या हल हो जायगी। वह यह समझता है कि आधुनिक भवन जिस नींव पर खड़ा किया गया है और जिन उपादानों से उसका निर्माण हुआ है, वे मूलतः विषमय और दोषपूर्ण हैं; अतः इधर-उधर के हेर-फेर से काम नहीं चल सकता। आवश्यकता इस बात की है कि नए संसार का निर्माण नए सिरे से किया जाय। वह विश्व की कल्पना भौतिक यन्त्र के रूप में नहीं अपितु नैतिक यन्त्र के रूप में करता है और यह मानता है कि भव प्रपञ्च का सञ्चालन करने के लिये नैतिक विधान स्थापित है। इस स्थिति में गाँधी यह सम्भव नहीं समझता कि असत्य और अशिव, अनैतिक तथा अशुभ, हिंसा तथा पशुता की अर्चना करते हुए आप शुभ तथा आनन्द और नीति का उपभोग कर सकें। नैतिक विधान का स्थूल रूप यही है कि जैसा कीजिएगा वैसा फल भोगने के लिए बाध्य होना होगा।

यदि मानव-समाज पतन का मार्ग ग्रहण करना वाञ्छनीय समझता है, तो फिर अभ्युदय की आशा करना ही वृथा है, यदि वह कल्याण और सुख तथा निःश्रेयस का इच्छुक है तो उसे तदनुकूल उस नैतिक पथ का अवलम्बन करना ही होगा जिसपर चलकर वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। हिंसा और रक्तपात से त्रस्त जगत् का उद्धार करने के लिये यह आवश्यक है कि हिंसा और रक्तपात का विलोप किया जाय, पर स्मरण रखना चाहिए कि जिस संस्कृति, जिस जीवन, जिस समाज और जिस विधान तथा व्यवस्था की स्थापना हिंसा और रक्तपात पर ही की गयी हो, वह सिवा हिंसा और रक्तपात के और सर्जन ही किसका करेगी? विज्ञान के 'भौतिकवाद' और 'यन्त्रवाद' ने जिस 'भोगवाद' का प्रजनन कर दिया है, उसका अनिवार्य परिणाम मनुष्य की वासना का उद्दीपन कर देना हुआ है। कामना की आग में जलने

वाले मनुष्य के सामने कामना पूर्ति को ही जीवन का एकमात्र आदर्श स्थापित करके और कामनाओं की पूर्ति के लिये अभिनव, उन्नत तथा अत्यधिक उपयोगी साधनों को प्रदान करके विज्ञान ने जिस मनुष्य, जिस जगत् और जिस संस्कृति का निर्माण किया है, वह आज कामना, उसके उपभोग और उसकी परितृप्ति के सिवा दूसरा सत्य ही नहीं देख रही है।

पर वह इस सत्य को नहीं देख रही है कि वासनाओं का परिशमन विवेक हीन उन्मत्त भोग में कभी हो ही नहीं सकता। भोग के द्वारा उसकी पूर्ति की चेष्टा मरुस्थल को चुल्लू में पानी उलीच कर सींचने के समान ही व्यर्थ है। वह तो अग्नि है जो केवल भोग से ही होती चलती है। मनुष्य वासना की तृप्ति में संलग्न होता है सुख की इच्छा से, पर अन्त करता है उसके द्वारा दुःख निवारण की चेष्टा करते हुए।

मनुष्य सुखानुरागी होता है; पर वासनापूर्ति को ही सुखानुभूति का साधन स्वीकार कर लेने के कारण आवश्यक हो जाता है कि नयी-नयी वासनाओं का प्रजनन किया जाय, जिससे उनकी पूर्ति करके सुख की अनुभूति की जा सके। फलत: इच्छाओं को बढ़ाते जाना अनिवार्य हो जाता है जिसके फलस्वरूप यह दावाग्नि चतुर्दिक् व्याप्त हो जाती है।

'कामनावाद' का यह स्वरूप इतना साधारण, स्पष्ट और अनुभव-गम्य है कि इसके सम्बन्ध में विशेष मतभेद की गुंजाइश नहीं है। सीधी सी बात है कि निरङ्कुश और उच्छृङ्खल भोग-प्रवृत्ति मनुष्य को मोहित करने का कारण होती है जो बुद्धि-नाश के साथ साथ पशुता की ओर उसका प्रत्यावर्तन कर देती है। सुख की कल्पना जब केवल स्वार्थ-साधन और वासनापूर्ति में परिसीमित हो जाय, तो जीवन का हिंसा पर आश्रित हो जाना भी अनिवार्य है। आज हम जगत् में इसी की लीला देखते हैं। मनुष्य मनुष्य के स्वार्थ का टकराना अनिवार्य है और ज्यों ही यह हुआ कि हिंसा का उद्भव स्वार्थ की पूर्ति के

लिये और फिर हिंसा के लिये प्रतिहिंसा आवश्यक हो जाती है। आज व्यक्ति का ही नहीं प्रत्युत राष्ट्रों का जीवन इसी आधार पर आश्रित है। सारी संस्कृति जो मुख्यतः यान्त्रिक सभ्यता के रूप में मूर्त्त हुई है, हिंसा पर ही अवलम्बित है। इसी कारण गाँधी यह मानता है कि कामनाओं की पूर्ति की प्रवृत्ति का अन्त हिंसा मे होना अनिवार्य है और हिंसा से आपन्न जीवन तथा जगत् पाशविक हुए विना बाकी नहीं रह सकता है। गाँधी इस सारी स्थिति और मनोदशा का परिवर्तन चाहता है। हिंसा की प्रवृत्ति का समूल उन्मूलन कदाचित् सम्भव न हो पर गाँधी की दृष्टि में इतना स्पष्ट है कि जीवन में अहिंसा भी उसी प्रकार निसर्गत आसीन है, जिस प्रकार हिंसा की प्रवृत्ति। उसकी दृष्टि में यह भी स्पष्ट है कि मनुष्य की मनुष्यता क्रमश हिंसा की सीमा को सङ्कुचित करती हुई और अहिंसक भावना को विकसित करती हुई आगे बढ़ी है। मानव जीवन का आदर्श पूर्ण अहिंसा की प्राप्ति मे ही है; क्योंकि मनुष्य की पूर्णता विराट् से तादात्म्य की संसिद्धि में है; जब वह विश्व के कण-कण मे किसी एक ही वास्तविक सत्ता के प्रतिविम्ब का दर्शन करने लगता है। इस तर्क में कोई बल नहीं है कि विशुद्ध आदर्श की उपलब्धि पूर्णता में कभी सम्भव नहीं होती। जीवन का धर्म केवल इतना ही है कि वह आदर्श की ओर बढ़ता चले। उस दिशा की ओर प्रत्येक पग बढ़ने मे ही उसकी सार्थकता है। गाँधी की दृष्टि मे लक्ष्य ही सत्य है, अत वह कहता है कि "अहिंसा सत्य है और सत्य ही अहिंसा है"।

प्रश्न किया जा सकता है कि गाँधी की अहिंसा का तात्पर्य क्या है, स्वरूप क्या है, जिसे वे जगत् की व्यवस्था तथा संस्कृति का आधार बनाना चाहते हैं। साधारण दृष्टि से अहिंसा का अर्थ जीव हिंसा से विरति मे ही समझा जाता है। पर बापू की अहिंसा की कल्पना अत्यन्त व्यापक है। उसकी अहिंसा का अर्थ जीवहिंसा से विरति मे ही समाप्त नहीं होता। वह अहिंसा का उच्चारण करता है शब्द प्रतीक

के रूप में जिसमे जीवन और जगत् के प्रति उसका सारा दृष्टि-कोण तथा दर्शन भरा हुआ है। उसकी अहिंसा न सामान्य शब्द है और न अपने साधारण अर्थमात्र में परिमित है। गाँधी की अहिंसा-कल्पना मे अवैर और अद्वेष की परम साधना भी है। अवैर की साधना का अर्थ अहं के ममत्व का अधिकाधिक विसर्जन है। अवैर वस्तुत. मानव की एक मनोदशा है जो अह के ममत्व के साथ-साथ चल ही नहीं सकती। जिस सीमा तक मनुष्य अह का सकोच करने में समर्थ होगा, उसी सीमा तक वैर-वृत्ति का परिशमन कर सकेगा। स्वार्थ का स्रोत तो अह मे ही है। उसी से वे समस्त प्रवृत्तियाँ फूलती-फलती हैं जो मनुष्य को अपने ही सुख और अपनी ही प्रभुता की स्थापना के लिये अग्रसर करती है। अह की उपासना में रत मानव स्वभावत अपनी प्रवृत्तियों की पूर्ति के लिये बल का प्रयोग करेगा, क्योंकि बिना उसके न उनकी उपलब्धि सभव है और न उपलब्ध विभूति की रक्षा ही सम्भव है। फलतः अपने स्वार्थ के लिये, अह की तृप्ति के लिये जिस वैर-भाव का सर्जन होता है, वह बल का आश्रय ग्रहण करके निर्दलन और उत्पीड़न का कारण हो जाता है। बापू की अहिंसा में इसी कारण अह की सीमा का अधिक से अधिक विसर्जन भी निहित है। यह प्रवृत्ति मानव-जीवन के लिये विजातीय नहीं है। अह के क्रमिक लय पर ही परिवार, परिवार से समाज, और समाज से राष्ट्रों की रचना होती रही है। मनुष्य अपनेपन की, अपने स्वार्थ की और अपने 'मैं' की भावना को इस प्रकार विस्तृत करने मे समर्थ होता रहा है कि उसके 'मैं' मे उसका परिवार, समाज और देश समाता रहा है। गाँधी की अहिंसा अह के अधिकाधिक लय की उसी प्रवृत्ति को लेकर आगे बढ़ती है।

पर अह के लय की ओर मनुष्य का प्रथम पग यही है, तथा उसका व्यावहारिक और प्रत्यक्ष रूप भी यही है कि वह एकमात्र अपने सुखोपभोग और अपने स्वार्थ की कल्पना को यथासम्भव कम

करता चले और दूसरे के सुख, उसकी सुविधा तथा उसके अधिकार का ध्यान अधिकाधिक रखने की चेष्टा करे। कामनाओं के संयम और त्याग से ही पर की चिन्ता सम्भव है। अहिंसा का पूर्णादर्श वही है, जब सम्पूर्ण कामनाओं का त्याग करके मानव राग द्वेष से विमुक्त हो जाय और अपने को जगत् में लय कर दे। उसी स्थिति में "निर्वैर सर्वभूतेषु" की अवस्था प्राप्त होती है और वही पूर्ण अहिंसा की अवस्था है। यदि आदर्श की बात छोड़ भी दें तो भी अहिंसा की ओर अभिगमन का प्रथम पग कामनाओं का नियमन और क्रमशः उनका त्याग करते जाना ही है। कामनाएँ तो अहं की प्रबलता और उसके केन्द्रीकरण के ही परिणाम हैं। संक्षेप में कह सकते हैं कि उनके संयम से अहं-ममत्व का संयम होता है और अहं के क्रमिक लय से ही अहिंसक वृत्ति का उदय सम्भव होता है। मानव की स्वार्थ वृत्ति जैसे-जैसे कम होगी वैसे-वैसे उसका परार्थ उद्बुद्ध होगा, उसके 'स्व' की सीमा विस्तृत होती चलेगी और मानव पर के दुःख सुख और अधिकार सुविधा का अधिकाधिक विचार और पोषण करता चलेगा। स्पष्ट है कि मानव-वृत्ति के इस उदय के साथ मनुष्य द्वारा मनुष्य का उत्पीड़न, शोषण, शासन, निर्दलन और अधिकारापहरण सम्भव नहीं है। यह सब उपसर्ग हैं अहं पूजा और 'कामनावाद' के। मनुष्य जब अपनी वासना की अग्नि प्रज्वलित करता है, तब उसकी हिंसा-वृत्ति जागरूक होती है। एक ओर दूसरों का निर्दलन होगा और दूसरी ओर भय, त्रास, तथा अपनी रक्षा के लिये अथवा उसी प्रकार अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये उपर्युक्त उपायों का अवलम्बन होगा। एक दिन अवस्था ऐसी उत्पन्न होती है जब व्यक्ति, समूह या वर्ग को अपने स्वार्थों की पूर्ति और रक्षा के लिये हिंसा को स्थायित्व प्रदान करना पड़ता है, उसे अपनी शक्ति को अधिकाधिक बढ़ाते जाना पड़ता है; क्योंकि दूसरे के अपेक्षाकृत अधिक बली हो जाने का खतरा सतत उपस्थित रहता है। इस दुश्चक्र से ग्रसित जीवन, समाज और जगत

अपने ही द्वेष और अपनी ही हिंसा से ग्रस्त होता चलेगा। स्वजाति-शत्रुत्व और अपनी ही दुनिया का अपने हाथों विनाश और अन्त में मनुष्य द्वारा मनुष्य का रक्तपान अनिवार्य हो जाता है। हिंसा ही इस स्थिति में संस्कृति का आधार और उसकी रक्षा का एकमात्र उपाय रह जाती है और वही उसके विनाश का कारण भी होती है।

फलत गाँधी की अहिंसा का अर्थ एकमात्र जीवहिंसा न करना ही नहीं है, प्रत्युत कामनाओं और वासनाओं का परित्याग करते हुए अपने अहं को जगत् के हित के साथ यथासम्भव लय करते जाना भी है। इस दृष्टिकोण और भाव को लेकर मानव जीवन का पुनर्निर्माण करना, अहिंसा के आधार पर उसकी स्थापना करना है। उसके लिये मनुष्य की आधुनिक सुख सम्बन्धी कल्पना तक को बदल देना पड़ेगा। अपनी पूजा में नहीं, पर दूसरों के सम-अधिकार, हित और स्वार्थ की रक्षा में ही जीवन का सुख मानने की वृत्ति उत्पन्न करनी होगी। यही गाँधी की अहिंसा का स्वरूप है। इसके विपरीत उनकी दृष्टि में हिंसा का अर्थ केवल जीवहिंसा करना नहीं है, वरन् वे सारे भाव और वे दृष्टिकोण, जिनके अनुसार मानव का अहं जागरित हो, कासनाओं की आग जले, अपने स्वार्थ की पूजा में ही जीवन की प्रयोजनता स्वीकार की जाय तथा हिंसा का आश्रय ग्रहण करके इस प्रयोजनता की पूर्ति करना आवश्यक समझा जाय और उसके आधार पर शोषण, शक्ति-पूजा तथा उत्पीड़न को स्थायी कर दिया जाय, हिंसा ही है। इस पृष्ठभूमि में जिस व्यवस्था, समाज और संस्कृति की रचना हुई हो वह बापू की दृष्टि में हिंसा पर ही अवलम्बित है। इसका निराकरण करके गाँधी अहिंसा को नव जगत् की रचना का आधार बनाना मानवता के कल्याण का एकमात्र उपाय समझता है। उक्त वृत्ति के द्वारा मनुष्य का संस्कार करके जिस संस्कृति और व्यवस्था का निर्माण किया जायगा उसमें, उसके मतानुसार हिंसा की आवश्यकता न रहेगी। फलतः हिंसा के साधनों

का क्षय होगा और उत्पीड़न, शोषण तथा दासता, हिंसा, युद्ध एवं रक्तपात का अन्त होगा। उसी स्थिति में मानवता मनुष्य के ही कराल त्रास से मुक्त होती दिखाई देगी।

बापू की पद्धति के केन्द्र में यही अहिंसा सौर मण्डल में स्थित भास्कर की भाँति प्रतिष्ठित है। इसी को लेकर गाँधी की विचार-पद्धति तथा कार्य-पद्धति अग्रसर होती है। 'गाँधीवाद' अहिंसा के क्रमिक विकास की पद्धति है, जो उसी के आधार पर नव जगत् और नव समाज तथा जीवन की रचना के लिये प्रयोग के रूप में प्रस्तुत है। अपनी इस नयी दृष्टि को लेकर गाँधी जगत् के सांस्कृतिक आधार को बदलना चाहता है, जीवन की आधुनिक दशा को उलट देना चाहता है और हिंसा के स्थान पर अहिंसा की प्रतिष्ठा करना चाहता है। वह अहं के 'सुखवाद' और ऐहिक भोगों की लिप्सा के स्थान पर दूसरे के प्रति अपने कर्तव्य के पालन और प्राणिमात्र के प्रति प्रेम में जीवन के चरम उत्कर्ष तथा जगत् के कल्याण का रहस्य देखता है। इस प्रकार आधुनिक 'पशुवाद' के स्थान पर 'मानववाद' की प्रतिष्ठा करना चाहता है। जब तक यह नहीं होता मनुष्य की विकास-यात्रा कुंठित रहेगी।

तात्पर्य यह कि उपर्युक्त नये आधार पर नयी दुनिया की स्थापना करके उसके सम्मुख नए मानवीय आदर्शों को प्रतिष्ठित करना गाँधी का लक्ष्य है। पर इस नयी व्यवस्था को जन्म प्रदान करने के लिये ऐसी महती क्रान्ति की आवश्यकता है, जो आज के जगत् को ऊपर से नीचे तक परिवर्तित कर दे। जगत् के लिये आदर्शों की कल्पना करनेवाले सभी महान् व्यक्तियों के लिये अपनी कल्पना को साकाररूप प्रदान करना बिना जगत् का परिवर्तन किए संभव नहीं दिखाई देता। इतिहास के अनेक युगों में महती क्रान्तियों का प्रजनन इसी कारण होता रहा है। गाँधी भी अपनी कल्पना और अपने आदर्शों को सजीव तथा सक्रिय रूप देने के लिये आधुनिक स्थिति, व्यवस्था और वाता-

वरण में उलट-पुलट अपेक्षित समझ रहा हो तो कोई आश्चर्य नहीं। पर प्रश्न यह है कि इष्ट परिवर्तन की प्रक्रिया किस प्रकार सम्पादित की जा सकती है?

गाँधी के पास उक्त प्रश्न का अपना विशेष उत्तर है। वह समझता है कि जगत् का स्थायी, मौलिक और सर्वाङ्गीण परिवर्तन उसी स्थिति में सम्भव है, जब स्वयं मनुष्य परिवर्तित कर दिया जाय। मनुष्य ही वह आधारभूत तत्त्व है, जिस पर जगत् की सारी व्यवस्था आश्रित है। मनुष्य का आन्तरिक भाव मुख्य स्रोत है जिससे जीवन की सारी सक्रियता निर्गत होती है। व्यवस्थाएँ तो यन्त्रमात्र हैं जो स्वय-मेव जड हैं। उनमे प्राण-सचार करने वाला मनुष्य ही होता है, जो उनका उपयोग करता है और उसके द्वारा अपने अंतर्लोक को बाहर लाकर स्थापित कर देता है। फलत: यदि भीतर का पशु बोल रहा हो तो बाहर की उत्कृष्ट व्यवस्था भी पाशव ही होकर रहेगी। महान् सिद्धान्तो और उज्वल आदर्शों का उल्लेख करने से अथवा वाग्जाल की रचना करनेमात्र से मानवता की समस्या तबतक नहीं सुलझ सकती जब तक मनुष्य का अन्तर सत्वाभिभूत नहीं होता। आज की दुरवस्था का कारण भी गाँधी जी की दृष्टि मे वह अनैतिकता और अमानवता ही है जिसका जन्म मनुष्य के हृदय मे ही होता है। यदि इनके लोप से ही जगत् का कल्याण होना संभव है तो मनुष्य के हृदय का परिवर्तन ही अपेक्षित है। शांति, स्वतन्त्रता, समता और न्याय की स्थापना भी उसी स्थिति मे सभव है, जब मनुष्य की सहज नैतिक प्रवृत्ति जागरित हो। स्पष्ट है कि ये वे नैतिक आदर्श हैं जिनका आधार मनुष्य का अतर है। जब तक उसका जागरण नहीं होता तब तक न इनकी उपलब्धि हो सकती है और न प्रस्ताव स्वीकार कर देनेमात्र से उनको व्यावहारिक रूप प्रदान किया जा सकता है। यही कारण है कि गाँधी मनुष्य के परिवर्तन में ही जगत् का सार्थक परिवर्तन देखता है। वह यह नहीं स्वीकार करता कि मनुष्य जड़ भूतों का पुतला अथवा

का क्षय होगा और उत्पीड़न, शोषण तथा दासता, हिंसा, युद्ध एवं रक्तपात का अन्त होगा। उसी स्थिति मे मानवता मनुष्य के ही कराल त्रास से मुक्त होती दिखाई देगी।

बापू की पद्धति के केन्द्र में यही अहिंसा सौर मण्डल में स्थित भास्कर की भाँति प्रतिष्ठित है। इसी को लेकर गाँधी की विचार-पद्धति तथा कार्य-पद्धति अग्रसर होती है। 'गाँधीवाद' अहिंसा के क्रमिक विकास की पद्धति है, जो उसी के आधार पर नव जगत् और नव समाज तथा जीवन की रचना के लिये प्रयोग के रूप मे प्रस्तुत है। अपनी इस नयी दृष्टि को लेकर गाँधी जगत् के सांस्कृतिक आधार को बदलना चाहता है, जीवन की आधुनिक दशा को उलट देना चाहता है और हिंसा के स्थान पर अहिंसा की प्रतिष्ठा करना चाहता है। वह अह के 'सुखवाद' और ऐहिक भोगों की लिप्सा के स्थान पर दूसरे के प्रति अपने कर्तव्य के पालन और प्राणिमात्र के प्रति प्रेम में जीवन के चरम उत्कर्ष तथा जगत् के कल्याण का रहस्य देखता है। इस प्रकार आधुनिक 'पशुवाद' के स्थान पर मानववाद' की प्रतिष्ठा करना चाहता है। जब तक यह नहीं होता मनुष्य की विकास-यात्रा कुंठित रहेगी।

तात्पर्य यह कि उपर्युक्त नये आधार पर नयी दुनिया की स्थापना करके उसके सम्मुख नए मानवीय आदर्शों को प्रतिष्ठित करना गाँधी का लक्ष्य है। पर इस नयी व्यवस्था को जन्म प्रदान करने के लिये ऐसी महती क्रान्ति की आवश्यकता है, जो आज के जगत् को ऊपर से नीचे तक परिवर्तित कर दे। जगत् के लिये आदर्शों की कल्पना करनेवाले सभी महान् व्यक्तियों के लिये अपनी कल्पना को साकाररूप प्रदान करना बिना जगत् का परिवर्तन किए सभव नहीं दिखाई देता। इतिहास के अनेक युगों मे महती क्रान्तियों का प्रजनन इसी कारण होता रहा है। गाँधी भी अपनी कल्पना और अपने आदर्शों को सजीव तथा सक्रिय रूप देने के लिये आधुनिक स्थिति, व्यवस्था और वाता-

वरण मे उलट-पुलट अपेक्षित समझ रहा हो तो कोई आश्चर्य नहीं। पर प्रश्न यह है कि इष्ट परिवर्तन की प्रक्रिया किस प्रकार सम्पादित की जा सकती है ?

गाँधी के पास उक्त प्रश्न का अपना विशेष उत्तर है। वह समझता है कि जगत् का स्थायी, मौलिक और सर्वाङ्गीण परिवर्तन उसी स्थिति में सम्भव है, जब स्वय मनुष्य परिवर्तित कर दिया जाय। मनुष्य ही वह आधारभूत तत्त्व है, जिस पर जगत् की सारी व्यवस्था आश्रित है। मनुष्य का आन्तरिक भाव मुख्य स्रोत है जिससे जीवन की सारी सक्रियता निर्गत होती है। व्यवस्थाएं तो यत्रमात्र है जो स्वय-मेव जड़ हैं। उनमे प्राण-सचार करने वाला मनुष्य ही होता है, जो उनका उपयोग करता है और उसके द्वारा अपने अंतर्लोक को बाहर लाकर स्थापित कर देता है। फलत. यदि भीतर का पशु बोल रहा हो तो बाहर की उत्कृष्ट व्यवस्था भी पाशव ही होकर रहेगी। महान् सिद्धान्तो और उज्वल आदर्शों का उल्लेख करने से अथवा वाग्जाल की रचना करनेमात्र से मानवता की समस्या तबतक नहीं सुलझ सकती जब तक मनुष्य का अन्तर सत्वाभिभूत नहीं होता। आज की दुरवस्था का कारण भी गाँधी जी की दृष्टि मे वह अनैतिकता और अमानवता ही है जिसका जन्म मनुष्य के हृदय मे ही होता है। यदि इनके लोप से ही जगत् का कल्याण होना संभव है तो मनुष्य के हृदय का परिवर्तन ही अपेक्षित है। शांति, स्वतत्रता, समता और न्याय की स्थापना भी उसी स्थिति मे सभव है, जब मनुष्य की सहज नैतिक प्रवृत्ति जागरित हो। स्पष्ट है कि ये वे नैतिक आदर्श हैं जिनका आधार मनुष्य का अतर है। जब तक उसका जागरण नहीं होता तब तक न इनकी उपलब्धि हो सकती है और न प्रस्ताव स्वीकार कर देनेमात्र से उनको व्यावहारिक रूप प्रदान किया जा सकता है। यही कारण है कि गाँधी मनुष्य के परिवर्तन में ही जगत् का सार्थक परिवर्तन देखता है। वह यह नहीं स्वीकार करता कि मनुष्य जड़ भूतों का पुतला अथवा

पशु-प्रवृत्तियों द्वारा संचालित यन्त्रमात्र है। वह कहता है 'मनुष्य न केवल बुद्धि है, न केवल स्थूल पशु-शरीर। वह केवल भाव या आत्मा भी नहीं है। वास्तव में वह इन तीनों से निर्मित पदार्थ है। इन तीनों के उचित सामंजस्य और समन्वय से ही सर्वांश में मानव का निर्माण होना सम्भव है। मस्तिष्क और शरीर का विकास समभाव से हो जिसके फलस्वरूप आत्मा का जागरण हो। इन तीनों में उचित सामंजस्य की स्थापना के अभाव का जो भयानक परिणाम हो रहा है वह हमारे सम्मुख है"।

इन वाक्यों से स्पष्ट है कि गाँधी जी मानव-जीवन को निष्प्राण भूताभिभूत पदार्थ के रूप में नहीं देखते। यही कारण है कि जीवन संबन्धी उनकी नैतिक-अनैतिक की कल्पना पङ्किल नहीं, स्वच्छ और सरल है। उनके ही शब्दों में "मानव-हृदय में शुभ और अशुभ, काली तथा उज्वल शक्तियों का सतत संघर्ष चलता रहता है। सत्य और असत्य, भले और बुरे का अस्तित्व बहुधा साथ ही साथ होता है। मनुष्य यदि असत्य की ओर झुकता है, तो वही सत्य की ओर भी झुक सकता है। अपने इस स्वरूप का दर्शन कर लेने के बाद ही मनुष्य आत्मस्थ हो सकता है। और तभी उसकी निर्मित दुनिया सुन्दर हो सकेगी। मनुष्य की इस प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति और विकास में ही सौन्दर्य है।" तात्पर्य यह है कि मनुष्य के अशुभ से उसकी दुनिया अशुभ हो जाती है और उसके शुभ के जागरण से ही वह शुभ हो सकेगी। यदि जगत् को शुभ के लिये परिवर्तित करना अभीष्ट है, तो आवश्यक है कि मानव-शुभ की सत्ता स्थापित की जाय।

गाँधी की क्रान्ति-कल्पना का यही स्वरूप है। जगत् में घटित समस्त क्रान्तियों से उसकी क्रान्ति-योजना का भेद भी यही है। अब तक दुनिया को बदलने के प्रयोग अनेक बार किए जा चुके हैं। जो प्रयोग हुए हैं, उनमें बलात् बाह्य को पलट देने का ही प्रयास किया जाता रहा है। गाँधी आज नई धारणा उपस्थित करता है। उसकी

दृष्टि मे जगत् का परिवर्तन वस्तुत तब तक हो ही नहीं सकता, जब तक मनुष्य का परिवर्तन नहीं होता। फलत वे जिस पद्धति के प्रवर्तक और पोषक हैं, उसका मुख्य लक्ष्य द्वन्द्वात्मक जीवन के उस अश को जागरित कर देना है, जो स्वभावत सत्य की ओर अभिमुख रहता है। उनकी पद्धति मनुष्य के उस अग का स्पर्श और पुनरुज्जीवन करना चाहती है, जिसकी प्रतिष्ठा प्रकृति ने मानवान्तर मे कर रखी है और जो उसे पशु से भिन्नता प्रदान करती है।

हम जानते है कि इस सम्बन्ध मे दूसरा दृष्टिकोण भी उपस्थित किया जा सकता है। कहा जा सकता है कि मनुष्य का परिवतन तब तक सम्भव नहीं है जब तक दुनिया न बदल दो जाय मार्क्सवाद कहता है कि मनुष्य की चेतना परिस्थितियों की छाया के सिवा और कुछ नहीं है। जैसी बाह्य परिस्थिति होगी वैसा ही मनुष्य का जीवन, उसका दृष्टिकोण और उसके आदर्श होगे। गाँधी जी स्वय मनुष्य के अन्तर्लोक को ही प्रथम स्थान प्रदान करते है, क्योंकि उनका विश्वास है कि उसकी अन्तश्चेतना के अनुरूप ही बाह्यस्वरूप ग्रहण करता है। वे कहते हैं कि "प्रश्नो के दो पहलू होते है। एक बाह्य है और दूसरा आतरिक। मेरे लिये बाह्य का मूल्य केवल उस सीमा तक है जिस सीमातक वह अतर् को सहायता प्रदान करता है। बाह्य मे मनुष्य के अन्तर की अभिव्यक्ति होती है और इसी दृष्टि से मेरे लिये उसका स्थान है।" इन वाक्यों मे गाँधी जी का भाव स्पष्ट है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वे बाह्य की सम्पूर्ण उपेक्षा करते है। वे परिस्थितियों को यद्यपि गौण स्थान प्रदान करते है और उसे अतर की ही अभिव्यक्ति मानते हैं तथापि यह स्वीकार करते है कि बाह्य का मूल्य है, क्योंकि वह अन्तर के विकास में सहायक होता है। इस प्रकार यदि परिस्थितियाँ मानव-हृदय से प्रभावित होती हैं तो मनुष्य का हृदय भी उनसे प्रभावित होता है।

सभ्यता, सस्कृति, समाज की व्यवस्था, मनुष्य का जीवन और

जगत् के प्रति उसका दृष्टिकोण जहाँ उसके अन्तर की ही भावाभिव्यक्ति है, वहीं यह वाह्य भी उसके अन्तर को प्रभावित करता रहता है। यदि यह मान भी लिया जाय कि पहले परिस्थिति को ही बदलना आवश्यक है, तो भी प्रश्न यही उठता है कि उसमे परिवर्त्तन किया कैसे जाय ? मनुष्य की चेतना और शक्ति ही तो उस परिवर्त्तन का साधन होगी। मानव का अन्तःस्थल जब सक्रिय और सचेष्ट हो उठता है और प्रस्तुत परिस्थिति को उलट-पुलट देने के लिये अग्रसर होता है, तभी अपेक्षित परिवर्त्तन की प्रक्रिया चरितार्थ होती है। फिर परिवर्त्तित परिस्थिति समाज के जीवन को प्रभावित करती है और मनुष्य को बदलती चलती है। फलतः मनुष्य पहले है या परिस्थिति, यह विवाद ही भ्रमजनक ज्ञात होता है। यह झगडा वैसे ही है जैसे कोई पूछे कि वीज पहले है या वृक्ष ? इस प्रश्न का निपटारा न कभी हो सका है और न कभी हो सकता है। हमे यही मानकर आगे बढ़ना होगा कि दोनो साथ-साथ हैं। उनका सम्बन्ध परस्पर न केवल अन्योन्याश्रय है बल्कि अविच्छेद्य भी है। यदि यह सच है कि मनुष्य परिस्थिति की छाया है, तो उससे भी अधिक यह सच है कि परिस्थिति मनुष्य के अन्तर का प्रतिबिम्ब है। हम यह मान लेने के लिए बाध्य हैं कि दोनो सत्य हैं। यथार्थ मे परिवर्त्तन की प्रक्रिया दोनो को साथ लेकर ही परिचालित होती है, क्योंकि जो मनुष्य का परिवर्त्तन करने चलेगा वह परिस्थिति को प्रभावित करेगा और जो परिस्थिति को बदलने के लिये बढ़ेगा वह अनिवार्यतः मनुष्य को प्रभावित करेगा। भेद केवल कहने में है तथा एक की अपेक्षा दूसरे को अधिक प्रामुख्य प्रदान करने मे है ; यद्यपि परिणाम, वास्तविकता तथा व्यवहार की दृष्टि से दोनो में कोई भेद नहीं दिखाई पड़ता।

ऐसी स्थिति में गाँधी की दृष्टि में जहाँ एक ओर मनुष्य के अन्तर को उद्दीप्त कर देना वांछनीय है, वहीं आधुनिक अवाछनीय परिस्थिति के

स्थान पर, मनुष्य के शुभांश से संभूत सद्भावो के आधार पर ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करना भी आवश्यक है, जो जगत् के सास्कृतिक स्वरूप को ही वदल दे। यही कारण है कि हम गांधीजी की पद्धति को केवल मनुष्य को वदलने की चेष्टा तक ही परिमित होते नहीं देखते। उसकी गति और आगे वढती है और उन समस्त परिस्थितियो का लोप करना चाहती है, जो मानव शुभाश की जागृत्ति मे वाधक हैं अथवा उनकी उन्मुखता को कुण्ठित वना रही हैं। वापू कहते हैं कि जो वाह्य मनुष्य के अन्तर् की अनुभूति और विकास में वाधक है, वह न केवल मिथ्या है वल्कि फँसाने वाले जाल के समान है। आज मनुष्य की पशुता जागरित होकर यदि परिस्थिति को प्रभावित कर रही है, तो दुर्भाग्य से परिस्थितियाँ भी ऐसी उत्पन्न हो गयी हैं, जो उसकी पशुता को अधिकाधिक उत्तेजन प्रदान कर रही हैं। ऐसी स्थिति मे गॉधी अहिंसा के आधार पर जहाँ एक ओर नव जगत् की रचना मानवता के कल्याण के लिये आवश्यक समझता है, वहीं दूसरी ओर अहिंसक पद्धति के द्वारा न केवल मनुष्य के सत्व को झकृत कर देने की चेष्टा करता है, प्रत्युत अहिंसक ढंग से ही जगत् की आधुनिक व्यवस्था को उलटकर नई परिस्थिति उत्पन्न कर देने के लिये सचेष्ट है।

गॉधी की पद्धति की यही अभिनवता है। वह क्रान्ति चाहता है पर क्रान्ति ऐसी चाहता है, जो न केवल वाह्य का अपितु अन्तर् का भी, स्वतः मूल और आधार का भी परिवर्त्तन कर दे। इतना ही नहीं, क्रान्ति की प्रक्रिया को चरितार्थ करने की उसकी पद्धति तथा उसके साधन भी जगत् में हुई अव तक की समस्त क्रान्तियो से भिन्न हैं। उसी में गांधी अपने सम्पूर्ण और मौलिक विद्रोह की सफलता तथा सम्पादन की आशा करता है। वह उन विद्रोहो की सार्थकता में विश्वास नहीं करता जो अर्वाचीन जगत् के मूलभूत तत्त्वों को ग्रहण करके केवल वाह्य के आडम्वर मे परिवर्त्तन करने के पक्षपाती हैं। यह सच है कि वापू का सन्देश इतिहास के लिये अज्ञात नहीं है।

जीवन के मर्म और जगत के रहस्यों का पट उघाड़नेवाले महामानवों का अवतरण धरातल पर सदा होता रहा है। सत्य की खोज और पूजा में रत इन मुनियों और महापुरुषों ने साधना के फलस्वरूप जीवन की गुत्थियों को सुलझानेवाले तथ्यों को मनुष्य के सामने समय समय पर उपस्थित किया है। उनकी अनुभूति ने विश्व की व्यवस्था में जिन सनातन सत्योंका साक्षात्कार किया वे मानव-समाज के लिये उज्ज्वल प्रकाश-स्तम्भ के रूप में स्थित हैं, जिसके आलोक में मनुष्य अपने जीवन की नैया को खेने की चेष्टा करके अभ्युदय की ओर बढ़ा है। बापू उनसे अधिक कुछ कहने का दावा कर ही कैसे सकता है। वह नम्रतापूर्वक केवल इतना ही कहता है "मैं यह दावा नहीं करता कि मैं अपनी पद्धति का जनक हूँ, पर इतना अवश्य कह सकता हूँ कि मैंने उसके स्वरूप का दर्शन कर लिया है। मेरे समान व्यक्ति यदि ऋषि हो सकता है तो कह सकता हूँ कि मैं इस मन्त्र का द्रष्टामात्र हूँ। अपनी अनुभूति के द्वारा मैंने प्रत्यक्ष रूप से उसे उसी प्रकार देखा है जैसे अपने सामने लगे वृक्षों को देख रहा हूँ। भारत का उद्धार इसी पद्धति से होगा—यह मुझे दिखाई दे रहा है और आज देवगण भी मुझे अपने इस विश्वास से विरत नहीं कर सकते।" यह बापू की महत्ता है कि वह अपनी पद्धति के सम्बन्ध में अभिनवता का दावा पेश नहीं करता पर इसमें सन्देह नहीं हो सकता है कि आज की स्थिति से मनुष्य की समस्याओं के हल के लिये वह जिन तथ्यों की प्रतिष्ठा व्यापक रूप से करने पर तुला हुआ है और उन्हें कार्यान्वित करने के लिये जिस नई पद्धति की रूपरेखा चित्रित की है उसकी मिसाल जगत् की क्रान्तियों के इतिहास में नहीं निकलती।

अहिंसा की महिमा की अनुभूति मानव-समाज ने सहस्राब्दियों पूर्व से की है। युग-युग से जीवन की यात्रा में मनुष्य ने किसी न किसी प्रकार उसका आश्रय ग्रहण करने की चेष्टा की है। उसने यह भी अनुभव किया है कि उसके जीवन पर सहज ऐहिक वासनाओं का

गहरा प्रभाव है जिन्हें उच्छृङ्खल नर्तन करने देना उस हिंसा का प्रजनन करने के कारण होने देना है जो समाज को ही ले डूबेगी। फलतः वासनाओं की तृप्ति मे भी उसने विवेकपूर्ण सयम, सामञ्जस्य और सतुलन स्थापित करने का प्रयत्न सदा किया है। समय-समय पर प्रतिभाशील विभूतियो ने जन्म ग्रहण करके उपर्युक्त नैतिक आदर्शों को न केवल उपस्थित किया है, प्रत्युत जीवन मे उन्हें व्यावहारिक रूप प्रदान करके समाज को वह उत्प्रेरण प्रदान की है जो शताब्दियों तक मानवता का पथ-प्रदर्शन करती रही है। बुद्ध ने पूर्व को, तो ईसा ने पश्चिम को अहिंसा, अपरिग्रह और नम्रता तथा उत्सर्ग की ही शिक्षा दी थी। भारत का दार्शनिक वायुमण्डल न केवल इस देश को वरन् इसकी भौगोलिक सीमा का अतिक्रमण करके पृथ्वी के विस्तृत भू-भाग के वायुमडल को उपर्युक्त भावो से पूत करता रहा है। जीवन की समस्याओं का तात्विक विवेचन, अध्ययन और साक्षात्कार करने वाले मुनियो ने इन सत्यो को ग्रहण करने और उनका प्रतिपादन करके सतत मानवता को उचित पथ का निर्देश आज से न जाने कितने युग पूर्व ही कर डाला है। उसके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चल कर व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से मनुष्य ने अपने जीवन का धन्य बनाया है।

साधारण पढ़ा-लिखा व्यक्ति भी जानता है कि जगत् के समस्त धर्मों ने अहिंसा, सत्य और सयम का उपदेश किया है। साक्षर ही नहीं, किन्तु निरक्षर मनुष्य भी समाज की परम्पराओं के अनुसार कुछ संस्कारों से प्रभावित है, जो उसके हृदय मे सत्य और अहिंसा आदि के प्रति धार्मिक श्रद्धा और विश्वास उत्पन्न करने मे समर्थ होते हैं। ऐसी स्थिति में गाँधी आज यदि उन्हीं आदर्शों की पुनरावृत्ति कर रहा है तो निश्चय ही कोई नई बात नहीं कर रहा है। फिर यह पूछना असंगत न होगा कि उसे और उसके उपदेशो को इतना महत्त्व प्रदान करने की क्या आवश्यकता है? उसके सत्य और उसकी अहिंसा के संदेश मे भला कौन सा नया तत्त्व है, जिसके फलस्वरूप आधुनिक मानव समाज

को नया प्रकाश मिल सकता है। इन आदर्शों से पूरी तरह परिचित होते हुए तथा उनकी महत्ता को जानते हुए भी मनुष्य आज वहाँ पहुँचा है जहाँ दिखाई पड़ रहा है। बड़े-बड़े ऋषि मुनियों, महात्माओं और अवतारों तथा पैगंबरों और देवदूतों के पवित्र उपदेशों और धर्मग्रन्थों के रहते हुए जगत् की आज वह स्थिति हुई है, जिसका दर्शन हम कर रहे हैं। यदि इन सिद्धान्तों के प्रचार और उपदेश मात्र से सारी समस्या हल होने वाली होती तो क्या अब तक कभी की हल न हो गयी होती? यदि उतने से ही जीवन तथा समाज की स्थापना उन आदर्शों की भित्ति पर करना सम्भव होता तो क्या वह उसी समय न हो गया होता, जब हजारों वर्ष पूर्व बुद्ध या ईसा ने उन्हें मनुष्य के सामने उपस्थित किया था। पर जो अब तक नहीं हुआ, जो मानव की मानस-कल्पना की ही वस्तु रही है, जिसका कोई सम्बन्ध जीवन की यथार्थता से नहीं रहा है, उसे पुनः सामने ला कर गाँधी आज भी समस्याओं का कौन सा हल उपस्थित कर रहा है? कैसे वह मनुष्य के नैसर्गिक स्वरूप को तथा उसके जीवन की धारा को बदल देना चाहता है? मान लिया जाय कि समाज और संस्कृति की प्रतिष्ठा अहिंसा के आधार पर ही करने में जगत् का कल्याण है। अहिंसा की वाञ्छनीयता में सम्भवतः किसी को संदेह भी नहीं हो सकता, पर प्रश्न तो यह है कि इस लक्ष्य की पूर्त्ति क्या कभी संभव है? सदा से मानव क्या अपने सुखों की खोज में ही रत नहीं रहा है और इस प्रकार क्या प्रकृत्या स्वार्थी नहीं है? व्यक्ति का नैतिक विकास तो सम्भव है और यह भी सम्भव है कि वह अपने अहं को विश्व में लय कर दे, पर क्या कभी यह भी संभव है कि सामूहिक रूप से पूरा समाज इस प्रकार विकसित किया जा सके? क्या सामूहिक अहिंसा जागरित कर के समस्त सामाजिक संघटन का संस्थापन उसके आधार पर किया जाना संभव है? इतिहास के किसी युग में क्या कहीं इसका एक भी उदाहरण प्राप्त है? यदि नहीं तो आज यह असंभव कल्पना करने से क्या लाभ है?

ये प्रश्न गम्भीर हैं जिनकी उपेक्षा करना सभव नहीं है। वापू स्वय उनकी उपेक्षा नहीं करता और न इन आशकाओं को निर्मूल ही मानता है। यही कारण है कि रेखा खींच कर वह अपनी बातो के नैश्चित्य का दावा नहीं करता। वड़े-वड़े सिद्धान्त प्रवर्तको या विभिन्न प्रकार के 'वादों' के जनको की भाँति न तो वह यह कहता है कि उसीकी बात एकमात्र सत्य है और न अपने को कुछ निश्चित वाक्यो के शब्दजाल में बाँधता है। इसके विपरीत वह विनम्रता के साथ अपने क्रिया-कलाप को सत्य के अनुशीलन के लिये प्रयोग का नाम देता है। स्पष्ट है कि प्रयोगावस्था मे कोई बात अन्तिम रूप से नहीं कही जा सकती। अन्तिमनिर्णय तो प्रयोग से उद्भूत परिणाम पर निर्भर करता है। विज्ञान की यही पद्धति है। वैज्ञानिक पहले पदार्थ अथवा घटना का सूक्ष्म प्रेक्षण करता है, प्रेक्षण के द्वारा प्राप्त ज्ञान के आधार पर प्रयोग और अन्त मे प्रयोगोद्भूत परिणाम के द्वारा सत्य का उद्घोषण। गाँधी इसी प्रकार अहिंसा के प्रयोग के लिये वैज्ञानिक पद्धति ग्रहण करता है। वह सीधे-सीधे जीवन को उस प्रयोग के लिये अपने प्रेक्षण का आधार बनाता है। जीवन-दर्शन से उसे जो प्रतिभासित होता है उसी को ग्रहण करके प्रयोग-पथ पर आरूढ़ होता है और सत्य तक पहुँचना चाहता है। मनुष्य-समाज कभी पूर्ण अहिसक हो सकेगा या नहीं, व्यक्ति का नैतिक विकास जिस प्रकार सम्भव है उसी प्रकार समाज का भी है अथवा नहीं, समाज सस्कृति और जीवन की आधुनिक धारा को मोडकर उसे अहिंसोन्मुख करना व्यावहारिक है अथवा नहीं आदि प्रश्नो का अन्तिम उत्तर तो उस प्रयोग के बाद ही मिल सकता है जिसमें गाँधी आज रत है। मानव-जीवन के दर्शन से उसके सम्मुख कुछ आधारभूत बातें अवश्य स्पष्ट हो गयी हैं, जो उसकी दृष्टि में अहिंसा का प्रयोग करने के लिये समुचित कारण ज्ञात होती हैं।

वे आधार भूत बातें क्या हैं? स्थूल रूप से कह सकते हैं कि

गाँधी यह देखता है कि जीवन मे सत्य और अहिंसा निश्चित रूप से प्रतिष्ठित है। दूसरी ओर वह यह भी देखता है कि जीवनके विधान में असत्य और हिंसा का यद्यपि अस्तित्व है तथापि उनकी कोई स्वतंत्र और ऐकान्तिक सत्ता नहीं है। वह देखता है कि असत्य की प्रतिष्ठा अपने आप हो ही नहीं सकती; क्योंकि उसे किसी न किसी सत्य के आधार पर ही खडा होना होता है। आकाश कुसुम असत्य है पर आकाश और कुसुम दोनो सत्य हैं जिनके आधार पर ही असत्य कल्पना-सभव होती है। फलत असत्य परवश दिखाई देता है, क्योंकि उसे सत्य का सहारा लेकर सत्याभास का रूप ग्रहण करना पड़ता है। वह देखता है कि जीवन मे असत्याचरण है, पर उसके लिये भी एक सीमा तक सत्य का आधार ग्रहण करना अनिवार्य होता है। चोर और गिरहकट जगत् का प्रवञ्चन करते हैं पर अपने गुट में परस्पर का सम्बन्ध यदि सचाई और ईमानदारी पर स्थापित न करें तो एक क्षण भी काम नहीं कर सकते। विचार करके देखिए तो स्पष्ट ज्ञान हो जायगा कि कोई भी कार्य चाहे कितना भी स्वार्थपूर्ण क्यों न हो उसे करनेवाले किसी न किसी रूप मे सत्य का आधार ग्रहण करने को बाध्य होते हैं। पर असत्य को अपनी प्रतिष्ठा के लिये जहाँ सत्य का सहारा लेना पड़ता है, वहाँ सत्य को असत्य की अथवा किसी अन्य की सहायता की अपेक्षा नहीं रहती। इसी प्रकार हिसा की भी सफल प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। स्मरण रखने की बात है कि गाधी जी सत्य और अहिंसा को पर्यायवाची समझते हैं। वह देखते हैं कि हिसात्मक कार्य करते हुए मनुष्य प्रकृत्या अपनी हिसा का औचित्य सिद्ध करने की चेष्टा करता है और बहुधा किसी न किसी नैतिक कारण को उपस्थित करने का प्रबल प्रयास करता है। इसे यदि छोड दे तो भी हम देखते हैं कि हिसा की सफलता के लिये अथवा हिसात्मक सघटन की दृढ़ता और शक्ति के लिये एक सीमातक अहिंसा का आधार ही ढूँढ़ा जाता है। किसी देश या राष्ट्र या समूह मे हिसात्मक सघटन

का बल उसके अहिंसात्मक संघटन की शक्ति पर निर्भर करता है। जिस देश के लोग जितने ही अधिक एक सूत्र में आबद्ध होंगे, पारस्परिक स्नेहबन्धन में जितने ही अधिक जकड़े होंगे तथा अहं के ममत्व और स्वार्थ को समुदाय के हित में जिस सीमा तक विसर्जन करने को तत्पर होंगे उतने ही अधिक वे सुव्यवस्थित, सुसंघटित और सुदृढ़ हो सकेंगे। उनकी इस सुव्यवस्था, सुसंघटन और राष्ट्रीय अथवा सामुदायिक दृढ़ता पर ही उनके हिंसात्मक संघटन की शक्ति आश्रित होती है। यह सम्भव नहीं है कि पारस्परिक कलह और विवाद तथा हिंसा और गृह-युद्ध के रहते कोई देश या समूह किसी शत्रु का सामना शस्त्र उठा कर भी कर सके।

क्या इससे यह स्पष्ट नहीं हो जाता कि हिंसा के लिये भी अहिंसा का आधार लेना अनिवार्य होता है। प्रचण्ड हिंसात्मक सैनिक संघटन भी बिना अहिंसा का आधार ग्रहण किए असम्भव होगा। यद्यपि सेना का संघटन किया जाता है हिंसा के द्वारा, हिंसाका प्रतिरोध करने के लिये, अथवा किसी के मस्तक पर अपनी हिंसात्मकशक्ति की सत्ता स्थापित कर देने लिये, तथापि सैनिक यदि परस्पर एकात्मक न हों, अपने जीवन मे नियन्त्रण, बन्धुत्व और पारस्परिक स्नेह का परिचय न दें तो उसका संघटन एक क्षण के लिये भी टिक न सकेगा। कोई भी सेना चाहे कितनी भी बलवती क्यों न हो यदि विशुद्ध हिंसा में ही विश्वास रखती हो तो इसके पूर्व कि शत्रु का सामना कर सके पारस्परिक रक्तपात और युद्ध के द्वारा निश्चय ही अपना सर्वनाश कर डालेगी। इसके सिवा किसी देश की सेना का संघटन उस देश की जनसंख्या का एक अति अकिंचन भाग ही होता है। आवश्यकता पड़ने पर यह सेना युद्धस्थल मे संग्राम करती है, पर विचार करके देखिए कि इस हिंसात्मक संग्राम की सफलता के लिये देश का अत्यधिक असैनिक वर्ग क्या अहिंसक आदर्शों का अवलम्बन नहीं करता? असैनिक समाज संग्राम के सफल सञ्चालन के लिये स्वयं कष्ट-सहन करता

है, अपने अधिकार और अपनी सुविधाओं का त्याग करता है और सामुदायिक हित के लिये अपने सकुचित स्वार्थ का विसर्जन करता है और इस प्रकार अपनी सेना को वह शक्ति प्रदान करता है जिसके फलस्वरूप वह शत्रु पर विजय-लाभ कर पाती है। क्या असैनिक समाज जो करता है वह अहिंसा ही नहीं है? अपने 'मैं' की सीमा को विस्तृत करके सङ्कुचित अहं को समूह के हित मे लय करना ही तो अहिंसा है। मनुष्य जिस अनुपात में विराट् से तादात्म्य प्राप्त करता है, उसी अनुपात मे उसका द्वेष, उसकी हिंसा और उसके स्वार्थ का लय हो जाता है।

मनुष्य हिंसा करता है इसलिये कि वह अपनी भ्रान्ति के कारण अपनी सहज प्रवृत्तियो के वेग के कारण अथवा विकास की यात्रा में अपेक्षित बिन्दु पर अभी न पहुँच सकने के कारण, अपनी पशुता के प्रवाह में बह जाता है। मनुष्य इसलिये भी हिंसा करता है कि हिंसा का प्रतिरोध करने के लिये अब तक सिवा हिंसा के उसके सम्मुख कोई दूसरा प्रभावकर और सजीव उपाय उपलब्ध नहीं है। फलत. हिंसा की सक्रियता में अपने विश्वास और अपनी आस्था के कारण वह हिंसा में संलग्न होता है, फिर भी उस हिंसा की स्थापना और सफलता के लिये उसे अहिंसा का आधार ग्रहण करना पड़ता है। यदि ऐसा न होता तो हिंसा की सफलता तो दूर रही उसके लिये खड़ा होना भी असम्भव हो जाता। बापू ने जीवन का दर्शन करते हुए उपर्युक्त तात्त्विक तथ्यो को उनके आधार के रूप मे देखा। उसने अनुभव किया कि जीवन व्यक्तिगत हो या सामूहिक, इन्ही स्तम्भों पर स्थित है। यही प्रकृति द्वारा प्रतिष्ठित नैसर्गिक आधार है जिस पर जीवन का भवन खड़ा करना उसे अपेक्षित है। इनके अभाव का अर्थ है उस भवन का विघटन जिसका परिणाम विघातक होना अनिवार्य है। सत्य और अहिंसा से विमुख होकर असत्य और हिंसा को ही तो अपनाना पड़ेगा। पर इसका परिणाम क्या होगा? एक का फल होगा

विस्मृति और दूसरे का होगा विनाश। इसे सिद्ध करने के लिये अधिक प्रयास की आवश्यकता नहीं। मानव-जगत् आज उसी ओर उन्मुख होकर अपने अपेक्षित मार्ग से विपथ हो गया है; फलत. धरातल निर्दलित और मानवता त्रस्त है। जिधर देखिए मिथ्यात्व और पशुता, दोहन और उत्पीड़न, स्वार्थ और प्रवञ्चन दिखाई दे रहा है। जीवन को उसके दोनो रूपो में देख कर गाँधी आज उपर्युक्त उन तत्त्वो को ग्रहण करके प्रयोगशील हुआ है जिनके विकास और उद्बोधन से वह अभीष्ट सिद्ध होने की आशा करता है। वह इस आशा को लेकर प्रयोगरत है कि जीवन मे सत्य और अहिंसा का उत्तरोत्तर समावेश और उनका क्रमिक विकास सम्भव है, क्योंकि ये स्वतन्त्र रूप से उसमे प्रतिष्ठित हैं जिनका आश्रय ग्रहण किए बिना असत्य और हिंसा भी खडी नहीं हो पाती। हिंसा जगत् को जहाँ ले गयी है और आज भी लिए जा रही है वह तो स्पष्ट है, पर अहिंसा के प्रयोग पर निर्णय प्रदान करना और यह देखना कि उसका परिणाम क्या निकलता है भविष्यत् के हाथ में है। आज तो केवल इतना ही कहा जा सकता है कि गाँधी ने जिस प्रयोग का आरम्भ किया है उसे करने के लिये उसके सम्मुख समुचित, आधार और सबल कारण समुपस्थित है और यदि प्रयाग सफल हुआ तो उससे मानवता के कल्याण की आशा की जा सकती है।

जो यह पूछते हैं कि मनुष्य की प्रकृति को क्या परिवर्तित कर देना सम्भव है, क्या मानव को नि:स्वार्थी बनाया जा सकता है, क्या व्यक्ति की भाँति समुदाय को अहिंसक बनाना सम्भव है, उन्हे गान्धी द्वारा की गयी जीवन की उपर्युक्त विवेचना से ही उत्तर मिल जायगा। जीवन की ओर भ्रान्तिपूर्ण दृष्टि डालने से ही ये प्रश्न उठ खड़े होते हैं। गाँधी को मनुष्य की प्रकृति में अहिंसा की प्रवृत्ति निसर्गत: दिखाई देती है। यदि हिंसा अन्तर्निहित है, तो अहिंसा भी मूलरूप से प्रतिष्ठित है, जिसका आधार ग्रहण करके ही हिंसा भी जीवित रहती

है। यदि असत्य की ओर उसका झुकाव होता है तो वह सत्य की ओर भी आकृष्ट होता है, जिसका आधार ग्रहण करके ही असत्य खडा हो पाता है। यदि मनुष्य स्वार्थ की पूजा में रत होता है तो सामुदायिक हित के लिये उसका त्याग करना भी दिखाई देता है और बहुधा अपने तक को उत्सर्ग कर देता है। फलत मनुष्य की प्रकृति को परिवर्तित करके उसे कोई नया रूप प्रदान करने या उसे निःस्वार्थी बनाने की न कोई समस्या उठती है और न कोई प्रश्न ही उपस्थित होता है। हम स्पष्टत देख सकते हैं कि जहाँ एक प्रवृत्ति जागरित होती है और जागरित होती रही है, वहीं दूसरी भी जागरित हो सकती है और जागरित होती रही है; क्योंकि उसी के सहारे मानवता की, मानव सस्कृति की उन्नति प्रगति और विकास होता रहा है। इस स्थिति में प्रश्न परिवर्तन का नहीं, प्रत्युत जीवन की दूसरी प्रवृत्ति के जागरण और उसके उन्मेषमात्र का है।

व्यक्ति की भाँति समाज का भौतिक विकास सम्भव है या नहीं यह प्रश्न अधिक महत्व नहीं रखता। सिद्धान्तत व्यक्ति ही वह उपादान है जिससे समाज की रचना होती है। यदि व्यक्ति जागरित हो जाय तो समाज का जागरण अनिवार्य है। ऐसा जागरण क्या इतिहास की वस्तु नही है? व्यक्ति ने जिस क्षण परिवार की कल्पना की उसी मुहूर्त मे उसने अपने अह, अपनी लिप्सा का 'पर' के साथ सामजस्य स्थापित कर लिया। परिवारों ने मिलकर वर्गों को, वर्गों ने समाज को और समाज ने जब देश के राष्ट्रीय जीवन को रूप प्रदान करके उसकी निश्चित रेखा चित्रित की तो क्या व्यक्ति का समूह मे और समूह का व्यक्ति मे बड़ी सीमा तक मिलन और विलय नहीं हो गया? क्या इसे व्यक्ति के साथ साथ समाज का नैतिक विकास नहीं कह सकते? प्रत्येक ने जब अपनी स्वतन्त्रता की अक्षुण्णता को सङ्कुचित किया, जब प्रत्येक ने अपने पर सामुदायिक कर्त्तव्य की पूर्ति का बोझ और बन्धन स्वीकार

किया, जब प्रत्येक ने समुदाय के स्वार्थ और हित मे अपने स्वार्थ और हित को सीमाबद्ध कर डाला तभी समाज का अथवा राष्ट्र का निर्माण सम्भव हुआ। जब मानव-प्रकृति में यह प्रवृत्ति सहज रूप से विद्यमान है तो व्यक्ति की भाँति समाज के नैतिक विकास की सम्भावना में सन्देह क्यों किया जाय? विशुद्ध अहिंसा के आधार पर अहिंसक समाज और सभ्यता का निर्माण यद्यपि इतिहास के पृष्ठों में नहीं मिलता, पर इसी कारण उसकी सम्भावना को पूर्णत अस्वीकार कर देना भी उचित, बुद्धि-सम्मत और तर्क-सङ्गत प्रतीत नहीं होता। इतिहास अहिंसक समाज का उदाहरण भले ही उपस्थित न कर सकता हो, पर वह इतना अवश्य सिद्ध करता है कि मनुष्य ने हिंसात्मक प्रवृत्ति की सीमा को परिसीमित करने तथा उसका संयम करने का प्रयास युग-युग से किया है। अहिंसा की उपादेयता, वांछनीयता, पवित्रता और सत्यता की झलक का अनुभव उसने अति आरम्भिक काल से किया है। यदि ऐसा न होता तो मनुष्य का विकास न हुआ होता। यह सच है कि समय-समय पर उसकी हिंसावृत्ति ने उसे मानवेतर प्राणी से भी निकृष्ट बना डाला है। जब कभी यह वृद्धि को प्राप्त हुई है तो वह स्वजात शत्रुत्व की प्रचण्ड दावाग्नि दहकाकर मनुष्य की विकास-यात्रा कुण्ठित करने मे और उसके इतिहास के पृष्ठों को जघन्यता प्रदान करने में समर्थ हुई है। पर यह सब करते हुए भी हिंसा को केवल हिंसा के लिये जीवन के आदर्श के रूप में प्रतिष्ठित करने से उसने सहस्राब्दियो पूर्व ही मुख मोड़ लिया था। जैसे-जैसे वह विकास की यात्रा में बढ़ता गया वैसे-वैसे अहिंसा के प्रभाव को हिंसा करते हुए भी स्वीकार करता गया है। बहुधा अहिंसक उद्देश्यो के लिये, शान्ति और सुव्यवस्था के नाम पर, समाज के कल्याण और न्याय के नाम पर ही हिंसा की जाती रही है। जीवन में भी मनुष्य संवेदन-शीलता, सहानुभूति और सहायतावृत्ति को अधिकाधिक ग्रहण करके तथा हिंसा पर अधिकाधिक नियन्त्रण स्थापित करने

की चेष्टा करते हुए आगे बढ़ा है और इसीके फलस्वरूप संस्कृतियों को जन्मप्रदान कर सका है।

इतिहास का इस प्रवृत्ति की उपेक्षा करना मानव समाज के इतिहास की मूलधारा का तिरस्कार करना है। इस प्रवाह के रहते समाज को अहिंसक बनाने का प्रयोग क्या पागलपन कहा जा सकता है? यदि जगत् की सारी सत्ता विकासशील है और यदि मानव समाज भी उसका अपवाद नहीं है तो समाज का विकसित होना अवश्यम्भावी है। इतिहास यदि मनुष्य के क्रमिक विकास का द्योतक है तो मानना होगा कि आज वह जिस सोपान पर है, उससे उच्चतर स्तरपर कल पहुँचना न केवल सम्भव है, प्रत्युत प्रकृति का विधान है। यदि इतिहास अहिंसक समाज का उदाहरण उपस्थित नहीं करता और यदि बड़े-बड़े मनीषियों तथा पैगम्बरों द्वारा इस दिशा मे किए गये प्रयत्नों की सफलता सर्वांश मे प्रदर्शित नहीं करता तो उसका यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि उनका प्रयास ही अनुचित दिशा में था अथवा उसकी सफलता कभी सम्भव है ही नहीं। इतना तो स्वीकार करना ही होगा कि मानवता की शोभा, सिकन्दर और चङ्गेज खाँ, तैमूर और नैपोलियन, हिटलर या मुसोलिनी के रक्तलिप्सु हृदय अथवा उनके खड्गों की लपलपाती भयावनी जिह्वा मे नहीं है, प्रत्युत उन असफल महामानवों में है, जिनकी परम्परा बुद्ध और ईसा में, शङ्कर और गाँधी में, आइनस्टाइन और रवीन्द्र में मूर्त हुई दिखाई देती है। मनुष्यता इन्हीं के रक्त से अभिषिक्त होकर पल्लवित होती रही है और आज इन्हीं पर उसे गर्व होता है। यदि ये सफल नहीं होते तो उसका एकमात्र अर्थ यही है कि विकास-पथ का पथिक काल-विशेष में जिस स्तर पर था या है, उससे उसे बढ़ना था अथवा बढ़ना है और बढ़ते-बढ़ते उस बिन्दु तक पहुँचना है जो उसका निर्धारित लक्ष्य है।

याद रखने की बात है कि जगत् स्थिर नहीं रह सकता क्योंकि

गति उसका धर्म है। यदि प्रगति न होगी तो अधोगति होगी, जिसका अर्थ होगा पथ से प्रत्यावर्तन जो मनुष्य को उसी ओर ले जायेगा जहाँ से वह एक दिन आगे को ओर बढ़ा था। आज जब धरित्री के ऊपर उसके नभच्छत्र की विस्तृत छाया, क्रूर हिंसा की भयावनी कालिमा से ओत-प्रोत होकर मानवता के लिये घोर काल-रात्रि का दृश्य उपस्थित कर रही है, उस समय पथ के शोध मे बापू का प्रयोग प्रभातप्रभा के रूप में पूर्व के अन्तरिक्ष पर अभियान करता दिखाई दे रहा है। वह प्रयोग अहिंसा के द्वारा सत्य को आधार बना कर व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की समस्याओं को हल करने के लिये हो रहा है, जिसके फलस्वरूप अहिंसा की नींव पर ही जीवन, समाज और भावी जगत् की रचना सम्भव हो सके। बापू के इस महाप्रयोग की विशेषता एक और बात में है। साध्यतक पहुँचने के लिये उपयुक्त साधन के उचित चयन में वह अब तक की उन तमाम प्रयोग-पद्धतियों से भिन्नता रखता है जिनका परिचालन भूत में हो चुका है अथवा आज हो रहा है। गाँधी की विशेषता यह है कि वह साध्य के साथ-साथ साधन पर भी समान रूप से ध्यान देता है। या यों कह सकते हैं कि वह न केवल साधन को प्रमुख स्थान देता है प्रत्युत उसकी दृष्टि में साध्य और साधन परस्पर पर्याय के रूप में हैं, जिनमे किसी प्रकार की भेद-बुद्धि उचित नहीं है। वह यह मानता है कि साध्य चाहे कितना भी पवित्र क्यो न हो, उसकी सम्पूर्ण सिद्धि तभी सभव है जब उसकी उपलब्धि के लिये तदनुकूल उचित और पवित्र साधन का अवलम्बन किया जाय।

वह इस धारणा को ही भ्रान्त समझता है कि साध्य यदि पवित्र है तो साधन चाहे कैसा भी क्यो न हो, ग्राह्य है। वह उन लोगों से सहमत नहीं है जो लक्ष्य की पावनता मे ही साधन का औचित्य देखते हैं और यह समझते हैं कि अहिंसा तथा सत्य की प्रतिष्ठा के लिये अथवा शान्ति की स्थापना और न्याय की

रक्षा के लिए हिंसा, अशान्ति और असत्य का आश्रय ग्रहण करने में कोई दोष नहीं है। बापू इस मत को विनाशक और विघातक मानता है। उसका तर्क सीधा, सरल, किन्तु सूक्ष्म है। उन्नति, उत्कर्ष और कल्याण के लिये पतन तथा अकल्याण का मार्ग ग्रहण करके क्या कभी सफलता प्राप्त की जा सकती है? हिंसा के द्वारा जिस अहिंसा और शान्ति की स्थापना हुई दिखाई देती, वह और चाहे जो हो, पर सच्ची शान्ति और सच्ची अहिंसा तो नहीं ही होती। गाँधी कहता है कि हिंसा से मिला स्वराज्य हमें नहीं चाहिए, क्योंकि वह समझता है कि ऐसा स्वराज्य स्वराज्य न होकर पशुबल पर स्थापित राज्य होगा जो व्यापक जन समाज की स्वतन्त्रता का निर्दलन अनिवार्यत करेगा और पशुबल के द्वारा प्राप्त अधिकार-सत्ता पशुबलके द्वारा ही अपनी रक्षा करनेमें सलग्न होगी। इसी कारण पाशवभावाछन्न धरणी पर मानवता के प्रकाश-विस्तार के लिये गाँधी मानवीय साधन को ग्रहण करना चाहता है। जगत् से दोहन और दलन तथा अन्याय मिटाने के लिये यदि आवश्यक है कि मनुष्य की हिंसा-प्रवृत्ति और उस पर स्थापित व्यवस्था तथा संस्कृति को परिवर्तित कर दिया जाय और यदि यह सत्य है कि अहिंसा के अधिकाधिक समावेश से ही मानव-समाज का कल्याण सम्भव है, तो स्पष्ट है कि उसकी स्थापना के लिये अहिंसक-साधनो का प्रयोग करना ही एकमात्र उपयुक्त तथा उचित मार्ग हो सकता है। बापू की प्रयोग-पद्धति इसी मौलिक दृष्टि को लेकर परि-चालित होती है। जगत् में अब तक जितने प्रयोग हुए हैं अथवा हो रहे हैं, हिंसात्मक ही हैं। शान्ति और न्याय, सत्य और समानता तथा स्वतन्त्रता की स्थापना को यद्यपि लक्ष्य निर्धारित किया गया, पर उसकी प्राप्ति के लिये मनुष्य अशान्ति और हिंसा का ही मार्ग पकड़ता रहा है। पर आज इतिहास जो बात सिद्ध करता है, वह हिंसात्मक-प्रयोगो की असन्दिग्ध असफलता के सिवा और कुछ नहीं है। शान्ति और सभ्यता तथा न्याय और स्वतन्त्रता के नाम पर मनुष्य ने न जाने कितनी बार

मानव-रक्त का तर्पण किया है, पर क्या उसे कभी सफलता प्राप्त हुई ? एक अन्याय को मिटाने के लिए दूसरे अनेक अन्याय किए गए, मनुष्य-जीवन की पवित्रता की अवहेलना की गयी और सिद्धान्तों के नाम पर पशुता को न जाने कितना उत्तेजन प्रदान किया गया; पर इन सबका परिणाम क्या एक अन्याय को मिटाकर दूसरे की स्थापना में ही व्यक्त नहीं हुआ ? फ्रांस की राज्य-क्रान्ति ने जिस निरंकुश राज-सत्ता का संहार किया और जिस भयानक विघटन का प्रवर्तन किया उसके गर्भ से क्या स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व का प्रजनन हुआ ? इतिहास साक्षी है कि फ्रांसीसी क्रान्ति ने ऐसी "आतङ्कपूर्ण सत्ता" का प्रजनन किया जिसकी कहानी आज भी रोएँ खड़ी कर देती है।

स्वच्छन्द, भ्रष्ट और निकम्मी जारशाही का सत्यानाश सर्वथा अपेक्षित और उचित था, पर बोलशेविक क्रान्ति ने रूस में जिस विधि और विधान का प्रवर्तन किया है तथा जिस पद्धति का परिचालन किया वह वर्गहीन समाजवादी समाज अथवा लेनिन के शब्दों में "स्वतन्त्र, समान तथा शिष्ट" समुदाय की स्थापना करने में समर्थ नहीं हुई। जब हम महान् क्रान्तिकारियों के तथा महती क्रान्तियों के आदरणीय नेताओं पर दृष्टिपात करते हैं तो यह पाते हैं कि डीवेलरा हों या कमालपाशा, लेनिन हों या स्टालिन, इनके हाथ अपने साथियों के रक्त से रञ्जित हैं। क्या हिंसा के द्वारा हिंसा का प्रतिरोध और प्रतिशोध करके मनुष्य ने उत्कृष्टतर हिंसा का सर्जन नहीं कर डाला ? विचार करके देखिए कि हिंसा का निराकरण करने के लिये उग्रतम हिंसा का आश्रय ग्रहण करने की प्रवृत्ति उत्पन्न की जाती रही है। ऐसी स्थिति में कहाँ मिल सकती थी शान्ति और कहाँ स्थापित हो सकता था न्याय ? शस्त्र के बल पर ही वारसेई की सन्धि चरितार्थ हुई और उसी शस्त्र के बल पर विजयी राष्ट्रों ने अपनी स्वार्थपरता की रक्षा की। जर्मनी की, उदार "वीमर रिपब्लिक" के नाम से विख्यात सरकार, जिसका संघटन गत युद्ध के उपरान्त जर्मनी में

हुआ था, वारसेई सन्धि की कतिपय अन्यायमूलकधारा को संशोधित करने की प्रार्थना करते हुए मर मिटी, पर विजय में उन्मत्त हुए राष्ट्रों के कान पर जूँ भी न रेंगी। यदि उन महाशक्तियों ने दूरदर्शिता से काम लिया होता तो कदाचित् जगत् का इतिहास दूसरा हुआ होता। परन्तु शस्त्र-बल से प्रमत्त और हिंसा के पुजारियों के लिये यह सम्भव ही न था। परिणामतः उनकी हिंसा ने हिटलर के रूप में अपनी प्रतिक्रिया को मूर्त्त रूप प्रदान किया और उसी वारसेई सन्धि की अनेक धाराएँ उस समय मिटती दिखाई पड़ीं जब हिटलर ने शस्त्र द्वारा उन्हें मिटा डाला। ये घटनाएँ क्या हिंसा की असफलता पर प्रकाश नहीं डाल रही हैं?

यूरोप के विचारक सम्प्रति अपनी दुनियाँ से त्रस्त हैं और उसके परिवर्त्तन के लिये सचेष्ट हैं, पर क्या कारण है कि उन्हें अब तक सफलता न मिली? उनकी असफलता के अनेक कारणों मे एक प्रबल और मुख्य कारण यही है कि अपनी लक्ष्य की सिद्धि के लिये अब तक उचित पथ की प्राप्ति करने में वे समर्थ नहीं हुए। मनुष्य की पशुता का निराकरण तो दूर रहा उसे और अधिक उत्तेजित करके मानवता की स्थापना की आशा करना वह प्रचण्ड प्रवचन है, जिसे सिद्ध करने के लिये किसी तर्क की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। फलत गाँधी साध्य की अपेक्षा आज साधन पर ही अधिक ध्यान देने की धारणा लेकर सामने उपस्थित हुआ है। वह कहता है कि पथ सही और उचित होगा तो आँखें मूँद कर भी मनुष्य गतव्य स्थान तक पहुँच जायगा। पर्वत के शिखर तक पहुँचने के लिये यदि आप उपत्यका की ओर अभिमुख होकर बढ़ें तो त्रिकाल मे भी अपने स्थान तक न पहुँच सकेंगे। शान्ति और अहिंसा की स्थापना अशान्ति और हिंसा से कदापि सम्भव नहीं है। अहिंसक लक्ष्य की प्राप्ति अहिंसक उपायों के अवलम्बन और अनुगमन से ही सम्भव हो सकती है। फलतः ऐसे

जब उत्तरोत्तर यह बात प्रकट होती जा रही है कि हिंसा और

पशुता के गर्भ से अहिंसा और मानवता का उद्भव नहीं हो सकता और जब यह सिद्ध हो गया है कि हिंसात्मक-प्रयोग सर्वांश मे उस लक्ष्य की सिद्धि करने मे समर्थ नहीं होते, जिनके लिये उनका प्रयोग किया जाता है, तो किसी दूसरे प्रकार की प्रयोग-पद्धति की आवश्यकता कौन अस्वीकार कर सकता है ?

बापू आज उसी नवीन दिशा का संकेत है जिसने मानवता के संमुख नई प्रणाली और पद्धति उपस्थित की है। हिंसा से उत्पीड़ित मनुष्य के समुख अब तक दो ही परिपाटियाँ रही हैं। हिंसा का प्रतिरोध या तो हिंसा से करना अथवा बलशील सत्ता के सामने आत्मा समर्पण कर देना। हम देख रहे हैं कि इन दोनो मे से किसी के द्वारा समस्या हल न हो सकी। हिंसा का प्रतिरोध हिंसा के द्वारा करने मे दो प्रकार के खतरे स्पष्ट हैं। पहला तो यही कि प्रतिरोधी की हिंसा प्रतिरोध्य की हिंसा से यदि बलवती न हुई तो न केवल असफलता निश्चित है वरन् पिस कर मिट जाने की संभावना भी सामने खडी रहती है। दूसरा खतरा यह है कि हिंसा का आश्रय ग्रहण करने से एक हिंसा भले ही मिट जाय पर दूसरी का आविर्भाव हो जाता है जिसके फलस्वरूप उस लक्ष्य की सिद्धि वस्तुतः हो नहीं पाती जिसे प्राप्त करने के लिये उसका आश्रय ग्रहण किया जाता है। हिंसा के सामने मस्तक झुका देने की परिपाटी तो उस समय ग्रहण की जाती है जब उसका मुकाबिला करने की हिंसात्मिका शक्ति का अभाव अनुभूत होता है। इस नीति की जघन्यता पर विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है। वह तो ऐसा घोर पाप है, जो न केवल हिंसक और दलित दोनों के पतन तथा विनाश का कारण होता है, अपितु उस नैतिक आधार का ही विलोप कर देता है जिस पर स्थित होने मे ही मानवता की शोभा है। मनुष्य-समाज ने समय-समय पर हिंसा तथा अन्याय के समुख उपर्युक्त दो मे से किसी एक परिपाटी का ही अवलम्बन किया है। आज गाँधी की प्रयोग-पद्धति एक तीसरा प्रकार लेकर उपस्थित

होती है, जो न तो हिंसा का प्रतिरोध हिंसा के द्वारा करती है और न हिंसा के संमुख घुटने टेकती है। वह इन दोनों के विपरीत, जगत् के समस्त पशुबल के विरुद्ध ऐसे प्रचण्ड प्रतिरोध की सजीव प्रतिमा के रूप में अवतरित होती है, जिसका मस्तक झुका देने में विश्व की सारी बलशील सत्ताएँ भी समर्थ नहीं हो सकतीं। वह पद्धति हिंसा को मिटा कर अहिंसा की स्थापना करने की ओर बढ़ती है। विद्रोहिणी होते हुए भी वह रक्तलिप्सा नहीं है और शान्त होते हुए भी निष्क्रिय नहीं है।

अहिंसा का विद्रोहात्मक स्वरूप

अबतक इतिहास के किसी युग मे यह नहीं मिलता कि किसी महापुरुष ने क्रान्ति की कल्पना ऐसी की हो जिसमे हिंसा का समावेश न रहा हो। गाँधी ही वह महापुरुष है जिसने अहिंसा को शस्त्र का रूप प्रदान करने का महाप्रयास आरम्भ किया है। पूर्व के पृष्ठो मे कहा जा चुका है कि वह ऐसी क्रान्ति की अपेक्षा करता है जो वर्तमान जगत् के न केवल समस्त बाह्य आडम्बर और व्यवस्था को बदल दे, प्रत्युत जीवन और संस्कृति की मूलधारा को भी दूसरी दिशा की ओर मोड़ दे। गाँधी वस्तुत. केवल क्रान्ति ही नहीं चाहता अपितु वह उत्क्रान्ति का पूजक है। वह मनुष्य-समाज को विकास के उस सोपान से, जिस पर आज वह स्थित है, खींच कर उच्चतर स्तर पर ले जाने के लिये सचेष्ट है। जगत् से हिंसा और अन्याय का, अनीति और शोषण का, पशुता और अत्याचार का नाम-निशान मिटा कर मुक्त मानवता की अक्षुण्ण सत्ता स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील है। ऐसी महती क्रान्ति की सफलता अहिंसा के द्वारा प्राप्त करने की कल्पना सभवतः उपहास्य ज्ञात होती है। मानव-समाज ने अब तक जिन अनुभूत उपायो को उपस्थित किया है, उनसे सर्वथा भिन्न तथा विपरीत उपाय यदि उपहास्य दिखाई दें तो आश्चर्य क्या है ?

पर यही गाँधी की विशेषता है कि आज उसने अहिंसा को नए रूप और नए कलेवर में जगत् के सामने उपस्थित किया है। उसकी अहिंसा का स्वरूप पलायन नहीं, प्रतिरोध है। वह अहिंसा का प्रयोग अनैतिकता के विरुद्ध नैतिकता के, अमानवता के विरुद्ध मानवता के, अन्याय-अत्याचार के विरुद्ध न्याय तथा निर्भयता के प्रबलतम विद्रोह के रूप मे करने के लिये अग्रसर हुआ है। मानव-जीवन के लिये

अहिंसा का आदर्श न तो नया है और न उसकी पवित्रता तथा महत्ता मे किसी को सन्देह हो सकता है, पर अहिंसा को इस रूप में सामने लाने की चेष्टा कदाचित् इतिहास की अभिनव घटना है। अहिंसा को जीवन के तत्त्व के रूप मे देखनेवाले कतिपय मुनियो और महामानवो से गाँधी इसी कारण भिन्न है। वे अशुभ और अशिव से, अपावन और अनीति से दूर भागने का उपदेश करते थे। उनकी अहिंसा मे विशुद्ध निष्क्रियता का समावेश था। पर गाँधी निवृत्ति-मार्गी निष्क्रिय सन्तो के समाज की रचना करना अपना लक्ष्य नहीं समझता।

बापू अहिंसा की कल्पना शक्ति के रूप मे करता है। वह उसे वही स्थान प्रदान करना सम्भव समझता है जो हिंसात्मक शक्ति को प्राप्त है। अधिकार और न्याय, औचित्य तथा सत्य की रक्षा और स्थापना के लिये तथा अन्याय और अधिकारापहरण का प्रतिरोध करने के लिये यदि अबतक हिंसा का प्रयोग होता रहा है और उसके द्वारा सर्वांश मे नहीं तो अर्धांश या अंशांश मे यदि मानव-समाज सफलता प्राप्त करता रहा है, तो गाँधी उसके स्थान पर अहिंसा की प्रतिष्ठा करना वांछनीय समझता है; क्योंकि उसकी दृष्टि मे अहिंसा उपर्युक्त लक्ष्य की सिद्धि मे हिंसा की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म, अधिक उपयुक्त, अधिक सार्थक तथा अधिक प्रभावकर और शक्तिमती दिखाई देती है। अहिंसा के सम्बन्ध में गाँधी की इस मौलिक और सूक्ष्म दृष्टि को समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है। इस सम्बन्ध में व्यापक भ्रान्ति फैली हुई है, जिसके फलस्वरूप लोग साधारणत' गाँधी के अहिंसा-सिद्धान्त को समझ नहीं पाते। कोई यह समझता है कि गाँधी किसी भी दशा में सशस्त्र प्रतिकार को अनैतिक मानता है अत: उसके त्याग पर जान देता है। कोई यह समझता है कि असहाय के लिये अहिंसा के सिवा दूसरा मार्ग न देखकर गाँधी अहिंसा को ग्रहण करते हैं। किसी की समझ मे अहिंसा के अवलम्बन का अर्थ दब्बूपन की प्रवृत्ति है जिसमे ा उठाने के साहस का अभाव है। कुछ लोग यह भी समझते हैं

कि गाँधीजी की अहिंसा का अर्थ अन्याय और अत्याचार को अप्रतिरोध-भाव से सहन कर लेना है। गाँधी हिंसा का विरोधी इसलिये नहीं है कि वह उसे सदा, सब काल मे, सारी परिस्थितियो मे, अनैतिक ही समझता है। ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न होती है जब हिसा करना सहज ही नैतिक और उचित हो सकता है। जीव-हिसा की आवश्यकता समाज को सदा से पड़ती रही है। यह जरूरी नही है कि यह हिंसा केवल हिसा के लिये ही की जाती रही हो।

वहुधा-जीवन रक्षा के लिये भी जीव-हिंसा आवश्यक हो गयी है। आक्रमणकारियो, गुण्डो, उद्दण्डो, हत्याकारियो और समाज को उत्पीड़ित करनेवाले निरंकुश शासको से समाज के सामहिक हित की रक्षा करने के लिये, विशुद्ध जनहित और जन-सेवा के भाव से उत्प्रेरित होकर भी जीव-हत्या करनी पड़ी है। मानवता का निर्दलन करनेवाले महत्वाकाक्षी शासको अथवा आततायी विजेताओ से अपने देश की रक्षा करने के लिये हिसा मे संलग्न होना आवश्यक हो जाता है। क्या इन दुष्टों से निर्बलो की रक्षा मे की गई हिंसा अनैतिक कही जा सकती है? इन पक्तियो के लेखक की धारणा है कि गाँधी स्वय इसे अनैतिक नहीं समझता। यदि वह अनैतिक समझता तो यह न कहता कि किसी सती का सतीत्व आक्रान्त हो और वह दाँतो या नखो से अथवा अन्य सभी सम्भव उपायो से उसकी रक्षा करे तो वह अहिसा ही है। अभी हाल मे उसने यह कहा है कि निर्बल पोलैण्ड पर सवल जर्मन सेना के चढ़ दौड़ने पर पोलो ने यदि शस्त्र उठाकर अपनी रक्षा करने की चेष्टा की तो वह प्राय: अहिसा के समान ही था। स्पष्ट है कि गाँधी जी अपने इन वाक्यो के द्वारा जो भाव प्रकट कर रहे हैं, उनका अर्थ केवल इतना ही है कि हिंसा सदा अनैतिक नहीं होती। समय और परिस्थिति के अनुसार हिंसात्मक कार्य भी नैतिक दृष्टि से उतना ही उचित हो जा सकता है जितनी कि अहिंसा।

यदि ऐसा न होता तो अहिंसा की सजीव प्रतिमा स्वयं गाँधीजी पर

अनैतिक हिंसा करने का दोष मढ़ा जा सकता। साबरमती आश्रम के उस बछड़े का प्राण-हरण गाँधीजी की प्रेरणा से हुआ जो किसी भयानक रोग से ग्रस्त होने के कारण बुरी तरह पीड़ित था और जिसे रोग-मुक्त करना असम्भव हो गया था। अहमदाबाद में पागल कुत्तों के उपद्रव के बढ़ जाने के कारण गाँधीजी ने उन्हें मरवा डालने की अनुमति दे डाली थी। क्या इन कार्यों के लिये उन पर अनैतिक हिंसा करने का दोष लगाया जा सकता है? मैं समझता हूँ कि गान्धीजी के ये कार्य हिंसात्मक होते हुए भी अनैतिक नहीं थे। नैतिक और अनैतिक का प्रश्न सूक्ष्म है। हिंसा किसी समय उतनी ही नैतिक हो सकती है जितनी की अहिंसा। इसी प्रकार अहिंसा भी किसी समय अनैतिक हो सकती है जिस प्रकार हिंसा। वस्तुत. हिंसा और अहिंसा की अनैतिकता या नैतिकता पर निर्णय प्रदान करने का आधार केवल एक ही हो सकता है और वह यह कि हिंसा या अहिंसा किस प्रयोजन के लिये की जा रही है? स्वार्थ की पूर्ति के लिये, अहंकार की तृप्ति के लिये, वैयक्तिक प्रभुता की प्राप्ति अथवा वासना के तृप्ति के लिये की गई हिंसा जिस प्रकार अनैतिक है उसी प्रकार इन्हीं लक्ष्यों की पूर्ति के लिये की गई अहिंसा भी अनैतिक होगी। क्या कोई आपके मकान पर इसलिये आमरण उपवास कर दे कि आप अपनी सारी सम्पत्ति उसे दे दें तो वह उपवास उसी प्रकार अनैतिक न हो जायगा जिस प्रकार डाकुओं के गिरोह द्वारा आपकी सम्पत्ति लूटने के लिये की गई हिंसा? इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है। तात्पर्य यह कि हिंसा-अहिंसा की अनैतिकता और नैतिकता का प्रश्न बिल्कुल दूसरा है।

गाँधी हिंसा का त्याग इसलिये नहीं करता कि वह उसे सदा और सर्वथा अनैतिक समझता है। मेरी दृष्टि से वह अहिंसा के अवलम्बन को अपना लक्ष्य बनाता है इस कारण कि उसके मत से जिन उद्देश्यों पूर्ति के लिये हिंसात्मक उपायों का अवलम्बन किया जाता है, उनकी उसके द्वारा सम्भव ही नहीं होती। शान्ति, न्याय, स्वतन्त्रता,

जनाधिकार की रक्षा अथवा अन्याय, हिंसा और दलन आदि के लोप के लिये की गई हिंसा नैतिक होते हुए भी अग्राह्य है इसलिये कि उसके द्वारा उपर्युक्त लक्ष्य सिद्ध ही नहीं होते। सिद्ध होना तो दूर रहा हिंसात्मक उपायों के द्वारा जिस वातावरण का सर्जन तथा जिन प्रवृत्तियों का प्रबोधन हो जाता है वे आगे चलकर पुन. हिंसा, अन्याय और दलन की ही सृष्टि करते हैं। यही कारण है कि गाँधी कहता है कि उक्त साध्य की सिद्धि के लिए अहिंसा ही अनुकूल साधन है, अत. वह हिंसा को त्याज्य घोषित करता है। गाँधीजी कहते है "गत तीस वर्षों के कोरे जीवन का अनुभव मुझे यह महती आशा प्रदान करता है कि न केवल भारत किन्तु सारे जगत् का कल्याण और भविष्य अहिंसा के अवलम्बन में ही सुरक्षित है। अहिंसात्मक-पद्धति जिस प्रकार सर्वथा निर्दोष है, उसी प्रकार संसार के शोषित और दलित समाज की समस्त राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं को हल करने के लिये अति प्रभावकर अमोघास्त्र है। मैंने अपने जीवन के अति आरम्भिक काल से यह समझ लिया है कि अहिंसा केवल सन्त का ही गुण नहीं है जिसका अभ्यास करके व्यक्तिगत, आध्यात्मिक शान्ति तथा मोक्ष का सम्पादन व्यक्तिविशेष कर सकता है। मैंने तो यह समझा है कि अहिंसा व्यापक जन-समाज के जीवन-यापन के लिये शाश्चत विधान है। यदि मानव-समाज मानवता के गौरव के अनुकूल जिन्दगी बसर करना चाहता है और यदि वह उस शान्ति का इच्छुक है, जिसकी ओर मनुष्य युग-युग से धावित है, तो उसे जीवन में अहिंसा को ग्रहण करना ही पड़ेगा।"

इन वाक्यों से साफ हो जाता है कि गाँधी अहिंसा को क्यों और किस रूप में ग्रहण करता है। उसकी अहिंसा महान् लक्ष्य लेकर अग्रसर होती है। जगत् में अहिंसा के आधार पर समाज और संस्कृति का निर्माण उसका लक्ष्य है, क्योंकि अहिंसक जगत् में ही मनुष्य की स्वतन्त्रता सुरक्षित रह सकेगी, उसके शोषण का अन्त होगा और

मानवता उत्पीड़न तथा दलन से मुक्त होकर विकास की ओर अभिमुख होगी। मानव-समाज का अभ्युत्थान और चिरसुख उसी में निहित है। इस लक्ष्य की सिद्धि का साधन भी अहिंसा ही है और इसी कारण गाँधी साध्य और साधन की एकता पर जोर देता है। जिसने अहिंसा की कल्पना इस रूप मे की हो वह उसे अकर्मण्य, विरक्त संन्यासियो की वस्तु कैसे समझ सकता है? अहिसा का प्रचार करके वह जगत् को वैरागियो का मठ बनाना नहीं चाहता। अहिंसा को उसने साधन बनाया है मानवताके लक्ष्य की संसिद्धि के लिये। उसकी अहिसा अस्त्र है जिसके द्वारा वह लक्ष्य का भेदन करना चाहता है। यह तभी सम्भव है जब उसकी अहिंसा मे शक्ति का समावेश हो। जीवनहीन, जड अहिंसा तो गतिहीन होगी। उसके द्वारा लक्ष्य की सिद्धि का प्रश्न ही नहीं रह जाता। इसी कारण पूर्व के पृष्ठों मे यह लिखा है कि बापू अहिंसा की कल्पना शक्ति के रूप मे करता है। उसकी दृष्टि मे अहिंसा असहाय का अस्त्र नहीं है। अहिसा का अवलम्बन इसलिये कि हिंसा करने की शक्ति और साधन प्राप्त नहीं है उसे अपेक्षित नहीं है। निर्बल की अहिसा अहिसा हो ही नही सकती, वह तो कायर की निष्क्रियता है जो उसकी कापुरुषता का ही चरम रूप है। उसी कारण गाँधी यह कहता है कि यदि अहिंसा को शक्ति के रूप मे ग्रहण करने की सामर्थ्य न हो तो हिसा के द्वारा अन्याय का मुकाबिला करना कायरता पूर्ण आत्मसमर्पण को अपेक्षा कहीं अधिक श्रेयस्कर है। वे अहिसा को "शस्त्र का स्थान ग्रहण करने वाला नैतिक अस्त्र" बनाना चाहते है। वह उसे उस तेजस्विनी, सप्राण महाशक्ति के रूप में ग्रहण करते हैं जो जगत् की समस्त पाशवी धारा का सामना शस्त्र की अपेक्षा अधिक सफलता के साथ कर सके। स्मरण रखना चाहिए कि गाँधीजी अहिसा के द्वारा ऐसी प्रक्रिया उत्पन्न करना हते हैं जो अहिसात्मक शक्ति रखनेवालो को भी अपनी पवित्रता, । और क्षमता के कारण अपनी ओर आकृष्ट कर सके।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि गाँधीजी की अहिंसा का रूप वह नहीं है जो पुराने धर्म-गुरुओ द्वारा उपस्थित किया जाता रहा है। अहिंसा का नाम पुराने ऋषि-मुनि अथवा बुद्ध, ईसा और महावीर स्वामी ले चुके हैं। वैष्णव सन्तो ने भी बार-बार उसका उल्लेख किया है। इन सब की अहिंसा निष्क्रिय और पलायानात्मक रही है। ईसा ने बुराई का प्रतिरोध न करके उसे दूर हट जाने का उपदेश किया है। बुद्ध पाप और बुराई से बचने के लिए कर्मों के सर्वथा त्याग का उपदेश देते हैं। अहिंसा का यही पुराना रूप रहा है। आज जब गाँधी अहिंसा का नाम लेता है तो सम्भवतः उसका वही पुराना रूप लोगो के सम्मुख खडा हो जाता है। यह स्वाभाविक है, क्योंकि अहिंसा शब्द में सहस्राब्दियो की परम्परा का इतिहास और अर्थ भरा हुआ है। उसका अभिषेक मानवसमाज की ऐसी विभूतियो के रक्त और उसके तप से हुआ है जिन पर हमारा इतिहास उचित गर्व करता है। फलत: उसके संस्कार और भार से यदि हम मुक्त न हो सकें तो कोई आश्चर्य नहीं पर वास्तविकता यह है कि गाँधी की अहिंसा बिल्कुल दूसरा स्वर लेकर उपस्थित हुई है। वह यूरोप के उन निर्जीव शान्तिवादियो की अहिंसा नहीं है जो युद्ध के विरोधी होने का दावा तो करते हैं, पर अवसर आने पर चुप हो जाते हैं। उनका 'शान्तिवाद' उनकी जड़ निष्क्रियता के सिवा और कुछ नहीं है। गाँधी की अहिंसा बुराई से भागने वाली नहीं भिडने वाली है। वह संघर्षात्मक है जो अशुभ और असत् का प्रबल प्रतिरोध करने पर तुली हुई है। प्रतिरोध की मात्रा यहाँ तक बढ़ती है कि वह प्रचण्ड विद्रोही का रूप धारण करती है और बहुधा स्वतः आक्रमणात्मक हो जाती है। अन्याय और अशुभ को सहनशीलता तो क्या उपेक्षा की दृष्टि से भी देखना वह अनुचित और अनैतिक समझती है। सक्षेप मे कहें तो कह सकते हैं कि गाँधी की अहिंसा में वे तमाम वृत्तियाँ उपस्थित हैं जो अन्याय का प्रतिरोध करने के लिए हिंसात्मक प्रतिकार या क्रान्ति में मौजूद रहती हैं। वृत्तियो से

हमारा तात्पर्य क्रोध, द्वेष अथवा प्रतिरोध की उन भावनाओं से नहीं है जिनसे ओत-प्रोत हो कर बहुधा हिंसात्मक पद्धति प्रवर्तित होती है। वृत्ति से हमारा तात्पर्य केवल उन भावों से है जो अन्याय अथवा अत्याचार के अटल और अदमनीय प्रतिरोध और प्रतिकार के रूप में प्रकट होते है। अन्याय को मिटाने के लिए जीवन को बलि चढ़ा देने के आदर्श पर मर मिटने की और विरोधी की प्रबलतम शक्ति का अखण्ड अवरोध करने की जो भावना हिंसात्मक विद्रोह अथवा संघर्ष मे पाई जा सकती है, उन सब का न केवल समावेश किंतु चरम विकास गाँधी की अहिंसा में होता है। साथ ही द्वेष अथवा प्रतिशोध की असद्-वृत्तियो से अपने को यथासंभव मुक्त रखने की चेष्टा उसकी विशेषता है, जिसका अनिवार्य सर्जन हिंसात्मक पद्धति मे हो जाता है।

गाँधी की अहिंसा के रूप को न समझ सकने के कारण ही लोग [illegible] पर यह आक्षेप करते सुने जाते हैं कि अत्याचार को चुपचाप बर्दाश्त [illegible] लेने अथवा खड़े-खड़े मार खाने से कुछ नहीं हो सकता। अधिकतर [illegible]गो की तो यह धारणा है कि वह असहाय का एकमात्र व्यावहारिक [illegible]र्ग है। गाँधी की कल्पना इन धारणाओं के सर्वथा विरुद्ध है। [illegible]याय को चुपचाप बर्दाश्त कर लेने की प्रवृत्ति के विरुद्ध ही तो उनका [illegible] विद्रोह है। वह अहिंसा को असहाय का अस्त्र समझ कर नहीं [illegible]पेतु सबल की चरमशक्ति के रूप में ग्रहण करता है और यह मानता [illegible]कि अहिंसात्मक विद्रोह अथवा संघर्ष ग्राह्य है, क्योंकि लक्ष्य की [illegible]द्धि मे हिंसात्मक पद्धति की अपेक्षा वह कहीं अधिक प्रभावकर [illegible]। सबल सिद्ध होगा। यदि वह उसे असहाय का अस्त्र समझता तो [illegible]का उपदेश करके भारत के निहत्थे और दब्बू जनसमाज के नैतिक [illegible]. पात का कारण बनता। जिसमें हिंसा करने की बाह्य अथवा [illegible]तरिक, शारीरिक अथवा मानसिक शक्ति न हो उसके लिये अहिंसा [illegible] उपदेश निष्प्रयोजन और निरर्थक ही नहीं है प्रत्युत सर्वथा हानिका- [illegible] है। बापू से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह इतनी स्थूल

सी बात भी न समझता। अतः यह स्वीकार करना होगा कि उसने अहिंसक पद्धति का प्रवर्तन इसलिये किया है कि वह भारत के उत्थान के लिये, भारतीय जनसमाज को मनुष्यत्व प्रदान करने के लिये और इस महाराष्ट्र के मस्तक पर नाचती विदेशी निरंकुशता तथा स्वच्छन्दता की समाप्ति के लिये उसे हिसा से अधिक उपयुक्त और उचित समझता है। वह जानता है कि हिंसा न प्रभावकर सिद्ध होगी और न सफल। वह यह भी जानता है कि हिसा से समाप्त की गई हिसा हिंसा का सर्वथा लोप नहीं कर पाती। फलत· न केवल भारत के लिये प्रत्युत जगत के लिए उसने सङ्घर्षशीला अहिंसक पद्धति का प्रजनन किया है, जिमके फलस्वरूप उस हिंसा का समूल उत्पाटन करने का मार्ग दिखाई दे जाय जिससे आक्षितिज वसुन्धरा त्रस्त है। बापू के शब्दो पर ध्यान दीजिए। वह कहता है "समय आ गया है जव हमे अपनी अहिंसा के रूप को समझ लेना चाहिए। कॉंग्रेस जिस अहिंसा का अवलम्बन करती है वह निबेल और असहाय की अहिसा है अथवा सवल और शक्तिमान् की ? यदि वह असहाय की अहिसा है तो समझ लीजिए की उसके द्वारा लक्ष्य की सिद्धि कभी हो नहीं सकती। यही ही नहीं वरन् अधिक दिनो तक वैसी निर्जीव अहिसा यदि प्रयुक्त होती रहेगी तो हमें स्वराज्य के योग्य न रहने देगी। निर्वल और असहाय तो अहिंसक रहता ही है इसलिए कि सिवा उसके कुछ दूसरा कर ही नहीं सकता। यदि अहिंसा वास्तविक बल के गर्भ से उत्पन्न नहीं होती है और यदि वल का ही प्रतिनिधित्व नहीं करती तो उसके परित्याग में ही कल्याण है।"

गाँधी की अहिंसा के इस रूप को विना समझे उसके सिद्धान्त को समझना कठिन हो जाता। यह समझना भूल है कि गाँधी संघर्ष से मुख मोड़ता है इसके विपरीत उसका सारा जीवन स्वयं संघर्षात्मक रहा है और उसकी सारी विचारधारा सघर्ष की प्रवृत्ति से ओतप्रोत है। जो मनुष्य जीवन को दो परस्पर विरोधी वृत्तियों में व्यक्त देखता

हो और जो शुभ और अशुभ को सनातन तथा अन्तस्संघर्ष में ही जीवन का परिस्फुरण मानता हो, उसके लिये जीवनका समूचा स्वरूप ही संग्रामात्मक होगा। संघर्ष गति का प्रतीक है और गति में ही जीवन है। फलतः संघर्ष से विरति अथवा निष्क्रियता का अर्थ तो मृत्यु ही हो सकता है। बापू मृत्यु नहीं जीवन का उपासक है, अत. वह संग्राम से पलायन की कल्पना कर ही नहीं सकता। यह सच है कि अहिसा और सग्राम ऐसे परस्पर विरोधी अर्थ-वाचक शब्द हैं कि जिनका साथ-साथ उल्लेख करना एक विचित्र पहेली की रचना कर देना है। एक ओर गाँधी को जीवन में अहिंसा के दर्शन होते हैं और दूसरी ओर संघर्ष के। दोनों परस्पर विरोधी हैं फलतः इनमें साम्य कहाँ? पर गाँधी की दृष्टि में इनमें साम्य है और ऐसा साम्य है कि दोनों को एकात्म बना देता है। वह देखता है कि जीवन के मूल में शुभ और अशुभ का चिरंतन सघर्ष अन्तर्निहित है। सघर्ष की सफलता अशुभ पर शुभ की विजय में है और इसी में है जीवन की सार्थकता और सप्रयोजनता। अशुभ पर शुभ की विजय का अर्थ ही तो अहिंसा है। यह दृष्टि ही अहिसा और संघर्ष में न केवल साध्य-साधन का संबन्ध जोड़ देती है वरन् हिंसा पर अहिंसा की और पशुता पर मानवता की विजय को ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य निर्धारित कर देती है। फलतः गाँधी अहिंसा को अपनाता है और उसकी सिद्धि के लिये सघर्ष-शील होना जीवन का धर्म समझता है। निस्सन्देह लक्ष्य की सिद्धिका उसका साधन भी अहिसा ही है, अतः अहिसा को सक्रिय सजीव और प्रतिरोधात्मक रूप ग्रहण करना ही होगा। यदि ऐसा नहीं होगा तो वह कभी हिसा पर विजय प्राप्त न कर सकेगी। और जब तक अहिसा की विजय नही होती तब तक मानवता की विजय नहीं होती।

अहिंसा को संघर्षात्मक रूप प्रदान करके गाँधी ने जिस पद्धिति को जन्म दिया है वही अहिसात्मक असहयोग के रूप में जगत् के सम्मुख है। असहयोग के द्वारा गाँधी अन्याय और अनीति का, अशुभ

और पशुता का, हिंसा और दलन का प्रतिरोध करने का अहिंसात्मक पथ निर्माण करता है। हिंसा, अनीति और पशुता जीवन के किसी क्षेत्र में किसी दिशा की ओर से प्रवर्तित क्यो न हुई हो; व्यक्तिगत हो या सामाजिक, आर्थिक हो या राजनीतिक, सांस्कृतिक हो या नैतिक, जीवन का कोई पहलू क्यो न हो; जहाँ कहीं भी अशुभ और असत् का दर्शन हो वहाँ उसके प्रतिकार और प्रतिरोध के लिये अहिंसात्मक शस्त्र के रूप मे असहयोग का अवलम्बन गाँधी की नवीन प्रणाली है जो अपनी व्यापकता और सजीवता के कारण आधुनिक इतिहास के इस युग मे महत्वपूर्ण घटना के रूप मे घटित हुई है। असहयोग का स्थूल रूप तो यही है कि अशुभ और असद्-वृत्तियो से अथवा हिंसा और अन्याय का प्रजनन करने वाले किसी तंत्र या शक्ति से असहयोग का सर्वथा त्याग कर दिया जाय। साधारण बात है कि जन-समाज के सहयोग पर ही अन्यायी की हिंसा अथवा अन्याय फलता-फूलता है। यह सच है कि यह सहयोग स्वभावतः स्वेच्छापूर्वक नहीं होता। जो सहयोग देता है वह साधारणतः अन्यायी के भय से भीत हो कर ही देता है, पर अनिच्छापूर्वक ही सही उस सहयोग का परिणाम यही होता है कि हिंसा और अन्याय को खुल कर खेलने का मौका मिलता रहता है। यह भी सच है कि कुछ लोग स्वार्थ के वशीभूत होकर स्वेच्छा से सहयोग-प्रदान करते हैं। इस प्रकार अनिच्छा से हो या स्वेच्छा से, भय के कारण हो अथवा स्वार्थ के वश होकर हो, जन-समाज जो सहयोग प्रदान करता है उसी के फल-स्वरूप अन्याय, हिंसा, असत् और अशुभ जीवित बना रहता है।

फलत. उन वृत्तियो का पथावरोधन करने के लिये पहला कदम सहयोग-त्याग ही है। यही असहयोग का स्थूलरूप है, पर इसके साथ ही उसका सूक्ष्मरूप भी है। हिंसा अथवा अन्याय से असहयोग करने का निश्चय करने के पूर्व इसका सूक्ष्मरूप असहयोगी की मनोदशा में जो परिवर्तन होता है वह वास्तव मे सहयोग-त्याग करने के सक्रिय रूप से

कहीं अधिक महत्व पूर्ण है। असहयाग की भावना वह मानसिक स्थिति है जो मानसिक क्रान्ति की परिचायिका है। असहयागी जब असहयोग के लिये अग्रसर होता है तो प्रचलित व्यवस्था के सम्बन्ध मे न केवल उसकी धारणाएं परिवर्तित हुई रहती हैं, न केवल अन्याय अथवा अत्याचार का प्रतिकार करने की भावना सजग हुई रहती है, प्रत्युत वह उस भय और उस स्वार्थ का परित्याग करने के लिये भी कृत-निश्चय होता है जिसके कारण वह अब तक सहयोग प्रदान करता रहा है। यह मनोदशा ही उसे विद्रोह की ओर ले जाती है। विद्रोह हिंसात्मक हो अथवा अहिंसात्मक, विद्रोही के लिये भय और स्वार्थ का परित्याग पहली शर्त है। असहयोग की भावना जीवन को वह तत्व प्रदान करती है जो मनुष्य को भय और स्वर्थ का त्याग करने के लिये उत्प्रेरित करता है तथा उसमे अन्याय और अत्याचार का प्रतिरोध करने की प्रवृत्ति पैदा करता है। असहयोग का यही सूक्ष्म रूप है जो सारे सामाजिक जीवन को सामहिक रूप से आमूल आलोड़ित कर देता है। पर यह न समझिए कि गाँधी की अहिंसात्मक पद्धति का अन्त केवल सहयोग त्याग देनेमात्र मे हो जाता है। वास्तव मे असहयोग उक्त पद्धति का प्रथम सोपान है जिस पर आरूढ़ होना प्रतिरोध-प्रक्रिया का सूत्रपात करना है। अशुभ वृत्तियो का अवरोधन अथवा अन्यायी शक्तियो के प्रवाह का गतिरोध केवल सहयोग-त्याग से नहीं हो सकता। उसके लिये अहिंसा को प्रचण्ड शक्ति का कलेवर ग्रहण करके अग्रसर होना होगा। गाँधी अपनी योजना मे अहिंसा को वही रूप प्रदान करता है जिसका चरम विकास सत्याग्रह मे होता है। सत्याग्रह अहिंसक प्रतिरोध का वह स्तर है, जब वह विद्रोह की पताका फहरा कर आगे बढ़ता है। सत्याग्रह मे अहिंसक क्रान्ति-धारा का प्रचण्ड गर्जन है जो अशस्त्र अग्रसर होने के लिये सन्नद्ध होता है। और होते हुए भी विश्व की समस्त पशुबलाश्रित शक्तियो को

ललकारने का दृढ़ संकल्प ले कर बढ़ती है। सत्याग्रह मे गाँधी की वही बलवती अहिंसा मूर्तिमती हुई है। सत्याग्रह के बल का स्रोत मानव का अन्तर्जगत् है। मनुष्य के हृदय मे निसर्ग द्वारा प्रतिष्ठित अहिंसक शुभ वृत्तियो का निवास है, जो जीवन का भूषण है और जिनके फलस्वरूप मानव मानव हुआ है। सत्याग्रह मनुष्य की उन वृत्तियो के जागरण पर ही अवलम्बित है। सत्य और न्याय की आराधना के लिए त्याग और उत्सर्ग, निर्भयता और बलिदान का अर्घ्य ले कर जीवन जागरित और उत्थित हो, तथा अन्ततः तप और कठोर कर्मपथ पर अग्रसर हो यही सत्याग्रह की साधना है। इसी मे उसका बल और ओज है। मनुष्य की महिमामयी आत्मा के अक्षय शक्ति-भंडार की ओजस्विनी धारा जब अहिंसा को ओतप्रोत करती है, तब वह बल-सम्पन्ना हो उठती है। सत्याग्रह किसी स्थूल पार्थिव शस्त्र की सहायता नहीं ढूँढ़ता। उसे आततायी का विरोध करने के लिये अथवा अन्याय और दलन के विरुद्ध विद्रोह करने के लिये न खड्ग की अपेक्षा है और न खून की। पर जहाँ वह इन हिंसक साधनो का परित्याग करता है वहाँ उस अपार्थिव मानवीय अन्तश्शक्ति का अधिकाधिक आवाहन करता है जो जीवन में प्राण-संचार करती रहती है।

सत्याग्रही अपने पथ पर आरूढ़ होने के लिये भय का सर्वथा परित्याग कर देता है। बिना इसके वह सत्याग्रह का अवलम्बन कर ही नहीं सकता। सत्याग्रही वही हो सकता है जिसे अपने आदर्श की पूजा मे न अपने प्राण नाश का भय हो, न विरोध की पशु-शक्ति का और न किसी मदमत्त की उन्मत्त दाम्भिकता और घोर क्रूरता का। अभय, वीरता और लक्ष्य के लिये जीवन को आहुत कर देने की क्षमता और प्रवृत्ति लेकर ही सत्याग्रह की धारा प्रवाहित होती है। असत्य का बलपूर्वक परिपोषण करने के लिये पशुबल का संयोजन करके जो आगे बढ़ा हो, उसकी दृढ़ अवज्ञा की सजीव किन्तु निरस्त्र प्रतिमा बन कर उपस्थित होने का साहस ही तो सत्याग्रह का प्राण है। विचार कीजिए

कि यह तब तक कैसे सम्भव हो सकता है जब तक सत्याग्रह उपर्युक्त आन्तरिक और अलौकिक साधनों का आश्रय ग्रहण न करे। ये ही वृत्तियाँ हैं जो मनुष्य की शक्ति के मूल हैं। शक्ति का प्रयोग चाहे हिंसात्मक ढङ्ग से कीजिए अथवा अहिंसात्मक पद्धति से, पर उसका निवास वस्तुतः इन्हीं वृत्तियों में है। जड़ शस्त्रों म बल का अधिष्ठान नहीं है। शस्त्र-ग्रहण करने मात्र से न तो वीरता का प्रादुर्भाव हो जाता है और न उसके प्रयोग से पौरुष का प्रदर्शन हुआ मानना चाहिए। वीरता, पौरुष, शौर्य आदि अन्तर्वृत्तियाँ हैं, जिनके प्रस्फुरण के बिना शस्त्र लेकर भी शस्त्र का प्रयोग नहीं किया जा सकता। सशस्त्र व्यक्ति में भी यदि इनका अभाव होगा तो वह भी कायरता का ही प्रदर्शन करेगा। फलतः हिंसक शक्ति का सामना चाहे हिंसात्मक प्रणाली से किया जाय अथवा अहिंसात्मक पद्धति से मनुष्य की अन्तर्भूत शक्ति का उद्बोधन दोनों के लिये समान रूप से आवश्यक होता है। अहिंसक पद्धति के लिये तो इन भावनाओ का जागरण हिंसात्मक प्रणाली ग्रहण करने वाले की अपेक्षा कहीं अधिक आवश्य होता है।

शस्त्र लेकर विरोधी का सामना करने वाला यद्यपि मृत्यु का खतरा उठता है, फिर भी शस्त्र का सहारा लेने मे अपनी रक्षा करने की प्रवृत्ति और आशा स्पष्ट है। यदि किसी कारण उसका शस्त्र निकम्मा हो जाय अथवा हाथ से छूट जाय तो सम्भवतः वह पलायन करता ही दिखाई देगा। परन्तु सत्याग्रही के लिये उसका बल बलिदान की प्रवृत्ति में ही है। वीरता की दृष्टि से वह व्यक्ति कही अधिक वीर है जो निर्भय होकर मृत्यु का सामना करता है। अहिंसक पद्धति जहाँ उग्रतर और तीव्रतर हिंसा के सम्मुख विचूर्ण हो जाती है, जहाँ वह विरोधी के प्रति द्वेष और क्रोध लेकर बहुधा अग्रसर होती है और जहाँ ाजय के बाद या तो आत्मसमर्पण करती है या पलायन करने को होती है, वहाँ अहिंसक सत्याग्रह की शक्ति अतुलनीय होगी।

विरोधी का शस्त्र और उसका बल सत्याग्रही की वीरता और उसके शौर्य की असीमता को मापने में समर्थ नहीं हो सकता। अहिंसक पद्धति की इसी विशेषता की ओर गाँधी जगत् का ध्यान आकर्षित करता है जब वह कहता है कि "सत्याग्रह आत्मबल है जिसकी तुलना कोई शक्ति कर नहीं सकती। सत्याग्रह शस्त्र की शक्ति से कहीं अधिक उत्कृष्ट और बलवान् है। शस्त्र का प्रयोग करने वाला व्यक्ति उस साहस से परिचित नहीं होता जो सत्याग्रही मे निहित होता है। क्या कोई कायर कभी किसी ऐसे कानून की अवज्ञा कर सकता है जिसे वह नापसन्द करता हो? पर एक सत्याग्रही स्पष्टतः घोषित करता है कि वह किसी ऐसे विधान को स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं है जो उसकी आत्मा के विरुद्ध हो। यदि तोप के मुख पर रख कर उसके चिथड़े भी उड़ा दिए जायँ तो भी उसका मस्तक न झुकेगा। इसी कारण मैं सत्याग्रह को निर्बल का अस्त्र नहीं समझता। विचार कीजिए कि साहस कहाँ दिखाई देता है? तोप के पीछे खड़े होकर दूसरों को उड़ा देने में अथवा हँसते हुए तोप का सामना करने वाले में? सच्चा योद्धा कौन है? जो मृत्यु को आलिंगन करने के लिये तैय्यार रहता है वह अथवा वह जो शस्त्र के पीछे होकर दूसरों की मृत्यु का विधान करता है? मुझ पर विश्वास कीजिए जब मै कहता हूँ कि जिसमें मर्दानगी और साहस का अभाव होगा वह कभी सत्याग्रही नहीं हो सकता है।'

वस्तुत. बापू का तर्क अखण्डनीय है। जो प्राणो की आहुति डालने के लिये तत्पर हो जाय उसकी पराजय का तो प्रश्न ही नहीं उठता। आक्रमणकारी आखिरकार शस्त्र का प्रयोग क्यो करता है? उसका एकमात्र लक्ष्य यह होता है कि सब उसकी शक्ति का लोहा मान ले और यदि कोई उसे ललकारने की हिम्मत करे तो उसका मस्तक शस्त्रधारी के चरणो मे झुक जाय। शस्त्र-सम्पन्न व्यक्ति के बल की अक्षुण्णता की रक्षा इसी मे है और इसी मे उसकी विजय। पर जो

मस्तक झुकाना नहीं जानता उसके कट जाने से भी शस्त्रधारी के ल
की सिद्धि नहीं होती। सत्याग्रही मस्तक को हथेली पर लेकर च
है। ऐसा करते हुए वह जीवनोत्सर्ग का मार्ग अवश्य पकड़ता है
शक्ति और दम्भ के सामने मस्तक झुकाने से अस्वीकार करता
वह न केवल पशुबल की अवज्ञा करता है वरन् मृत्यु तक को तृण
मानता है। उसकी इस अक्षय अवज्ञा में असीम विद्रोह की ज्वाला :
स्पष्ट दिखाई नहीं देती? उस विद्रोहिणी ज्वाला का परिशमन सत
ग्रही के शीश की उच्छिन्नता से भला कैसे हो सकता है? सत्याग्रह
इसी विशेषता की ओर लक्ष्य करके गाँधी जी कहते हैं कि "सत्याग्र
के लिये पराजय का अस्तित्व ही नहीं है। शासन-सत्ता शस्त्र का प्रयो
करती है, क्योंकि पशुबल का आधार ग्रहण करना उसके स्वभाव
है। वह हुकूमत चलाना चाहती है। पर जन-समाज जहाँ आत्मब
का प्रयोग करना चाहता है वहाँ शासक की हूकूमत उसकी तलव
की नोक के परे नहीं जा पाती क्योंकि सत्याग्रही उसके अन्याय
सम्मुख झुकने से इनकार कर देता है। जो लोग मृत्यु की उपेक्षा क
सकते हैं वे भय से सर्वथा मुक्त हो जाते है। जो राष्ट्र मृत्यु की शय
बनाने के लिये सदा तत्पर रहता है वह महान् है।"

सत्याग्रह की कल्पना में इस प्रकार हम दो प्रवृत्तियों का उदय पा
हैं। सहयोग का त्याग और अटल तथा दृढ़ अवज्ञा। पूर्व के किसी
पृष्ठ में कह चुका हूँ कि बुराई करने वाले के लिये उसमें प्रवृत्त रहन
तभी तक सम्भव है जब तक उसे लोगों का सहयोग प्राप्त होता है
अत्याचार करनेवाले शोषकों और अधिपतियों की ऊँची अट्टालिक
शोषितों और पराधीनों के सहयोग पर ही आश्रित है। जहाँ सहयोग
नहीं है वहाँ आत्म-समर्पण है। आततायी की शक्ति से भयग्रस्त और
मोहाभिभूत आक्रान्त जन-समाज जब मस्तक टेके रहता है, तभी
किसी का दम्भ और उसकी प्रभुता प्रतिष्ठित रहती है। यह रोब
द‌ाबा और यह प्रतिष्ठा ही सरकारोंका आधार होती है जो व्यापक

रूप से प्रत्येक नर-नारी के हृदय पर छाई रहती है। कोई भी सरकार चाहे वह कितनी बलवती क्यों न हो, केवल पशुशक्ति के सहारे टिकी नहीं रह सकती। उसका आश्रय होता है उसका रोब। शासकवर्ग इस तथ्य से भली भाँति परिचित होता है और यही कारण है कि अपनी प्रतिष्ठा में तनिक भी ठेस का पहुँचना सहन नहीं कर सकता। उस प्रतिष्ठा की रक्षा में वह अपनी सारी शक्ति का उपयोग किया करता है। अब सत्याग्रह के स्वरूप पर दृष्टिपात कीजिए और आप देखेंगे कि सहयोग का त्याग और अवज्ञा किसी की स्थापित प्रतिष्ठा की जड़ हिला देने के लिये अमोघास्त्र है। असहयोग और सत्याग्रह का अवलम्बन करना वास्तव में प्रतिष्ठित तथा प्रभुतासम्पन्न सरकार की सारी पशु-शक्ति को चुनौती देना है। सरकार के किसी कानून या किसी आज्ञा के पीछे उसकी सारी शक्ति खड़ी रहती है। ऐसी आज्ञा की अवज्ञा करने का निश्चय जिस क्षण सत्याग्रही करता है, उसी क्षण वह किसी भी सरकार की धारा और कानून को, उसकी पुलिस और फौज को, उनके समस्त अस्त्र और शस्त्र को ललकारता है। क्या यह ललकार सरकारी रोब और दबदबे पर गहरी चोट नहीं पहुँचाती? जिस शक्ति के सहारे सरकारें खड़ी हों यदि उनकी अवहेलना करके कोई उनके सामने डट जाता है तो उनकी जड़ का हिल उठना निश्चित है। इस प्रकार सत्याग्रह शासन-यन्त्र के मौलिक आधार पर करारा आघात है।

उसका यह स्वरूप विशुद्ध विद्रोहात्मक है। विचार तो कीजिए। क्रान्ति क्या इसी को नहीं कहते? क्रान्ति स्थापित व्यवस्था की अवज्ञा का ही नाम है। अवज्ञा सङ्घर्ष का प्रजनन करती है। और विद्रोहियों का शस्त्र उस अवज्ञा का परिपोषण करता है। क्रान्ति यदि सफल होती है तो वर्तमान नष्ट होता है और उध्वस्त के आधार पर अभिवाञ्छित नव व्यवस्था स्थापित होती है। सत्याग्रह भी ठीक इसी क्रिया का सम्पादन करता है। वह अवज्ञा का पथ लेकर बढ़ता है और प्रचण्ड सङ्घर्ष का उद्भव कर देता है। अवश्य ही वह अहिंसक क्रान्ति का रूप

है, अत अपनी अवज्ञा के परितोषण के लिये किसी शस्त्र की आ
नहीं करता। वह परिपुष्ट होता है विशुद्ध उत्सर्ग से। क्रान्ति के
यज्ञ मे प्रसन्नतापूर्वक जीवन की आहुति डाल देना उसकी पद्धति
किसी के अस्त्र-शस्त्र, आतंक, बलशक्ति और दमन की परवाह उसे
हो सकती, क्योंकि उसका पथ ही त्यागमय है। परवाह करना तो
रहा वह तो अधिकाधिक उनका आवाहन करता है। उसकी विशे
ही यह है कि दमन का जितना ही अधिक प्रयोग किया जायगा उ
आग उतनी ही तीव्र भड़कती चलेगी। कष्ट-सहन और आत्मबलि
अधिकाधिक अवसर प्राप्त करके सत्याग्रही सेना जितना ही अ
स्वात्म-शुद्धि करती है, उतना ही अधिक उसका बल बढ़ता है। दू
ओर निहत्थो किन्तु आदर्श के लिये मर मिटनेवालो पर आतत
जितना ही अधिक बल प्रयोग करता है, उतना ही अधिक गिरता ज
है और उसकी नैतिक शक्ति का क्षय होता है।

इस अवसर पर अहिंसा की उपादेयता के सबध मे कति
प्रश्न किए जा सकते हैं। पूछा जा सकता है कि आततायी के सा
बिना शस्त्र के डट जाने से अन्यायी का क्या बनता बिगड़ता है?
उसके पथ का अवरोधन किया जा सकता है और कैसे अन्याय
न्याय की विजय हो सकती है? बिना शस्त्र के शस्त्रधारी का मुकाबि
करने की चेष्टा यदि वीरता हो भी तो उसमें बुद्धि का परिचय तो न
मिलता। अपना प्राण दे देने से लक्ष्य की सिद्धि कैसे हो जायेगी?
प्रश्न हैं जो बहुधा अहिंसात्मक सत्याग्रह के सम्बन्ध में उठाए जाते है
गाँधी इनका उत्तर देता है। उत्तर देते हुए वह कई बातों का आध
ग्रहण करता है। मनुष्य के स्वभाव की विशेषता, उसकी मानसि
स्थिति, जीवन सबन्धी वह नैतिक विधान जिसमें गाँधी विश्वा
रखता है, आदि कई बातो के आधार पर अपने उत्तर का निर्मा
करता है। पहले प्रश्न के जवाब में तो वह सीधे सीधे यह कह दे

कि अहिंसात्मक सत्याग्रह की पद्धति में किसी का कुछ बिगाड़ने की कल्पना ही नहीं हो सकती, क्योंकि वह भाव ही हिंसात्मक है। किसी का कुछ बिगाड़ने में द्वेष की दुर्गन्धि है और द्वेष से हिंसा का उद्भव होता है। इसी कारण अहिंसक पद्धति में यथा-सभव द्वेष का निराकरण करना अनिवार्य है। पर द्वेष को स्थान न देते हुए भी और अन्यायी का कुछ बिगाड़ने का भाव न रखते हुए भी अहिंसात्मक सत्याग्रह अन्याय का प्रतिरोध करने के लिये ही उत्पन्न हुआ है। उसमें अन्यायी का कुछ बना देने की भावना अवश्य सन्निहित है। सत्याग्रही अन्यायी को अन्याय के पथ से विरत करके उसकी शुद्धि कर देना चाहता है। गाँधी इस लक्ष्य की सिद्धि के लिये कोरे उपदेश से काम नहीं लेता प्रत्युत सात्त्विक सङ्घर्ष के द्वारा अन्यायी को इस प्रकार परिवर्तित कर देना चाहता है कि वह अनीति के पथ से पृथक् हो जाय। विरोध करते हुए बिना किसी प्रकार की हिंसा के स्वय कष्ट सहन के द्वारा मनुष्य के उन सात्त्विक भावो के उद्बोधन का प्रयास करता है जो स्वभाव से ही सत्य और नीति की ओर अभिमुख रहते हैं। गाँधी जी कहते हैं "मेरी अहिंसा मनुष्य और उसकी व्यवस्था के बीच में दोनो के पृथक्करण के लिये ज्वलंत रेखा खींच देती है। मैं अनैतिक और हानिकारक व्यवस्था का नाश बिना किसी सकोच के कर डालूँगा, पर मनुष्य का नहीं।"

मनुष्य का नाश करने में गाँधी अन्याय का नाश देखता ही नहीं। अन्याय करने की भावना और प्रेरणा मनुष्य की अन्तर्भूत मानसिक स्थिति है जिसे परिवर्तित किए बिना अन्याय का नाश नहीं हो सकता। अन्यायी स्वत उसी भावना का शिकार है जिसके विलोप के साथ-साथ उसकी शुद्धि अनिवार्य है। यही कारण है कि गाँधी अन्यायी का कुछ बिगाड़ने की भावना को अपनी योजना में स्थान नहीं देता। उसको बनाने की चेष्टा अवश्य करता है जो कष्ट-सहन और त्याग के द्वारा ही सभव प्रतीत होती है। हिंसात्मक दण्ड भी मनुष्य के सुधार

का उपाय माना जाता है, पर धीरे-धीरे यह बात स्पष्ट हो चली है कि वह पद्धति सुधार करने में तो सफल हो नहीं पाती पर प्रतिशोध की भावना का सर्जन अवश्य कर देती है। पूछा जाता है कि न्याय पर अन्याय की विजय स्वयं प्राण दे देने के लिये तय्यार होने से कैसे हो जायेगी और अशस्त्र हो कर शस्त्र का मुकाबला करने मे जो खतरा है उसे उठाने मे कौन सी बुद्धिमानी है? इन प्रश्नों का उत्तर देने के पूर्व क्या मै इन्ही प्रश्नो को उन लोगो के समुख उपस्थित नहीं कर सकता जो हिंसात्मक पद्धति का अवलम्बन करते है? हिंसा करके क्या अन्याय का पथावरोधन सदा किया जा सका है? शस्त्र लेकर विद्रोह करने वाले क्या अन्यायी और आततायी का सदा नाश करने मे सफल हुए है? एक नहीं दर्जनो ऐसे प्रमाण उपस्थित किए जा सकते है जब हिंसात्मक विद्रोह अन्यायी और उसके अन्याय को मिटाने मे असफल हो कर मिट गया है और फलस्वरूप अन्यायी के अन्याय को तीव्रतर कर गया है।

फिर ऐसे भी प्रमाण एक नही अनेक उपस्थित किए जा सकते हैं जब क्रान्तियॉ स्थापित अन्याय को मिटाने मे समर्थ होते हुए भी दूसरे अनेक अन्यायो का सर्जन करने का कारण हुई है। ऐसी स्थिति मे यह कैसे कहा जा सकता है कि शस्त्र उठाने का अर्थ होगा अन्याय पर न्याय की विजय स्थापित करना? प्राण दे देने मे बुद्धिमानी ढूँढने-वालो से भी क्या यही प्रश्न नहीं किया जा सकता है कि शस्त्र उठाकर शस्त्र का मुकाविला करने मे क्या प्राण देने का खतरा नही होता? उग्रतर हिंसा के सम्मुख निर्बल हिंसा सदा भयावने खतरे में पड़ जाती है। शस्त्र प्रबलतर शस्त्र के सामने सदा विचूर्ण हुआ है। सङ्गठित और अत्यधिक शक्ति-सम्पन्ना सरकारो को अथवा विदेशी आक्रमणकारियो का मुकाविला करने के लिये, यह जानते हुए भी कि शस्त्र-बल मे वे कहीं अधिक हैं, क्रान्तियाँ हुई है और निर्बल राष्ट्रो ने प्रतिरोध किया है। ऐसा करने में जानबूझकर प्राणो की आहुति डालनी पड़ी है। क्या

यही प्रश्न उनसे नहीं किया जा सकता कि यह जानते हुए भी कि विरोधी के शस्त्रबल के सम्मुख जब आपकी शक्ति का कोई महत्त्व नहीं था और जब यह जानते थे कि प्रतिरोध का अर्थ होगा प्राणो का नाश तो शस्त्र उठाने में और प्राण देने में कौन सी बुद्धिमानी थी? मै जानता हूँ कि उपर्युक्त प्रश्नो का उत्तर क्या दिया जा सकता है? कहा जायगा कि क्रान्ति यदि सफल होती है तो अन्याय मिट जाता है और इस आशा को लेकर ही खतरा उठाया जाता है। यह भी कहा जायगा कि अन्यायी अथवा आक्रमणकारी के बल को अपने से कहीं अधिक जानते हुए भी उसका प्रतिरोध करना पड़ता है, प्राणो की बलि चढ़ानी पडती है, क्योकि वही एकमात्र उचित और स्वाभिमान-सम्मत मार्ग होता है। पर यही तर्क अहिंसक सङ्घर्ष के लिए क्यो ग्राह्य नहीं प्रतीत होता। यदि अहिंसक प्रतिरोध करते हुए प्राण देना मूर्खता हो तो उससे कम मूर्खता अपने से कहीं अधिक बलवान् का सामना क्षीण बल के द्वारा करके प्राण देने में नहीं है। इस आशा से क्रान्ति का प्रतिरोध करना कि सफल होने पर वह अन्याय मिटा सकेगी, अवश्य उचित है पर वह भी प्रतिरोधियो और क्रान्तिकारियो की आशा से ही सम्बन्ध रखती है। बिल्कुल इसी प्रकार की आशा अहिंसक प्रतिरोधी भी करता है। वह भी समझता है कि उसका अहिंसक विद्रोह यदि सफल हुआ तो वह अन्याय मिटाने में समर्थ होगा। स्पष्ट है कि अन्याय का मिटना क्रान्ति की सफलता पर ही निर्भर करता है और इस सफलता की आशा लेकर ही क्रान्तिकारी अग्रसर होता है। कोई कारण नहीं है कि शस्त्र प्रतिरोध के हिमायती क्रान्तियो के इतिहास में अनेक बार उनकी सफलता देखने के बाद भी यदि उपर्युक्त आशा कर सकते हैं तो अहिंसक विद्रोह से वह आशा क्यो न की जाय, जो अपनी शक्ति और सम्भावना का परिचय पूर्णतः न दे सकने पर भी असफल सिद्ध हुई उद्घोपित नहीं की जा सकती। अबतक उसका पूरा प्रयोग नहीं किया जा सका है, पर जो किया गया है उतने में ही उसकी शक्ति और

सार्थकता का जो प्रमाण मिला है उसके आधार पर उपर्युक्त आशा करना अनुचित नहीं कहा जा सकता।

इन बातों के सिवा गाँधी के अहिंसक विद्रोह की गतिविधि पर ध्यान दीजिए। शासन-सत्ता के विरुद्ध यदि अदमनीय अवज्ञा का प्रजनन किया जायगा तो उसका परिणाम क्या होगा? यह सम्भव ही नहीं है कि शासनसत्ता अपने अधिकार की छोटी-सी अवज्ञा को भी चुपचाप सहन कर ले। अवज्ञा का आश्रय ग्रहण करते ही आप शासन-सत्ता के साथ प्रत्यक्ष सङ्घर्ष मे आ जाते हैं। जब सङ्घर्ष आरम्भ हो जाता है तो शासकवर्ग के लिये दो में से एक ही मार्ग खुला रह जाता है। पशु-शक्ति अवज्ञा की समाप्ति के लिये या तो सत्याग्रह का उन्मूलन कर देने पर तुल जायगी या उसके सामने घुटने टेक देगी। यदि दो शक्तियाँ भिड़ीं तो एक की पराजय होनी चाहिए और दूसरे की विजय, अथवा समय पाकर दोनों को परस्पर के झगड़े तय करने होंगे। सतत सङ्घर्ष की अवस्था सदा बनी नहीं रहती है। प्रश्न यह है कि सत्याग्रह के सङ्घर्ष का उन्मूलन क्या हिंसात्मक प्रतिरोध के उन्मूलन की अपेक्षा अधिक सरलता के साथ करना सम्भव होता है? गाँधी स्वय यह कल्पना करता है कि हिंसात्मक प्रतिरोध का उन्मूलन अहिंसात्मक सङ्घर्ष की अपेक्षा अधिक सरलता के साथ करना सम्भव होता है। अपने से सबल हिंसक शक्ति के सम्मुख हिंसात्मक प्रतिरोध का मिट जाना निश्चित होता है। पर सत्याग्रही सङ्घर्ष के सम्बन्ध में गाँधी की धारणा इसके सर्वथा विपरीत है। गाँधी की यह धारणा किसी विक्षिप्त की असङ्गत मानसिक उड़ान नहीं है। उसका आधार मनुष्य-जीवन और उसके स्वभाव की उन रहस्यमय तथा गूढ़ प्रवृत्तियों पर है जिनका दर्शन करने मे गाँधी सफल हुआ है। वह अहिंसक सङ्घर्ष का दमन असम्भव समझता है क्योंकि अहिंसक सङ्घर्ष का बल ही उत्सर्ग मे है। अशस्त्र-पाणि और हिंसारहित होकर भी अपने प्राणों का मोह परित्याग करके शक्ति और शस्त्र की उपेक्षा करनेवाले को पराजित

कौन कर सकता है? वह अपने रुधिर से और अपने बलिदान से दो तरफा वार करता है। एक ओर शस्त्र प्रहार करने के लिये उद्यत हुए व्यक्ति के शस्त्र की गति को रोक देता है और दूसरी ओर उत्तरोत्तर उसका नैतिक आधार क्षीण करता जाता है। निहत्थे के रक्त का पान करने के लिये कदाचित् विशेष साहस की आवश्यकता होती है। शस्त्र का प्रदर्शन करनेवाले के विरुद्ध जिस निस्सङ्कोच भाव से कोई शस्त्र का प्रयोग करता है, उसी भाव से वक्ष स्थल खोले हुए शस्त्रहीन व्यक्ति पर प्रहार करना सरल नहीं होता। इतने पर भी यदि प्रहार किया तो सत्याग्रही के बलिदान का बोझ उसके लिये असह्य हो जायगा। प्रकृति ने मनुष्य को ऐसा स्वभाव प्रदान किया है कि वह पशुभाव से आच्छन्न होते हुए भी उससे ऊपर उड़ने की सामर्थ्य रखता है। पाशविक उत्प्रेरणाओं की पाशविक प्रतिक्रिया मानवान्तर् मे होती है इसमे सन्देह नहीं, पर जैसे वह होती है वैसे ही मनुष्य की अन्तश्चेतना में मानवी भाव भी स्थित है जो तदनुकूल प्रेरणा पाकर उसी प्रकार प्रतिकृत हो जाता है। गाँधी मनुष्य-स्वभाव की इस विशेषता मे विश्वास करता है और उसी को आधार बनाकर अपनी अहिंसक पद्धति की रूप-रेखा चित्रित करता है। उसकी धारणा है कि मनुष्य को, चाहे वह कितना भी पाशव भावाकीर्ण क्यो न हो, यदि मानवीय भावो की उत्प्रेरणा प्रदान की जाय तो एक समय आवेगा जब उसका मानव अनिवार्यत. जागरित होगा। शस्त्रधारी का सामना यदि अशस्त्र होकर, अन्याय का न्याय से, आघात का उत्सर्ग से किया जायगा, तो यह सम्भव ही नहीं है कि अहङ्कार और क्रोध मे मत्त आक्रमणकारी भी उससे प्रभावित न हो और उसका सादृश जागरित न हो। यह सम्भव है कि सत्याग्रह के पथ पर आरूढ़ कुछ को, इसके पूर्व कि आक्रमणकारी में उपर्युक्त भाव जागरित किए जा सकें, अपने प्राणो की आहुति डालनी पड़े। पर यह जीवन उत्सर्ग न तो सत्याग्रह की पराजय का कारण होगा और न उसके उन्मूलन का। इसके विपरीत वह उत्सर्ग ही ऐसे वातावरण का

सर्जन करेगा जब आक्रमणकारी का नैतिक बल क्षीण होगा औ
सत्याग्रही की नैतिक शक्ति बढ़ जायगी।

इसी की ओर संकेत करके बापू कहता है "चर्चिल मुझे कुच
देना चाहते है, पर वे यह नहीं जानते कि अहिंसक सत्याग्रही
कुचलना सम्भव नहीं है; क्योंकि अपने भौतिक शरीर को बलि चढ़ा
वह आत्मा की स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने के लिये हर क्षण तैयार रह
है।" न्याय पथ पर आरूढ़ होकर जीवनोत्सर्ग की शिक्षा देनेवाली य
पद्धति इसी कारण अजेय है। जो यह समझता है कि अशस्त्र होक
आततायी के शस्त्र का शिकार होने मे व्यर्थ की प्राणहानि है औ
जो यह समझते हैं कि इस प्रकार मिट जाना ही तो पराजय है वे भू
करते हैं। सत्याग्रह की अभिनव पद्धति का तो यही बल है। जिन्हों
अहिंसा के इस स्वरूप को नहीं देखा है और जिन्होंने जीवन के उ
क्षेत्र का पर्यटन नहीं किया है जिसका स्पर्श उक्त अहिंसा करती है
उनके लिये यदि अहिंसक पद्धति की सजीवता तथा शक्ति की कल्पना
करना भी कठिन हो तो कोई आश्चर्य नहीं। थोड़ी देर के लिये यदि
यह स्वीकार भी कर लिया जाय कि आततायी का सदेश किसी के
प्राण देने से जागरित नहीं हो सकता तो भी उससे सत्याग्रह की शक्ति
मे कमी नहीं आती। भले ही आततायी का मानव जागृत न हो, पर
व्यापक जन-समाज का भाव और उनकी मानवीय शक्ति का उद्बोधन हो
ही जायेगा। परिणामतः सत्याग्रह की परिधि बढती चलेगी। आततायी
की अवज्ञा और उसका अहिंसक प्रतिरोध उग्रतर होता जायगा और
सङ्घर्ष उत्तरोत्तर तीव्र होता चलेगा। जहाँ आज जीवन को आहुत
करनेवाले थोड़े से लोग थे वहीं उनका स्थान ग्रहण करनेवाले कल कई
गुना अधिक दिखाई देंगे। दमन का वार और उत्सर्ग की शक्ति, दोनों
के घर्षण मे वह अग्नि पैदा होगी जिसमें आततायी का भस्म हो जाना
अनिवार्य है।

मनुष्य प्रकृत्या उत्सर्ग और त्याग मे विमोहक आभा और

उज्वल आलोक के दर्शन पाता है। वह सहज ही उसकी ओर आकृष्ट हो जाता है। भगतसिंह की गोली से सम्भव है साडर्स की हत्या हुई हो, पर जगत् को भगतसिंह के उस कार्य ने ही प्रभावित नहीं किया। उसकी मोहकता तो उन रस्सियो से ही उद्भूत हुई है जिसपर वह झूल गया। सैनिक रणस्थल मे अपना पराक्रम दिखलाता है, पर मानव-हृदय को साधारणत जो बात स्पर्श करती है वह यह नहीं कि उसने कितने शत्रुओं का वध किया वरन् यह है कि वह देश या धर्म के नामपर जीवन का होम कर देने के लिए आगे बढ़ा है। आदर्श के लिये, लक्ष्य के लिये, न्याय और सत्य के लिये, अपने को और अपने सर्वस्व को बलि चढ़ा देने के लिए जो भाव मनुष्य को उत्प्रेरित करता है और उस भाव से होकर वह जो त्याग करता है, उसमे जीवन की अन्तश्चेतना किसी सौन्दर्य की मोहकता की अनुभूति पाती है। यही कारण है कि वह अपने समूचे व्यक्तित्व से उसके द्वारा मुग्ध होता है। हिंसा का अवलम्बन करते हुए जो त्याग किया जाता है वह यदि मनुष्य को प्रभावित कर सकता है, तो क्या अहिंसक पद्धति के बिना किसी पशुता के विशुद्ध उत्सर्ग के पथ का आश्रय लेकर मानव हृदय के उन तारो को झंकृत करना सम्भव नहीं है? गॉधी की धारणा है कि उसका अनिवार्य परिणाम सिवा इसके दूसरा हो ही नहीं सकता। ईसा के समस्त उपदेशो और धार्मिक सिद्धान्तो में वह बल कहॉ है जो उन लोहे की कीलो मे है, जिसके द्वारा उन्हें टिकरी में रूँध दिया गया। सिद्धार्थ के जीवन का यह अंश ही क्या सब से अधिक प्रभावशाली नहीं है, जब वे अपने वैभव के साथ-साथ नव जात राहुल और मुग्धा यशोधरा का परित्याग करके चल पड़े थे? बुद्ध की महिमा और ईसा की महाप्राणता उनके उपदेशो में ही परिमित नहीं है। प्रत्युत उनके मूल में वह उत्सर्ग है जिसका उत्कर्ष ही उनके जीवन की उपर्युक्त घटनाओं में प्रदर्शित हुआ है। उसी के फलस्वरूप सहस्राब्दियो के बीत जाने पर भी आज बुद्ध या ईसा का साम्राज्य मानव हृदय पर छाया हुआ है।

सत्याग्रह मनुष्य जीवन के उसी अङ्ग का, उसके अन्तर के उसी अंश का स्पर्श करना चाहता है। सत्याग्रह के पथ में सत्याग्रह की आदर्शवादिता, उसकी निर्भयता, उसका बलिदान, उसका कष्ट-सहन, उसका तप जहाँ अन्यायी और शस्त्र पर अपनी शक्ति को अविलम्बित कर रखनेवाले आततायियों को प्रभावित करता है, वहीं व्यापक जन समाज के हृदय को उज्जीवित करके उन्हें पथारूढ़ बनाने का कारण हो जाता है। यदि आततायी प्रभावित न हो तो भी जागरित जन-समाज के प्रचण्ड संघर्ष के फलस्वरूप उसे या तो परिवर्तित होना पड़ेगा अथवा सिर झुकाने के लिये बाध्य होना होगा। भले ही आततायी पशुभावावलिप्त हो पर सत्याग्रही की निष्ठा से उसे जो मानवी प्रेरणा बार-बार मिलेगी उसके त्याग और तप से जिस पूत वातावरण का सर्जन होगा वह न केवल हिंसक के प्रत्युत जन-समाज के उज्ज्वलांश को एक न एक दिन उद्बुद्ध कर देगा। वस्तुतः हिंसा की पराजय उसी स्थिति में होगी, अन्याय का भवन धराशायी होगा और अहिंसा के द्वारा स्थापित, अहिंसा के आधार पर नव जीवन और नव जगत् की स्थापना हो सकेगी। इस प्रकार गाँधी जी की अहिंसक क्रान्ति केवल बाह्य व्यवस्थाओं के परिवर्तन की चेष्टा नहीं करती और न केवल आततायी का प्रतिरोधमात्र करके शान्त होना चाहती है वरन् उससे कहीं अधिक गहरे प्रवेश करने का प्रयास करती है। वह मनुष्य-जीवन के मूल में स्थित भावों को बदल देना चाहती है और इस प्रकार उस आधार को ही परिवर्तित करती है जिसकी प्रतिच्छाया ही बाह्य व्यवस्थाओं में अभिव्यक्त होती है। इसी कारण गाँधी जी कहते हैं कि "मैं भाव-परिवर्तन में विश्वास करता हूँ और यह मानता हूँ कि अहिंसा के द्वारा उसे प्राप्त किया जा सकता है। मुझे अंग्रेजों से द्वेष नहीं। मैं उनका मित्र हूँ और उनका हित चाहता हूँ। उनके हित और उनके उज्ज्वल हित के लिये ही यह आवश्यक है कि भारत को पराधीन बनाने वाली हिंसा पर स्थापित शैतानी सरकार का अन्त हो। मैं प्राण देकर

भी अंग्रेजो के हृदय परिवर्तन के लिए सचेष्ट रहूँगा।" युद्ध और संघर्ष तथा क्रान्ति की कल्पना को ही नहीं प्रत्युत व्यावहारिक रूप से उन सब को रक्त-पात हिंसा और द्वेष के भौतिक तथा पाशविक स्तर से ऊँचा उठा कर पुनीत और मानवीय नैतिक स्तर पर ले जाना अहिंसक-क्रान्ति-पद्धति की विशेषता है, जो संभवतः विश्व के इतिहास में बेजोड़ है। वर्णद्वेष, जाति और वर्गद्वेष, राष्ट्र और मानव-द्वेष की भयावनी आग में जलती वसुन्धरा के सम्मुख यही एक संदेश और मार्ग है, जो संघर्ष और युद्ध को भी रक्त से सने धरातल से ऊँचा उठा कर पावनता प्रदान करता है। आज इसी अहिंसा, असहयोग और सत्याग्रह की जिस पद्धति का प्रयोग बापू व्यापक और विस्तृत क्षेत्र में कर रहा है वह, न केवल व्यक्तिगत जीवन में अपितु सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक क्षेत्र में भी, सत्य और असहयोग की अहिंसात्मक पद्धति का आश्रय ले कर प्रश्नों के हल करने के उपाय और प्रयोग के रूप में जगत् के सामने है। आचार्य कृपलानी के शब्दों में कह सकते हैं कि "सत्य और अहिंसा को समस्त संघटित और सामूहिक जीवन के मूल में आधार के रूप में स्थित अनुभव करके गाँधी उसका प्रयोग राजनीति में कर रहा है। उस राजनीतिक क्षेत्र में प्रयोग कर रहा है जिसके सम्बन्ध में यह समझा जाता है कि वहाँ धूर्तता और पशु-बल ही अधिक उपयुक्त तथा सफल साधन है।" कहा जा सकता है कि राजनीतिक क्षेत्र में ऐसे सिद्धान्तों और ऐसी नीति का, जो अबतक उस दिशा में अप्रयुक्त रही हो, प्रयोग करना काल्पनिकता का ही परिचय देना है। पर गाँधी उन कोरे काल्पनिक सिद्धान्तवादियों में नहीं है जो यथार्थता की उपेक्षा करके केवल 'आदर्शवाद' को ग्रहण करते हैं और अपने सिद्धान्त की पवित्रता सोच-सोच कर सतुष्ट रहने में ही रस लेते हैं। वह उन सिद्धान्तवादियों में भी नहीं है जो अपने आदर्श को व्यावहारिक रूप देने का काम केवल देवताओं के भरोसे छोड़ देना चाहते हैं।

वह 'आदर्शवादी' है, पर आदर्श को व्यवहार में लाकर यथार्थ बनाना असम्भव नहीं समझता। वह स्वप्नाकाश में विचरण करते हुए भी ठोस और स्थूल धरती की मर्यादाओं से न अपरिचित है, न उसकी उपेक्षा करता है। विरोध, संघर्ष और विद्रोह के इतिहास में उसकी अहिंसक पद्धति नवीन धारा है। उस पद्धति की सुविचारित योजना उपस्थित करने में जहाँ वह सफल हुआ है वहीं उसका व्यावहारिक रूप बनाने में समर्थ भी हुआ है। उसकी दृष्टि में यदि आदर्श सत्य है तो उस सत्य की ओर सत्य मार्ग से जीवन का अभिगमन भी निश्चित होना ही चाहिए। इसी में जीवन की सार्थकता और आदर्श की दर्शनीयता है। यदि ऐसा नहीं होता और जीवन की धारा आदर्शाभिमुख हो ही नहीं सकती तो गाँधी की दृष्टि में उस आदर्श का कोई मूल्य ही नहीं है। यही कारण है कि आदर्श और व्यवहार में, साध्य और साधन में गाँधी भेद नहीं करता। वह मानता है कि जो आदर्श ऐसा हो जिसकी ओर जीवन गतिशील हो ही नहीं सकता, वह आदर्श ही मिथ्या है और उसके साथ-साथ जीवन भी वैसा ही है। इस दृष्टि को लेकर बापू सत्य और अहिंसा को आदर्श के रूप में ग्रहण करके उन्हें व्यावहारिक रूप प्रदान करता है।

फलतः ऐसा व्यक्ति जिसमें 'आदर्शवाद' और 'यथार्थवाद' का समुचित समन्वय हुआ हो और जिसके जीवन की विशेषता मन और शरीर, विचार और क्रिया की एकात्मता में प्रदर्शित हुई हो, वह अपने आदर्श को व्यावहारिक रूप प्रदान करते हुए बाह्य परिस्थितियों तथा जीवन की जटिलताओं के प्रति आँखें नहीं मूँद सकता। गाँधी भली भाँति जानता है कि राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र में सत्य और अहिंसा का प्रयोग अपनी विशेष कठिनाइयों से परिपूर्ण है। आज के जगत् में उन वर्गों का अस्तित्व और उनकी ही प्रभुता है, जो हिंसा के द्वारा हिंसा के आधार पर प्रतिष्ठित समाज और व्यवस्था से लाभ उठा रहे हैं। स्वभावतः ऐसे लोगों का स्वार्थ उस हिंसा में ही स्थिर

तथा निहित है। अतः जो उसके सहारे वैभव और प्रभुता, भोग और रस का आस्वादन आज के जगत् मे कर रहे हैं, वे कब और क्यो उसका परिवर्तन सहन कर सकेंगे? जो है उसे बनाए रखना ही उनका एक-मात्र लक्ष्य, उनकी एकमात्र नीति और उनका एकमात्र प्रयास होगा।

ऐसी स्थिति मे आधुनिक व्यवस्था के विरोधियो का समूल उन्मूलन करने के लिये समस्त उपलब्ध हिंसात्मक शक्तियो का आश्रय ग्रहण करने में वे कभी न चूकेंगे। अपने अस्तित्व को खतरे मे देख कर उसकी रक्षा करने के लिये नये-नये साधनो का सग्रह करते जायेंगे। संस्कृति, न्याय और मानवता आदि पुनीत शब्दो के आवरण मे अपना रूप छिपाने की भरपूर चेष्टा की जायगी। यदि आवश्यकता होगी तो भयावना आघात और दमन प्रवर्तित कर दिया जायगा। ऐसे लोगो से यह आशा करना कि वे केवल औचित्य और आदर्श के नाम पर कोरे उपदेश के सहारे अपनी दुनिया को उत्सर्ग कर देंगे, आत्म-प्रवचन के सिवा कुछ नहीं है। गाँधी यद्यपि मानव-जीवन के शुभाश मे विश्वास करता है, पर उस विश्वास का यह अर्थ नहीं है कि वह शुभ की सुषुप्त स्थिति की सभावना स्वीकार नहीं करता। वह यद्यपि विरोधी के हृदय-परिवर्तन की इच्छा रखता है, पर यह विश्वास नहीं करता कि वह परि-वर्तन आप से आप घटित हो जायगा। शुभ यदि धूमिल हो गया है, यदि उस पर अशुभ की प्रभुता छा गयी है, तो शुभ के जागरण के लिये, गाँधी, अशुभ से सघर्ष अनिवार्यतः अपेक्षित और आवश्यक समझता है।

यही कारण है कि उसकी अहिंसा सघर्षात्मक रूप ग्रहण करके अवतरित होती है। इस सघर्ष का बोझ भी किसी न किसी को उठाना होगा और गाँधी अपनी योजना में इस भार को वहन करने के लिये योग्य तथा उचित वर्ग को खोज निकालता है। सघर्ष उन्हीं को करना होगा जो आज की दुनिया द्वारा दलित, पीड़ित और सताए हुए हैं। जिनके वक्षःस्थल पर अन्याय और अत्याचार का नर्तन हो

रहा है, जो धरती पर गिरे हुए लोट रहे हैं, उन्हीं से यह आशा की जा सकती है और उन्हीं का यह कर्तव्य होगा कि वे उठें और अपनी दुनिया को बदल दें। गाँधी इसी वर्ग का आवाहन करता है। उपनिषदों की वीरवाणी पुकार-पुकार कर कहती है "उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।" असहाय, निरुपाय, निर्दलित और आबद्ध जनवर्ग को उठने-जागने और लक्ष्य प्राप्त किए बिना शान्त न होने के लिये मानवता का नैतिकभाव सदा आवाहन करता रहता है। बापू स्वयं इस युग में उस चिरन्तन भाव की पुकार है, वह ध्वनि है जो तमोभिभूत मोह-विभ्रान्त मानव को निर्भय होकर अपने पैरों पर खड़ा होने के लिए आमन्त्रित करती है।

गाँधी उन लोगों का आवाहन भी उपर्युक्त संघर्ष में सम्मिलित होने के लिये करता है जिनका नैतिक भाव सहज ही जागरित है और जो अन्याय तथा अनीति का प्रतिरोध करना जीवन का धर्म समझते हैं। संघर्ष के लिए उत्थित जन-वर्ग को सत्य और अहिंसा का आधार प्रदान करके गाँधी धर्म-युद्ध का व्यूहन करता है और इस प्रकार अशुभ से युद्ध-योजना की रचना करता है। फलतः यह समझना भूल है कि राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र में अहिंसा के प्रयोग की पद्धति उपस्थित करने की कल्पनामात्र करके बापू विशुद्ध काल्पनिक विचारक का अभिनय कर रहा है। वह अहिंसक संघर्ष के द्वारा ऐसी क्रान्ति चाहता है जो उस नई दुनिया का निर्माण करे जो हिंसा से अनाक्रान्त हो और जहाँ मानव स्वतन्त्र हो सके। अशुभ से संघर्ष करने के लिये वह दलितों को उठाता है पर उठाता है इस प्रकार कि वे शुभ को लेकर उत्थित हों। अहिंसक क्रान्ति की अपनी विशेषता होती है। जिस युद्ध में अशस्त्र होकर जगत् की सारी पशुता का सामना निर्भयता पूर्वक करना हो, जिसमे विरोधी के प्रति भी यथासम्भव प्रतिशोध या द्वेष के भाव को उद्‌बुद्ध न होने देना हो और जिसमें स्वयं कष्ट-सहन करके उत्सर्ग के पथ की यात्रा करनी हो,

जिसमें बलिदान ही बल हो उस पद्धति का अवलम्बन करने वाले सैनिक में विशेष-शक्ति और गुणों की आवश्यकता स्पष्ट है।

यही कारण है कि अहिंसक रणयोजना मे उसके प्रवर्तक द्वारा सत्याग्रही सैनिक के मनोबल और चरित्रबल पर अत्यधिक जोर डाला गया है। सभी प्रकार की क्रान्तियो की भाँति गाँधी की अहिंसक क्रान्ति की कल्पना मे भी क्रान्ति का सूत्रपात पहले मानव के अन्तर् में होना आवश्यक है। यह समझना भूल है कि क्रान्ति केवल बाह्य कारणो के फलस्वरूप बाह्य में ही घट जाती है। यह सत्य है कि जब परिस्थितियाँ असह्य हो उठती हैं तो उनके परिणाम स्वरूप बहुधा क्रान्ति हो जाती है, पर यह सत्य नहीं है कि परिस्थितियाँ जबतक असहनीय नहीं होतीं तबतक क्रान्ति होती ही नहीं। क्रान्तियो के इतिहास का अध्ययन कीजिए और आप देखेंगे कि अति विकट और असहनीय स्थिति के रहते हुए भी क्रान्ति नहीं हुई और ऐसे समय जब परिस्थितियाँ अपेक्षाकृत उन्नत हो गयी थीं वे घट गयीं। यह बात सिद्ध करती है कि क्रान्तियों का कारण केवल भौतिक नहीं हुआ करता और न केवल ये विशुद्ध भौतिक घटनामात्र है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि क्रान्ति केवल वही वर्ग करता है जो स्थापित व्यवस्था से त्रस्त तथा निर्दलित होता है। इसके विपरीत हम यह पाते हैं कि क्रान्ति का नेतृत्व करने वाला वर्ग बहुधा वह रहा है जो स्थापित व्यवस्था से परिपालित था, जिसका स्वार्थ उसी में सन्निहित था और जिसके हितो की रक्षा के लिये ही उक्त व्यवस्था परिचालित थी।

ऐसे ही वर्गों में से क्रान्तिकारी निकले हैं जिन्होंने अपनी ही व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह की पताका फहराई है। जो लोग वस्तुत. उत्पीडित थे, जिनके अधिकार और हित का निर्दलन होता रहा है तथा जिनकी रक्षा के लिए क्रान्तियाँ की गयीं, वे या तो सोते रह गए या नेताओं का अनुगमन करने में ही तुष्ट रहे। इस स्थान पर क्रान्तियों

के इतिहास की विवेचना करना मेरा लक्ष्य नहीं है, पर निर्विवाद रूप से इतना अवश्य कहा जा सकता है कि असह्य बाह्य परिस्थितियों के सिवा अनेक अमूर्त और अदृश्य कारणों के फलस्वरूप ही क्रान्तियाँ होती रही हैं। आज भी ऐसा ही होता है और भविष्यत् में भी ऐसा ही होता रहेगा। यह होते हुए भी एक बात समानरूप से जो सर्वत्र मिलती है, और चाहे जहाँ, जब, जिस युग में भी क्रान्तियाँ हुई दिखाई देती हैं, वह यह है कि क्रान्ति का सूत्रपात पहले मनुष्य के मानसिक क्षेत्र में, उसकी कल्पना और उसके विचारों में ही होता है, जो व्यावहारिक रूप ग्रहण करके, काल पाकर, महती सक्रियता और प्रचण्ड उलट-पुलट में मूर्त होता है।

भौतिक परिस्थिति असह्य हो या न हो पर समाज और जीवन सम्बन्धी कल्पना जब बदल जाती है, जब प्रचलित धारणाओं और परम्पराओं के औचित्य के सम्बन्ध में विचार बदल जाता है, जब अधिकारों और कर्तव्यों की नई व्याख्या हृदय में होने लगती है और जब उन बातों का मूल्य, जिन्हें जीवन में हम मूल्यवान् समझते हैं बदल जाता है तब जनवर्ग का मानस विक्षुब्ध हो जाता है। नए विचारों के आधार पर उद्भूत नई कल्पना से पूर्णतः विपरीत स्थिति पाकर मनुष्य के अन्तर् का विचलित हो उठना स्वाभाविक है। मन की यह क्रान्ति ही वास्तव में विद्रोह का प्रजनन करती है; क्योंकि "क्या है और क्या होना चाहिए" सम्बन्धी धारणा और विचार मन में ही उपजते हैं जो क्रान्ति के अग्रदूत तथा प्रवर्तक होते हैं। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि जीवन के मूल्य का अङ्कन करने वाले प्रचलित नैतिक आदर्शों का परिवर्तन और नए आदर्शों की हृदय में स्थापना से ही क्रान्तियाँ होती है।

क्रान्ति-विज्ञान के इस मौलिक तथ्य से गाँधी परिचित है। यही कारण है कि उसकी पद्धति में मनुष्य की मानसिक क्रान्ति को

प्रमुख पद प्रदान किया है। जो त्रस्त और विताड़ित तथा पददलित हैं, उनके हृदय को पुनरुज्जीवित करने और विद्रोही बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उनके मानसिक क्षेत्र मे क्रान्ति कर दी जाय। जीवन का मूल्य आँकने वाले नए आदर्शों की कल्पना को जागरित करना ही उसका एकमात्र उपाय है। गाँधी उनके नैतिक भाव को उद्बुद्ध करके इस लक्ष्य की पूर्ति करना चाहता है। नैतिक भाव के जागरण से ही जन-समाज प्रचलित निर्दलन और अन्याय-मूलक व्यवस्था को अनैतिक समझेगा। उसी अवस्था मे उसके लिये यह अनुभव करना सम्भव होगा कि अन्याय करने वाले की अपेक्षा वह अधिक पापी और पतित है जो चुपचाप अन्याय के सम्मुख शिर झुका देता है अथवा अन्यायी को सहयोग प्रदान करता है। अन्याय के अस्तित्व का उत्तरदायित्व जितना आततायी पर है, उससे अधिक उन पर है जो उसे सहन कर लेते है और बिना प्रतिरोध के उस धारा को अबाध प्रवाहित होने देते है।

स्पष्ट है कि नैतिक भाव का जागरण तथा तदनुकूल आचरण करने की क्षमता उन्हीं मे हो सकती है जिनकी आत्मा बलवती हो और जिनके चरित्र का विकास हो चुका हो। पशुबलाश्रित शक्तियो का विरोध करने के लिये जिन्हें उठना है, उनमें उन समस्त मानवीय गुणों का उदय होना नितान्त आवश्यक है जिनसे जीवन शोभित होता है। जन-समाज जब सङ्गठित और बलशील हो, जब व्यक्तिगत जीवन भेद-भाव, भय, स्वार्थ तथा तुच्छ हितो के सम्पादन की इच्छा से दूर हो चुका हो, तभी वह सुदृढ़ रूप से सङ्गठित होकर शक्ति-लाभ कर सकता है। अशुभ और कलुष शक्तियो से असहयोग करने की क्षमता साधारण बात नहीं है और न प्रचण्ड पशु-शक्ति के सम्मुख जीवन को हथेली पर रखकर खड़ा हो जाना ही सरल है। सत्य और न्याय के लिये स्वेच्छापूर्वक कष्ट का आलिङ्गन करने को अग्रसर होना मनुष्य के नैतिक और आध्यात्मिक विकास का ही द्योतक है। सत्याग्रही यदि

उपर्युक्त पथ का यात्री है तो निस्सन्देह उसमें चरित्रबल की अनिवा आवश्यकता है।

पुरुषार्थ, साहस, वीरता, निर्भयता, बलिदान, तप और स्वावलम्बन नियन्त्रण और सङ्गठन आदि प्रवृत्तियो के उदय पर गाँधी इसी लि जोर देता है। वह अहिसक प्रतिरोधी के लिये यह आवश्य समझता है कि उसमे आदर्श-पूजा और श्रद्धा तथा विश्वास क प्रकाश फैले। जब तक यह न होगा तब तक अशुभ और अमान वीय भावो के विरुद्ध, केवल इसलिये नहीं कि अन्याय औ अत्याचार द्वारा हम सताए हुए हैं बल्कि इसलिये भी कि अन्याय क आधार हिंसा है और वह स्वय अनैतिक है, प्रतिरोध करने लिये उठ खड़ा होना सम्भव न होगा। चरित्र का विकास औ चरित्र का बल उन सबके लिये आवश्यक होता ही है जो अत्याचा के विरुद्ध उठने की हिम्मत करते हैं। न्याय के लिये ही नहीं वर स्वार्थ के लिये भी जब शस्त्र उठाया जाता है तब शस्त्र उठानेवाले हृदय में साहस, वीरता, नियन्त्रण, निर्भयता आदि गुणो का उद एक सीमा तक आवश्यक होता ही है। सैनिको की शिक्षा-दीक्षा का हे उनमे उपर्युक्त भावो का जागरण करना ही होता है—फिर अहिसात्म सङ्घर्ष के लिये तो अहिंसक सैनिक मे उनकी आवश्यकता अपेक्षा कहीं अधिक होना अनिवार्य है।

जिस सङ्घर्ष मे आत्मबल ही मुख्य हो, जिसमे हिंसा का सामन प्रतिहिसा-शून्य होकर करने की योजना हो और जिसमे प्रतिरो प्रतिशोधहीन होकर करने मे ही सफलता की आशा की जाती उसमें लिप्त सैनिक मे अक्षुण्ण निर्भयता, अदम्य साहस तथा आद के प्रति अविचल श्रद्धा और विश्वास की कितनी आवश्यकता इसकी कल्पना सहज में ही की जा सकती है। इसी कारण हम य देखते है कि अहिंसक युद्ध की योजना मे चरित्र की शुद्धि और विका को आवश्यक और प्रमुख अंश माना गया है। चरित्र के विका

बिना न वह मानसिक क्रान्ति सम्भव है जिसकी सृष्टि गाँधी करना चाहता है, और न तदनुकूल आचरण करने की क्षमता ही प्राप्त हो सकती है कि जिसके द्वारा वह जगत् को परिवर्त्तित करना चाहता है। फलत गाँधीजी व्यक्तिगत चरित्र की ओर अधिकाधिक ध्यान देने की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हैं। हम बार-बार यह सुनते हैं कि आत्म-समीक्षा करो। दूसरो की अपेक्षा अपनी ओर देखो, अपने दोषों का परिहार करो और अपने चरित्र का विकास करो। अपनी आत्मा का अवलम्बन करो, अपने बल का भरोसा करो और आत्म-शुद्धि के द्वारा उस बल का सञ्चय करो जिसका आश्रय ग्रहण करके ही अहिंसक सङ्घर्ष का सूत्रपात किया जा सकता है।

स्मरण रखना चाहिए कि असहयोग तथा अप्रतिहत अवज्ञा के रूप में अहिसक सङ्घर्ष को व्यापक विद्रोह में परिवर्त्तित कर देना बापू की कल्पना है, जिसके द्वारा वह उन समस्त वर्गों, शक्तियो, व्यवस्थाओं और विधानो तथा विचारो को भी ललकारना चाहता है जो हिंसा तथा स्वार्थ पर, कामना तथा भोग पर, अन्याय तथा अनीति पर स्थापित हैं। उसकी अहिंसा से जो अध्यात्म-साधन करना चाहते हैं वे प्रसन्नतापूर्वक वैसा कर सकते हैं और उनके लिये स्थान भी है, पर गाँधी की अहिंसा ऐहिक जगत् की समस्याओ के सुलझाने के लिये समाज की अनीति-मूलक व्यवस्थाओ को परिवर्त्तित करने के लिये, पददलितों और शोपितो के पुनरुज्जीवन के लिये और मानवता पर आए सांस्कृतिक सङ्कट को टालने के लिये सजीव साधन के रूप मे प्रस्तुत है। उस साधन को ग्रहण करने वाले में पात्रता की आवश्यकता होगी ही। सैनिक में आत्मा और चरित्र का वह बल हो जो उसे अपने ऊपर अधिकार स्थापित करने की क्षमता प्रदान करे। आत्म-शासित मानव ही अपनी वसुन्धरा को मानवीय और पुनीत बना सकेगा।

यही है गाँधी की शैली जिसका प्रयोग वह व्यापक राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र में कर रहा है। अपनी नवीनता और अभिनवता

के कारण वह लोगों की समझ में न आती हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। मनुष्य का स्वभाव शंकाशील होता ही है। इसके सिवा अपने परम्परागत धारणाओं के बन्धन से मुक्त होना भी बहुधा सरल नहीं हुआ करता। जिस प्रणाली को लेकर बापू सामने आया है वह आधुनिक जगत् की विचारधाराओं के सर्वथा प्रतिकूल है अत. उसे कठगत करने में कठिनाई का अनुभव होता ही है। जहाँ यह समझा जाता हो कि राजनीति में धूर्तता पाखंड और पशु-शक्ति का ही बोल-बाला है और उसी का सहारा लेकर सफल होने में राजनीतिज्ञता है, वहाँ बापू के नैतिक प्रयोग को भली भाँति समझ लेना दुष्कर हो जाता है। यूरोप के लिये तो उसे समझना और भी कठिन हो जाता है क्योंकि बापू में जिन भावों का उदय हुआ है वे वही हैं जो सहस्राब्दियों के सांस्कृतिक इतिहास में पूर्व के मानस-क्षितिज पर उदय होते, उत्तरोत्तर आरोहण करते और परिपुष्ट होते गए हैं। यूरोप की धारा अबतक परिपक्व स्थिरगति को प्राप्त नहीं कर सकती है। उसकी अल्प-वयस्क शिशु-संस्कृति गत पाँच-छ शताब्दियों में कतिपय पलटा खाने के बाद जिस दिशा की ओर चल पड़ी उधर दुर्भाग्य से ऐसे विचारों के अकुरित होने के लिए उर्वर क्षेत्र था ही नहीं।

फिर भला यूरोप के विद्वान् तथा नायक पत्रकार और राजनीतिज्ञ यदि उसे समझने में असफल हो, उसके पथ के सबन्ध में नितान्त भ्रम में रहें और उसकी पद्धति का गलत स्वरूप समझे तो इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है। यूरोप की बात तो जाने दीजिए, इस देश के ऐसे लोग भी जिनके व्यक्तित्व के बाह्याभ्यतर पर यूरोप छा गया है और जो भारतीय कलेवर रखते हुए भी यूरोप से उद्भूत ध्वनि, धारणा तथा सस्कार से प्रभावित और ओत-प्रोत है, भ्रम में पड़ जाते हैं। ऐसे लोग बहुधा अपना भ्रान्त मस्तिष्क लेकर गाँधी की पद्धति पर दृष्टिपात करते हैं और उसकी व्याख्या करते हुए उसके वास्तविक रूप को नहीं, प्रत्युत अपने भ्रान्त अन्तःकरण की विकृत छाया को ही अभिव्यक्त कर देते हैं।

अहिंसक क्रान्ति का रचनात्मक पहलू

सभी क्रान्तियो के सदा दो अङ्ग हुआ करते है। उसका एक स्वरूप ध्वसात्मक होता है जो वर्तमान का सर्वथा उन्मूलन और नाश करने के लिये अग्रसर होता है। क्राति का जब यह स्वरूप प्रकट होता है तब वह रक्त का परिधान पहन कर प्रचण्ड हाहाकार करती आगे बढ़ती है, और जो सामने पडता है उसे उखाड़ फेकती हुई चतुर्दिक् विनाश का दृश्य उपस्थित कर देती है। पर क्रान्ति का यही एक स्वरूप नहीं है। उसका दूसरा अङ्ग भी है जो रचनात्मक होता है। विनष्ट वर्तमान के शव पर नव का निर्माण करना भी उसका काम होता है। बिना इन दोनों अङ्गों की पूर्ति के कोई क्राति सर्वांश में सफल नहीं कही जा सकती। सफलता तो दूर रही यदि क्रान्ति तोड़-फोड़ करने के बाद नव की रचना न कर सके तो फिर वह पूर्णत असफल कही जाती है। इसी कारण क्रान्ति के दूसरे अङ्ग को पहले की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण और आवश्यक मानना पड़ता है। एक पथ है और दूसरा है लक्ष्य। क्रांति रक्तवर्णा होती है, जब वर्तमान असह्य हो जाता है, जब प्रचलित धारणाओ, कल्पनाओ और विचारो मे मौलिक परिवर्तन हो जाते हैं, जब वर्तमान का मूल्य समाज की दृष्टि में बदल जाता है और जब नवोद्भूत कल्पना और विचार तथा स्थापित व्यवस्था के वीच गहरी खाई उत्पन्न हो जाती है तब क्रान्ति का सूत्रपात अपेक्षित हो जाता है। नवोत्पन्न मानसिक कल्पना को मूर्त रूप प्रदान करने के लिये समाज में गहरी विकलता और उग्र उत्कण्ठा उत्पन्न हो जाती है, पर यह तव तक सभव नहीं होता जब तक बने-बनाए ढाँचे को मिटा न दिया जाय। जो वर्तमान के अधिकारी होते हैं वे परिवर्तन की भावना का प्रतिरोध करने पर तुल जाते

हैं। फलतः भविष्य और वर्तमान का संघर्ष अनिवार्य हो जाता है और यही क्रान्ति की वेगवती तथा विनाशिनी धारा के रूप में प्रकट होता है। परन्तु इस धारा का प्रवाह न लक्ष्यहीन होता है और न निष्प्र-योजन। क्रान्ति यदि विनाश का पथावलम्बन करती है तो उसका लक्ष्य भी रचनात्मक ही होना चाहिए और यदि वह लक्ष्य की पूर्ति न कर सके तो उसकी सफलता भी नहीं कही जा सकती। अतः यदि क्रान्ति का प्रवर्तन हो तो यह आवश्यक और वाञ्छनीय है कि वह अपने दोनों रूपों में अभिव्यक्त हो।

गाँधी की अहिंसक क्रान्ति भी अपने इन दोनों रूपों मे ही जगत् के सामने प्रस्तुत है। उसके एक अग का विवेचना पूर्व के पृष्ठों में की जा चुकी है, पर उसके दूसरे अग पर भी दृष्टिपात किए विना उसकी समीक्षा पूरी न होगी। अहिंसक क्राति सङ्घर्षात्मक और आक्रमणा-त्मक सत्याग्रह के रूप में जहाँ एक ओर आज की व्यवस्था को उलटने-पलटने का प्रयास करती है वहीं दूसरी ओर नए समाज की रचना करने के लिये भी सचेष्ट है। वह ऐसे समाज की रचना करना चाहती है जिसमें उसे मानवता का अभ्युदय, श्रेय और उत्कर्ष दिखाई देता है। पूर्व के पृष्ठो मे बताया जा चुका है कि गाँधी की दृष्टि ढूँढ़ती है कि मानवता पर आए सङ्कट का और उसकी आधुनिक दुर्दशा, पीड़ा तथा अपकर्ष का मूल कारण क्या है? वह मानता है कि मनुष्य का पशु न केवल जागरित है अपितु अधिकारारूढ़ है; अत मनुष्य अपने नैतिक और अहिंसक पथ से विरत हो गया है, जिसके फलस्वरूप उसकी सारी व्यवस्था और सस्कृति हिसा तथा अनीति पर स्थापित हो गई है। मनुष्य को आज अपने इसी रूप और व्यवस्था के प्रति विद्रोह करना है, हिंसा पर जो स्थापित है उसे मिटाना है और इस प्रकार मिटाना है कि वह अपने सारे आधार के साथ मिट जाय। जो मिट जाय उसके स्थान पर ऐसी नई व्यवस्था की स्थापना भी करनी है जिसकी मूलवृत्ति अहिंसा हो। फलत अहिंसक क्रान्ति की कल्पना जहाँ सत्या-

ग्रह तथा असहयोग के रूप मे संघर्षात्मक होकर अवतरित होती है वहीं गाँधीजी का आर्थिक रचनात्मक कार्यक्रम उस विधायक कल्पना का प्रतीक है जिसे सजीव, मूर्त्त और व्यावहारिक रूप देकर वह अहिंसक समाज की स्थापना का स्वप्न देखता है। जैसे विद्रोह और सङ्घर्ष के क्षेत्र मे अहिंसा का प्रयोग सत्याग्रह के रूप मे सामने आता है वैसे ही नए समाज की रचना अहिंसा के आधार पर करने का प्रयोग रचनात्मक कार्यक्रम के द्वारा किया जा रहा है। उस कार्यक्रम के पीछे मूल-भावना क्या है इसकी विवेचना आगे की जायगी, पर यहाँ उसकी एक विशेपता की ओर ध्यान आकृष्ट कर देना आवश्यक ज्ञात होता है। गांधीजी की सारी शैली की विशेपता यह है कि वह सघर्ष और विनाश तथा सघटन और निर्माण की दोनो प्रक्रियाओ को साथ-साथ लेकर चलती है। जगत् में अवतक जहाॅ वहीं भी क्रान्ति हुई है, वहाॅ पहले विनाश की प्रक्रिया चरितार्थ की गयी और उसकी पूर्ति के अनन्तर निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया गया। क्रान्ति के इस स्वरूप मे जो दोष है वह सहज ही दृश्य है, जिसे इतिहास के पृष्ठो पर दृष्टिपात करते ही आप देख सकते हैं।

क्रान्तियो का अध्ययन कीजिए तो आप देखेंगे कि विद्रोह जब एक बार भडकता है तो इधर-उधर आँखें मूॅद कर तोड़-फोड करता है, पर जब विनाश की प्रक्रिया समाप्त हो जाती है तो बहुधा उसके बाद क्रान्ति की धारा रुकती हुई, रुक कर पङ्किल होती हुई और अन्ततः सूखती हुई दिखाई देती है। स्थापित वर्तमान को मिटाने का कार्य तो वह बहुधा सम्पादित कर देती है, पर नवीन की स्थापना का लक्ष्य अक्सर अधर में ही लटकता रह जाता है। यह भी देखने में आता है कि बहुधा क्रान्ति के गर्भ से ही ऐसी शक्तियो का प्रजनन हो जाता है, जो उसके सारे किए-कराए को मटियामेट करके स्वय उसी को उदरस्थ कर जाती हैं। इतिहास में थोड़े-बहुत ऐसे उदाहरण भी मिलते है जहा क्रान्ति ने विनाश के बाद निर्माण-क्रिया का सूत्र अपने हाथो

मे लिया है और रचनात्मक पथ पर वेग से बढ़ चली। इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण रूस की बोल्शेविक क्रान्ति है, जिसने स्थापित-व्यवस्था को समूल छिन्न भिन्न करके अधिकार-सत्ता अपने हाथो में ली और तब से निरन्तर नव-समाज की रचना के कार्य मे संलग्न है। रूसी क्रान्तिकारियों के पास सौभाग्य से लेनिन के समान कर्मठ नेता था, स्टालिन के सदृस अनुयायी था, मार्क्स द्वारा प्रवर्तित समाजवादी आदर्श था और नेता तथा आदर्श से अनुप्राणित तथा उत्प्रेरित वह भावाना थी जिसने रूसी क्रान्तिकारियों को पथावलम्बी बना दिया।

ऐसे और भी कतिपय उदाहरण उपस्थित किए जा सकते हैं। पर इन उदाहरणों मे भी दो बाते मुख्यरूप से स्पष्ट दिखाई देती है। पहली तो यह कि क्रान्ति के विधायक रूप का दर्शन तबतक होता ही नहीं जबतक क्रान्तिकारी वर्ग शासन-सत्ता पर अपना अधिकार स्थापित नहीं कर लेता। दूसरी बात यह है कि भयावनी हिंसा, रक्तपात और बलिदान के बाद सफल हुई क्रान्ति के अधिकारारूढ़ होने पर भी वर्षों का समय अपना पैर जमाने में लग जाता है। कभी कभी तो इसमे इतना समय लग जाता है कि वह आरम्भिक भावना, प्रेरणा, आदर्श-वादिता और प्रवृत्ति शेष नहीं रह जाती जिसे ग्रहण करके क्रान्ति प्रवर्तित हुई रहती है। यदि सौभाग्य से वे बाते बची रह गई तो भी नव-निर्माण के कार्य को पूरा करने के लिये उसे पुन रुद्ररूप धारण करके रक्त-सरिता से ही पार होना पड़ता है। हम यह देखते हैं कि जिनके हाथो में अधिकार-सत्ता आती है वे क्रान्ति की रक्षा के नाम पर, भावी सन्तति के सुख और कल्याण के नाम पर जिस नई व्यवस्था और अवस्था को स्थापित करना चाहते हैं, उसे स्थापित करने के पूर्व बीभत्स शोणिताभिषेक से अभिषिक्त होने के लिये बाध्य होते हैं। भावी सन्तति के सुख के लिये वे वर्तमान सप्राण मनुष्य का निर्दलन करते देखे जाते हैं। रूस में स्टालिन ने, चीन मे च्याङ्ग ने, तुर्की मे कमाल ने, जर्मनी में हिटलर ने, इटली में मुसोलिनी ने जो किया वह

यही था। जो विरोधी थे वे तो क्रान्ति के नाम पर मारे ही गए पर वे सहयोगी भी खड्ग को समर्पित कर दिए गए जो क्रान्तिचक्र के प्रवर्त्तक समझे जाते थे। संहार की इस लीला की उपेक्षा नहीं की जा सकती और न क्रान्ति के इस रूप को दृष्टिपथ से ओझल ही किया जा सकता है। जब हम क्रान्तियो के इतिहास पर दृष्टिपात करते हैं तो ये दोनों बातें सामने आ जाती हैं।

फलत मनुष्य के सम्मुख क्या एक महान् नैतिक प्रश्न नहीं उठ खड़ा होता? प्रश्न यह उठता है कि क्या किसी अव्यक्त और अमूर्त मानसिक कल्पना के नाम पर मानव-रक्त का तर्पण करना उचित और वांछनीय हो सकता है? इतिहास साक्षी है इस बात का कि कल्पनाएँ कभी स्थायी नहीं हुआ करती है। धारणाओ, विश्वासो, और आदर्शों का स्वरूप बदलता रहा है तथा समाज और व्यक्ति के जीवन में उनका मूल्य चढ़ता और गिरता रहा है। हम देखते हैं कि आज जिस कल्पना में समाज अपने जीवन के आदर्श की पूर्ति देखता है. जिन बातो को नितान्त सत्य समझता है और जिन मे सदा के लिये अपने मुक्ति का मार्ग निहित अनुभव करता है वे भी कल तिरस्कृत होती हैं, उनका महत्त्व और मूल्य नष्ट हो जाता है और जीवन दूसरी धारणाओ का मूल्य स्थापित करने लगता है। कोई नहीं कह सकता कि जिसे हम आज उचित समझते है. जिस कल्पित विधान, व्यवस्था और योजना में समाज की आवश्यकता और उसके आदर्श की पूर्ति देखते हैं वह त्रिकाल के लिये मान्य रहेगी। सभव है कल मनुष्य के सुख के लक्ष्य की और आदर्श की कल्पना ही बदल जाय। सभव है जिस कल्पना के लिये आप सहार की भयावनी आग लगाते हैं वह व्यावहारिक ही न हो। सभव है जिस व्यवस्था को स्थापित करके आप अपने लक्ष्य तक पहुंचने की आशा करते हो, उसके द्वारा वहाँ तक पहुँचना संभव ही न हो। आखिरकार आप की कल्पना आपका मानस-चित्र ही तो है। जबतक वह प्रयुक्त नहीं होती, अव्यक्त से

व्यक्त नहीं होती, साकार रूप ग्रहण करके सामने नहीं आती तब तक उसकी वांछनीयता, उपयुक्तता तथा औचित्य के सम्बन्ध मे निर्णय प्रदान करना कैसे सम्भव है ? सम्भव है वह सचमुच वांछनीय हो, पर उसी प्रकार यह भी संभव है कि वह बिल्कुल अवांछनीय, अनुपयुक्त तथा अनुचित सिद्ध हो। मनुष्य की शुद्धि और शक्ति परिमित है, जिसका स्वभाव ही भूल करना है। जीवन और जगत् की समस्याओ को सर्वांश में देखना मनुष्य के लिये सरलता से संभव नहीं हुआ करता। उसके दृष्टिकोण पर और उसके देखने की पद्धति तथा शक्ति पर न जाने कितनी बाह्य और आन्तरिक परिस्थितियो तथा उपसर्गों का प्रभाव होता रहता है। ऐसी दशा मे किसी अव्यक्त कल्पना के लिये तबतक, जबतक वह साकार न हो गयी हो, प्रयोग के बाद अपनी उपयुक्तता सिद्ध न कर चुकी हो, लोक-कल्याण और जीवन के इष्ट आदर्श की पूर्ति के सम्बन्ध में अपनी सक्षमता प्रमाणित न कर चुकी हो और समाज के हित के लिये अपने विरोधियो तथा पथावरोधियो का लोप आवश्यक और अपेक्षित प्रमाणित न कर चुकी हो, उन्मत्त होकर मानव-रक्त को पान करना और मनुष्य के प्राणों की पवित्रता भूलकर उसे अपनी सनक के घाट उतार देना कहाँ तक उचित है ? यह नैतिक प्रश्न स्वभावतः सामने उठ खड़ा होता है जिसका उत्तर उन्हें देना होगा जो क्रान्ति के विनाशक तथा रचनात्मक दोनो स्वरूपो को रक्तावगाहन कराने के लिये शस्त्र उठाने का साहस करते हैं। स्पष्ट है कि हिंसात्मक क्रान्तियो में उपर्युक्त सारी स्थिति अव्यक्त कल्पना के साकार रूप ग्रहण करने के पूर्व ही आती है। जहाँ उचित यह है कि साकार रूप प्रदान करने के बाद उसका प्रयोग होने दिया जाय और प्रयोग के फलस्वरूप पहुँचे परिणाम के प्रकाश में यदि आवश्यक हो तो शस्त्र का प्रयोग किया जाय वहाँ हिंसात्मक क्रान्ति प्रयोग और परिणाम के पूर्व ही शोणित का रोमांचक प्रवाह लिए आती है और प्रयोग के बाद किसी परिणाम पर पहुँचाने के पूर्व

नर्तन समाप्त कर जाती है। पूछा जा सकता है कि क्या किसी भी वर्ग, समूह अथवा व्यक्ति को यह अधिकार प्रदान किया जा सकता है अथवा क्या उन्हें यह नैतिक अधिकार प्राप्त है कि वे अपनी धारणा और कल्पना की उपयुक्तता तथा औचित्य सिद्ध किए बिना केवल अपनी मानसिक कल्पना के वशीभूत होकर महाकाल का प्रलयङ्कर ताण्डव कर सके ?

भावी सन्तति की उन्नति तथा सुख के नाम पर की गयी किसी अभूत कल्पना के लिए वर्तमान सन्तति का जड़मूल से विनाश करने की चेष्टा करना और उसके सुखों की बलि चढ़ा देना उचित भी है अथवा नहीं यह प्रश्न भी विचारणीय है। अभिप्राय यह है कि हिंसात्मक पद्धति पहले शासन यन्त्र पर, शक्ति और अधिकार की सत्ता पर बलपूर्वक अपना अधिकार स्थापित करती है और फिर शासनशक्ति को साधन बनाती है नई व्यवस्था की स्थापना के लिए। एक साधन होता है और दूसरा साध्य। जिस नयी व्यवस्था की स्थापना के लिये शक्ति और अधिकार सत्ता का उपयोग किया जाने लगता है उसका अस्तित्त्व तबतक केवल क्रान्तिकारियों के मानस में उनकी कल्पना के रूप में ही रहता है। वह तबतक अप्रयुक्त रहती है, उसकी उपयोगिता और अनुपयोगिता वाञ्छनीयता और अवाञ्छनीयता का स्पष्टीकरण नहीं हुआ रहता, क्योंकि स्थूल व्यवहारिक रूप में वह सामने आई ही नहीं रहती यही कारण है कि क्रान्ति के रचनात्मक कार्य को तबतक स्थगित रखना पड़ता है जबतक अधिकार सत्ता पर क्रान्ति की प्रभुता स्थापित नहीं हो जाती। उन्नत और मानवीय नैतिक भावाभिभूत गाँधी की क्रान्ति-शैली में हमें न केवल दूसरी विशेषता दिखाई देती है वरन् उपर्युक्त दोनों का सर्वथा परिहार हुआ भी दृष्टिगोचर होता है। अपनी धारणा और कल्पना को लौकिक तथा मूर्त्त रूप देकर उसे व्यावहारिक बनाना वह भी चाहता है, पर उसके लिये मानव हृदय को विदीर्ण करके उसका खून पीने की अवश्यकता

उसे नहीं है। वह भी वर्त्तमान का लोप चाहता है; पर इसके लिये मानवता की छाती पर भयावनी क्रीड़ा का आवाहन नहीं करता। वह वर्तमान से लड़ता है, पर उसकी पद्धति मे किसी का रक्तपान करने की आवश्यकता नहीं है प्रत्युत अपना रक्तदान अवश्य किया जा सकता है। नव समाज की रचना करने के लिये अपनी कल्पना को व्यक्त रूप प्रदान करने का प्रयोग वह भी करता है, पर दूसरों की भाँति न तो प्रयोग के पूर्व ही परिणाम के सम्बन्ध मे निर्णय प्रदान करता है और न प्रयोग-काल में खड्ग और खून से उसका मूल्य चुकाता है। फलतः कल्पित, अस्पष्ट और अव्यक्त धारणाओं का व्यावहारिक रूप देकर उसकी भलाई-बुराई का निर्णय हो जाने के पूर्व ही किसी व्यक्ति या समुदाय के आवेश की तृप्तिमात्र के लिये मानव-प्राण की पवित्रता की उपेक्षा करके उसकी बलि चढ़ा देने के दोष से गाँधी की क्रान्तिशैली सर्वथा मुक्त है। क्रान्ति के रचनात्मक कार्य वह भविष्यत् के लिये छोड़ भी नहीं रखता। गाँधी की क्रान्ति-शैली की इस विशेषता पर समुचित ध्यान देना आवश्यक है। हिंसक क्रान्ति अधिकार-सत्ता और अधिकार-शक्ति को साधन बनाती है अपने रचनात्मक कार्य के लिये। उसके लिए अधिकार और शक्ति का प्रयोग किए बिना नवसमाज की रचना सम्भव नहीं हुआ करती। पर गाँधी अधिकार सत्ता की प्राप्ति तक के लिये अपने रचनात्मक कार्य को स्थगित नहीं करता। उसकी अहिंसक कल्पना और पद्धति मे इस प्रकार शक्ति और अधिकार का उपयोग किया जाना ही अवाछनीय है। उसका सारा प्रयोग, सारा विचार और सारा प्रयत्न ही उस परिपाटी का विरोधी है।

शक्ति और अधिकार का उपयोग उसी स्थिति में किया जाना सभव है जब उसका अस्तित्व केन्द्रीभूत रूप मे रहे। जब अधिकार और शक्ति केन्द्रित रहेगी तो उसका आश्रय हिंसा तथा दलन हो सकता है। फलत [illegible] और अधिकार का केन्द्रित रूप जबतक रहेगा तबतक उसका

उपयोग कभी कोई और कभी कोई करता रहेगा। और जबतक यह होता रहेगा तबतक जन-समाज की स्वतन्त्रता असम्भव बनी रहेगी। केन्द्रित शक्ति और अधिकार की रक्षा के लिये यह आवश्यक होता है कि वे जनाधिकार का अपहरण और जन-स्वतन्त्रता का निर्दलन करते रहें। फिर ऐसे समाज की रचना कैसे हो सकती है जिसमें हिंसा और निर्दलन शोषण तथा पराधीनता, वर्ग प्रभुता तथा वर्गस्वार्थ का लोप हो सके? स्मरण रखना चाहिए कि गाँधी जिस नए समाज की रचना का स्वप्न देखता है. उसे वह ऐसा बनाना चाहता है जिनमें उपर्युक्त उपसर्गों का अभाव हो और जिसमे जन-समाज को वास्तविक स्वतन्त्रता और अधिकार प्राप्त हो सके। यह तभी सम्भव है जब नए समाज की रचना का आधार अहिंसा हो। बापू की दृष्टि मे उसका उपाय तो यही है कि शक्ति और अधिकार के वर्तमान रूप का विघटन हो जाय। जबतक यह न होगा तबतक मानवता मुक्त न होगी। फलतः गाँधी के लिये शक्ति और अधिकार के वर्तमान रूप का विघटन ही लक्ष्य है। उसका रचनात्मक कार्यक्रम अथवा सङ्घर्षात्मक कार्य-पद्धति दोनो ही इसी लक्ष्य को सामने लेकर सञ्चालित हैं। दोनो साधन हैं जिनके द्वारा वह उपर्युक्त साध्य की सिद्धि करना चाहती है। वह शक्ति और अधिकार से लड़ता है इसीलिये, वर्तमान को विघटित करना चाहता है और इसीलिए नये समाज की रचना भी करता है, ऐसी जिसमे शक्ति और अधिकार का केन्द्रित रूप रह ही न सके। ऐसी स्थिति में शक्ति और अधिकार को ही साधन बनाकर नई रचना करने की पद्धति वह अपना ही कैसे सकता है। उसकी ता सारी पद्धति ही साङ्गोपाङ्ग एक ऐसे महान् प्रयोग के रूप में प्रस्तुत है, जिसमे शस्त्र और अधिकार का बहिष्कार करके शस्त्र और अधिकार के विघटन की चेष्टा की गयी है।

गाँधी जी की सामाजिक कल्पना केन्द्रवाद के सम्पूर्ण विसर्जन और विघटन में समाप्त होती है, क्योंकि उनकी दृष्टि मे मानव की

सर्वथा मुक्ति उसके बिना सम्भव नहीं दिखाई देती। इसी कारण वे समाज का सङ्गठन ऐसा चाहते हैं और उसे स्वरूप भी ऐसा प्रदान करना चाहते हैं कि सामाजिक भवन के निम्नतम सोपान पर विशाल जन-वर्ग स्वतन्त्रता का अधिक से अधिक उपयोग कर सके। यह उसी स्थिति में सम्भव है जब जन-वर्ग अपने जीवन-सञ्चालन के लिये आवश्यक व्यवस्था, योजना और पदार्थों की उपलब्धि में यथा-सम्भव स्वावलम्बी हो। उसकी स्थिति ऐसी हो कि उसके जीवन में सामाजिक भवन के शिखर पर स्थित शासनतन्त्र को हस्तक्षेप करने का अवसर कम से कम मिले। इस प्रकार जड़ से स्वतन्त्रता अङ्कुरित हो, वह क्रमश ऊर्ध्वाभिमुखी होकर विकसित होती चले और ऐसी स्थिति उत्पन्न करती जाय कि केन्द्रित तन्त्र अधिकाधिक निष्क्रिय होता चला जाय। गाँधी जी मानते हैं कि मूल जब स्वतन्त्र और सुव्यवस्थित होगा तभी समाज के अङ्ग-प्रत्यङ्ग का स्वाभाविक विकास हो सकेगा। उसके सभी दल की कल्पना उसी स्थिति में साकार रूप ग्रहण कर सकती है। यही कारण है कि गाँधीजी सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में विकेन्द्रीकरण के अभिलाषी हैं। शक्ति और अधिकार का विकेन्द्रीकरण हो, स्वार्थ और हित का विकेन्द्रीकरण हो, पूँजी और उत्पादन के साधनो का विकेन्द्रीकरण हो। विकेन्द्रीकरण हो इसलिये कि शोषण और दलन का अन्त हो, समाज का प्रत्येक वर्ग ऐसी स्वतन्त्रता प्राप्त कर सके जिसमे जीवन का सञ्चालन करने के लिये किसी का मुखा-पेक्षी न रह जाय और न किसी वर्ग-विशेष का हित किसी दूसरे वर्ग के विकास में और उसके हित मे बाधक हो सके। गाँधी मानता है कि आर्थिक स्वतन्त्रता के बिना सामाजिक स्वतन्त्रता का उदय होना सम्भव नहीं है। यह आर्थिक स्वतन्त्रता उसी समय सम्भव है जब जन-समाज जीवनयापन के लिये परावलम्बी न रह जाय, जब उसे नितान्त आवश्यक पदार्थों के लिये किसी भिन्न सत्ता पर आश्रित रहना न पड़े और जब उत्पादन के साधन तथा उसकी व्यवस्था के सञ्चालन का अधिकार

उसी के हाथ में रहे। जबतक यह नहीं होता तबतक आर्थिक स्वतंत्रता भी नहीं होती और मनुष्य जबतक अर्थ की दृष्टि से पराधीन है तब तक उसकी सामाजिक और राजनीतिक परतन्त्रता भी अनिवार्य है।

उत्पादन की आधुनिक यान्त्रिक प्रणाली मे जन-समाज की यह आर्थिक स्वतंत्रता लुप्त हो गयी है। यही कारण है कि लोकतत्र लोकतंत्र की संज्ञा पाकर भी लोकस्वातत्र्य का साधक न बन सका। आर्थिक पराधीनता मे पडे जनवर्ग की स्वतंत्रता की कल्पना ही आकाश कुसुम की भाँति निर्मूल है। गांधी इसी कारण लोक की आर्थिक स्वाधीनता के आधार पर समाज-रचना का प्रवर्तक है। उसकी दृष्टि में आर्थिक स्वतंत्रता का एकमात्र अर्थ यही हो सकता है कि जनता जीवनोपाय के लिए मौलिक पदार्थों की प्राप्ति में, अर्थात् भोजन, वस्त्र और आश्रय के संवध मे, यथासंभव आत्मतुष्ट और स्वावलम्बी हो। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए गाधीजी जो उपाय बताते है वह यही है कि यांत्रिक पद्धति से होने वाली केन्द्रीभूत उत्पादन पद्धति का विकेन्द्रीकरण इस प्रकार कर दिया जाय कि उत्पादन के साधन विकेन्द्रित हो जायँ और केन्द्रीकरण की जो प्रवृत्ति चतुर्दिक व्याप्त हो रही है और जो सारे अनर्थों की जड हो गयी है, अवरुद्ध हो जाय।

चर्खा गाँधीजी की इसी विचारधारा की साकार प्रतिमा और सांकेतिक प्रतीक है। वह आधुनिक यन्त्रवाद के विपर्यय के रूप मे जगत् के सम्मुख प्रस्तुत हुआ है, जिसके द्वारा गाँधीजी अपनी कल्पना को व्यक्त कर रहे हैं। वह उत्पादन की नई शैली का सूचक चिन्ह है, जिसके अवलम्बन से बापू मानव-समाज की न केवल वर्तमान पीड़ा के निराकरण की आशा करता है प्रत्युत उसके द्वारा भावी समाज की रचना का कार्य सम्पादित करना चाहता है। चर्खा वास्तव मे उत्पादन-क्रिया के विकेन्द्रीकरण की नीति का प्रतिनिधित्व कर रहा है जिस पर गाँधीजी की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक कल्पना

आश्रित है। चर्खे को लेकर वे विकेन्द्रित उत्पादन-प्रणाली का ही प्रयोग आरंभ करते हैं पूँजीवाद जिस मौलिक कारण का परिणाम है उसका मौलिक परिहार इस प्रयोग की सफलता पर ही निर्भर करता है। यदि प्रयोग सफल हो तो उसका परिणाम क्या होगा इसकी कल्पना कर लेना कठिन नहीं है। पाठक विचारपूर्वक देखें कि यदि कल-कारखानों के द्वारा होने वाली उत्पादन की क्रिया का स्थान कुटीर-उद्योग की विकेन्द्रित प्रणाली ग्रहण कर ले तो आज उत्पादन के साधनों पर जो अनुत्पादक वर्ग की प्रभुता स्थापित हो गयी है, उसे समाप्त कर देना अति सरल हो जायगा। उस दशा में उत्पादन के साधनों पर उसका अधिकार स्थापन सरल हो जायगा जो वस्तुत. उत्पादक है। कुटीर-उद्योगों की विशेषता यह है कि उनके द्वारा अत्यधिक उत्पादन उस केन्द्रीभूत रूप में सम्भव न होगा, जिसके द्वारा व्यावसायिक पूँजीवाद का पोषण और परिवर्धन होता रहता है।

सम्पत्ति का वितरण यदि श्रम के अनुपात में होने लगे तो उस स्थिति का अन्त हो जायगा जिसके एक ओर धन की महिमा और ऐश्वर्य की पताका फहराती दिखाई देती है और दूसरी ओर अभाव का बीभत्स नर्तन होता रहता है। आज आर्थिक असमानता का जो विष समाज को जर्जर किए दे रहा है और जो दिन-दिन बढ़ता तथा विकराल होता जा रहा है, तब अवरुद्ध होता दृष्टिगोचर होगा जब हस्तकौशल और ग्रामोद्योग में कल-कारखानों की भाँति आवश्यकता से कहीं अधिक उत्पादन संभव न होगा और जब उत्पन्न पदार्थ बहु-संख्यक उत्पादकों की वितरित संपत्ति के रूप में रहेंगे। जब पूँजी शोषण का कारण न बनी रह सकेगी तब यदि वह पूँजीपतियों के उपभोग का साधन बनी भी रह जाय तो भी समाज की दुर्दशा का आधार और स्रोत न हो सकेगी। पूँजी यदि शोषण का साधन न बन कर केवल उपभोग की वस्तु बनी रह जाय तो उसका उत्तरोत्तर छीजते जाना अनिवार्य है। निष्क्रिय पड़ी पूँजी क्रमशः पूँजीपति के भोग के

द्वारा वितरित ही होती जायेगी। उसके सिवा सरकारी कानून क्षीणता की ओर पूँजी की इस गति को अधिक तीव्र कर दे सकेंगे, क्योंकि वैधानिक विधि से उसका बडा अंश सार्वजनिक कोष मे जन-हिताय पहुँचाया जा सकेगा। विकेन्द्रित उत्पादन की प्रणाली मे आर्थिक असमानता को दूर करने की क्षमता बहुत बडी सीमा तक दिखाई देती है। उग्र वर्ग-भेद की परिधि को क्रमश संकुचित करने मे भी यह समर्थ ज्ञात होती है।

केन्द्रित तंत्र-सत्ता की जड़ तो उसी समय हिल जायगी जब उस वर्ग के हाथ से उत्पादन के साधनो का स्वामित्व और उत्पादन की प्रक्रिया के सञ्चालन का अधिकार निकल जायगा जो सम्प्रति यन्त्रवाद और पूँजीवाद के कारण उनका अधिकारी बना हुआ है। उत्पादन-प्रणाली और उसके साधनो के विकेन्द्रीकरण से यदि पूँजीवादी हित का लोप होगा तो शक्ति और अधिकार के केन्द्रीकरण की आवश्यकता भी कम हो जायगी और प्रबुद्ध तथा आत्मावलम्बी जन-समाज क्रमश अपने अधिकार और स्वत्व पर आरूढ़ होता चलेगा। बापू के कल्पनानुसार विकेन्द्रित उत्पादन की प्रणाली में न सुदूर के बाजारो की लालसा उत्पन्न होगी और न भूप्रदेश माल खपाने के लिए अपेक्षित होगे। इस प्रकार साम्राज्यवाद के उदय के कतिपय कारणो मे एक इस अति प्रमुख कारण का तिरोभाव स्वभावत हो जायगा, जो आक्रमण-शीलता और हिंसा की आवश्यकता तथा उग्रता का बहुत कुछ लोप करने का कारण होगा।

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति, सुव्यवस्था और सहयोग के लिए विकेन्द्रित उत्पादन की पद्धति और उसके आधार पर स्थापित अर्थ नीति के सिवा कोई दूसरा मार्ग दिखाई नहीं देता। अत्यधिक उत्पादन, चाहे वह स्वतन्त्र प्रतिद्वन्द्विता के सिद्धांत के अनुसार व्यक्तिगत रूप से होता हो अथवा अधिनायकवादी देशो की भाँति सरकार द्वारा नियंत्रित हो, विदेशी बाजारो की खोज के लिए जगत् के औद्योगिक राष्ट्रों को स्व-

भावतः और अनिवार्यत अग्रसर करेगा ही। यह अवस्था जब तक रहेगी तब तक भयावने नर-संहार और रक्तपात के मार्ग का अवरोध न होगा। दुनिया का गत दो शताब्दियों का इतिहास और मानव-समाज का अनुभव इसी सत्य को सिद्ध कर रहा है। गत महायुद्ध हो अथवा वर्तमान महासमर दोनों का मौलिक कारण यही था कि पदार्थों के उत्पादन की प्रक्रिया इस लिए नहीं होती थी कि उसमे मनुष्य की आवश्यकताएँ पूर्ण हो बल्कि इस लिए होती थी कि उसके द्वारा मुनाफा कमाया जाय और सारे जगत् का यथासंभव शोषण किया जा सके।

गाँधीजी ऐसी अर्थ नीति के संचालन के पक्षपाती हैं जिसमे उत्पादन केवल आवश्यकताओं की पूर्ति की दृष्टि से संभव हो, जिसमे जगत् के राष्ट्र आत्मतुष्ट तो हो सकें, पर अपने उत्पन्न पदार्थों की अकल्पित राशि को बेचने के लिए जगत् के बाजारों पर छापा मारने की आवश्यकता समझें। आज तो न केवल उत्पादन की क्रिया और उसके साधनों का दुरुपयोग हो रहा है प्रत्युत मनुष्य के श्रम की महत्ता और पवित्रता नष्ट की जा रही है। कल-कारखानों मे लगाया गया मनुष्य का श्रम ऐसी धारा पकड़ता है, जो मनुष्य को भी यंत्र बना देता है और उसकी उस नैसर्गिक कलामयी अन्त.प्रवृति तथा प्रतिमा को लुप्त कर देता है जिसका अधिकारी प्रकृति ने उसे बनाया है। मनुष्य के श्रम का उपयोग भी इसलिए नहीं होता कि उसके द्वारा मनुष्य-समाज की सहायता की जा सके, जीवन के लिए उसकी नितान्त आवश्यकताओं को पूर्ण करके उसे अभाव के कष्ट से मुक्त किया जा सके, अपितु उसका उपयोग इस लक्ष्य को लेकर हो रहा है कि अधिक से अधिक मनुष्य का दोहन करना संभव हो। न केवल व्यापक जन-समाज दोहित होता है वरन् वह श्रमिक जिसके श्रम से आर्थिक लाभ उठाता है, स्वयं दलित और दोहित होता है। विज्ञान की सहायता पाकर मनुष्य कोयला, लोहा, पानी और विद्युत

की जड़ शक्तियों का दुरुपयोग आँख मूँद कर अपने लोभ की पिपासा को शान्त करने मे तो कर ही रहा है, साथ-साथ मनुष्य की चेतन-शक्ति का भी भयानक दुरुपयोग किया जाय यह क्या मनुष्यता का ही अपमान नहीं है ? आज तो मानव-श्रम का घृणित निरादर भी हो रहा है। जड़-शक्तियो से काम लेने में अन्धा हुआ मनुष्य चेतन-मनुष्य के श्रम की उपेक्षा करता है। और उसे बेकार बनाता जा रहा है। इस अनर्थकारी अवस्था का अन्त तो होना ही चाहिए। गाँधी आज श्रम का दूसरा मूल्याकन करने के लिए अग्रसर हुआ है। वह मनुष्य के श्रम की महत्ता और पवित्रता को प्रतिष्ठित करना चाहता है। श्रम करना आदरणीय हो और साधन हो मनुष्य की स्वतंत्रता और मुक्ति का। वरन् श्रम का उपयोग इस लिए न हो पावे कि मनुष्य मनुष्य का दोहन करके मनुष्यता का कलक बने, वरन् श्रम हो इसलिए कि प्रत्येक व्यक्ति जीवन-संचालन के लिए आवश्यक पदार्थों की प्राप्ति मे परमुखापेक्षण और परावलंबन की असह्य स्थिति का शिकार न हो कर आत्मतुष्ट हो सके। इस स्थिति को लाने के लिए ही यह आवश्यक है कि समाज में ऐसी अर्थनीति हो और ऐसा हो उसका आर्थिक संघटन जिसका आधार शोषण पर नहीं स्वतन्त्रता पर हो। यही एकमात्र मार्ग है जिसके द्वारा वह वर्ग जो आज मुँह के बल पड़ा धरा-चुम्बन कर रहा है, उत्थित किया जा सकेगा। श्रम की इस मौलिक कल्पना को मानव-समाज के आर्थिक सघटन का आधार बनाना गाँधी की दृष्टि में आवश्यक है। आधुनिक यन्त्रवाद इस कल्पना के अभाव का ही प्रतीक है जिसने उन परिस्थितियों का प्रजनन किया है जो समाज को क्षत-विक्षत कर रही है। गाँधी की विकेन्द्रित उत्पादन की प्रणाली और उत्पादन के साधनो के विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त का आधार वास्तव में यही दृष्टि और भावना है।

अवश्य ही विकेन्द्रीकरण की इस विचाधारा का अर्थ यह होता

कि गाँधीजी उत्पादन को आधुनिक यान्त्रिक प्रणाली के परित्याग की राय दे रहे हैं। कहा जा सकता है कि वे उसके सर्वथा विरोधी है। यह सच है कि बापू इस प्रणाली के विरुद्ध विद्रोह करते है पर उनके विरोध के स्वरूप को समझ लेना आवश्यक है। उनका विरोध यन्त्र मे उतना नहीं है जितना आधुनिक यन्त्रवाद' से है। इन दोनों मे गांधी जी महान् अन्तर देखते हैं और जहाँ पहले को एक सीमातक ग्रहण कर लेने के लिए राजी भी हो जाते हैं वहां दूसरे के सम्पूर्ण विलोप से कम मे सन्तुष्ट नहीं होते। उनकी दृष्टि मे यन्त्र का अस्तित्व मनुष्य के लिए है जिसका उपयोग मनुष्य के सुख और कल्याण के साधन के रूप मे ही हो सकता है। जबतक इस दृष्टि से केवल साधन के रूप में यन्त्र का उपयोग किया जाता हो तबतक आवश्यकतानुसार एक सीमा-तक उचित सामंजस्य की स्थापना कर के यन्त्र का उपयोग करना वाँछनीय हो सकता है। पर जब यन्त्र स्वयं ही साध्य हो जाय, जब स्वतः मनुष्य उसके लिए साधन बना दिया जाय और जब वह लोभ और लहू पर, शोपण और स्वार्थ पर, दलन और दासता पर प्रतिष्ठित हो जाय तब वह यन्त्रवाद का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। उस समय उसके पीछे एक निश्चित विचार-धारा प्रवाहित होने लगती है, जो हिंसा और आक्रमणकारिता का प्रजनन करती है।

उस समय वर्गहित और वर्गप्रभुता के दो तटों के बीच से यह धारा बहती दिखाई देती है जिससे मानवता अभिशप्त होने लगती है। गाँधी वस्तुत' इस यन्त्रवाद का ही विरोधी है। गाँधीजी के शब्दों में ही उनके विचार पर दृष्टिपात कीजिए। वे कहते है 'मैं यन्त्र का यन्त्र के रूप मे विरोधी नहीं हूँ। मै भला ऐसा विरोध कैसे कर सकता हूँ, जब यह जानता हूँ कि मनुष्य का शरीर भी एक अति जटिल किन्तु कोमल यन्त्र के सिवा कुछ नहीं है। चर्खा भी तो एक प्रकार का यन्त्र ही है। फलतः मेरा विरोध यन्त्र से नहीं पर उस उन्माद से है जो ...ों के लिए उत्पन्न हो गया है। आज तो कहा यह जाता है कि

यन्त्रों के द्वारा मनुष्य का श्रम बचाया जाता है पर श्रम बचाने की झक इतनी बढ़ जाती है तथा उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है कि लाखों मनुष्य बेकार होते जा रहे हैं और भूखो मरने के लिए असहाय छोड़ दिए जाते है।"

"मैं चाहता हूँ कि मनुष्य के समय और श्रम की रक्षा की जाय। पर उसके साथ ही यह भी चाहता हूँ कि समाज के एक छोटे से वर्ग के समय और श्रम की ही रक्षा न की जाय प्रत्युत व्यापक जन-समाज उससे सुरक्षित हो। मैं यह भी चाहता हूँ कि धन और सम्पत्ति का सकलन केवल मुट्ठी भर लोगो के हाथों मे न हो वरन् दूसरे सभी उसके हिस्सेदार बन सके। आज तो स्थिति यह है कि यत्र उन थोड़े से लोगों का सहायक है जो करोडो की छाती पर जम कर बैठे हुए हैं। यन्त्रों के पीछे जो उत्प्रेरणा है वह श्रम बचाने के लिए उदार-भावना नहीं किन्तु लोभ की भयावनी वासना है। 'यन्त्रवाद' के इसी स्वरूप के विरुद्ध अपनी सारी शक्ति से युद्ध करने के लिए मै बद्ध परिकर हूँ।"
उपर्युक्त वाक्यों में गाँधीजी की दृष्टि स्पष्ट है। 'पूँजीवाद' यन्त्रवाद का ही विकसित रूप तथा परिणाम है। यदि उसका विलोप करना है तो यन्त्रवाद का विलोप करना होगा जिसका एकमात्र उपाय उत्पादन के साधनों को विकेन्द्रित कर देना है। इसी से उत्पादन की प्रणाली विकेन्द्रित हो जायेगी और नयी शैली ग्रहण करेगी। चर्खा मे यही विचार-धारा प्रतिष्ठित है। जिसके द्वारा गाँधी समाज का आधार ही बदल कर ऐसी रचना करना चाहता है, जिसमे अहिंसा का समावेश होता हो और मनुष्य की पराधीनता और दोहन का अन्त होता हो। आज जगत् को निष्पक्ष हो कर बापू की इस पद्धति पर विचार करना होगा। यह देखना होगा कि पूँजीवाद के विघटन के लिए और मनुष्य-समाज की वर्तमान दुरवस्था को दूर करने के लिए जो भी उपाय उपस्थित किए जा रहे हैं उनकी अपेक्षा बापू की पद्धति अधिक मौलिक, प्रभावकर और अधिक उपयुक्त है अथवा नहीं। विशेष कर

ऐसे समय जब कल-कारखानों से सभूत सभ्यता आकाश से अग्नि वर्षा करके उन्हीं कल-कारखानों को नष्ट कर रही है, जब महान् औद्योगिक देशों के औद्योगिक केन्द्र उध्वस्त करके धूल में मिलाए जा रहे हों और जब ये कल-कारखाने विनाश में अस्त्र-शस्त्र प्रस्तुत करने के कारण हो रहे हों तब क्या यह अपेक्षित नहीं है कि मनुष्य एक बार उलट कर पीछे दृष्टि डाले और देखे कि उसने अपनी मूढ़ता से अपने को कहाँ पहुँचा दिया है। उसने जो स्थिति पैदा कर दी है क्या उससे मुख मोड़ने का समय नहीं आया और क्या गाँधी इस जटिल भूल-भुलैया से निकलने का मार्ग उपस्थित नहीं कर रहा है ?

विकेन्द्रीकरण-समस्या का हल

आज के जगत् मे वह युग आया है जब भावी विश्व की व्यवस्था का निर्माण करने के लिए चतुर्दिक योजनाओं को उपस्थित करने की धूम मची हुई है। जगत् किसी न किसी प्रकार के नये आयोजन की आवश्यकता का अनुभव कर रहा है। ऐसे समय मे गाँधीजी की विकेन्द्रीकरण की विचारधारा जगत् के सामने प्रस्तुत हुई है। एक समय था जब उनके विचार उपहास्य समझे जाते थे। चर्खा और ग्रामोद्योग की उनकी योजना ऐसी पुरानी और दकियानूस बात समझी जाती थी जो आज की स्थिति मे असंस्कृत और मध्ययुगीय ज्ञात होती थी। पर आज उस स्थिति मे परिवर्तन हो चला है। योजनाओं के इस युग में विकेन्द्रीकरण की विचारधारा के लिए सर्वथा स्थान न होने की बात नहीं रही। महान् औद्योगिक देशों के विचारक और अर्थशास्त्री भी उसकी तरफ दृष्टिपात करने के लिए बाध्य होने लगे हैं। अमेरिका के हेनरीफोर्ड ऐसे उद्योगपति और महान् पूँजीपति भी अपनी योजना मे विकेन्द्रित उत्पादन की प्रणाली को स्थान देने को बाध्य होने लगे हैं। उनके मत से "ऐसे पदार्थों का निर्माण, जिसका उपयोग सारे देश में सर्वत्र प्राय सब के द्वारा होता हो, सारे देश मे विकेन्द्रित रूप से उत्पन्न किए जाय ताकि जनता की क्रयशक्ति का वितरण अधिक समरूप से हो सके।"

इसी प्रकार ग्रेटब्रिटेन के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रोफेसर 'कोल' लिखते हैं कि "ग्रामोद्योग के रूप मे वस्त्र-व्यवसाय को उन्नत करने का जो प्रयत्न गाँधी कर रहे हैं। उसे झक समझना अथवा अतीत के पुनरुद्धार के लिये उत्सुक प्रयास मानना मूर्खता होगी। वह सजीव और व्यावहारिक उपाय है ग्रामीण जनता की गरीबी को दूर करने तथा उसके

जीवन-स्तर को उन्नत बनाने का इङ्गलैंड और अमेरिका के अनेक विचारकों के ऐसे मत यहाँ उद्धृत किए जा सकते हैं जिसमें स्पष्टत. यह भावना प्रदर्शित है कि आधुनिक जगत् की समस्याओं को हल करने के लिए विकेन्द्रित अर्थनीति अपनाने के सिवा कदाचित् कोई दूसरी गति नहीं है। 'काउन्ट कैलेरगी' अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "टॉटेलिटेरियन स्टेट अगेन्स्ट मैंन" मे लिखते हैं कि "युद्ध और हिंसा से विक्षत हुई वसुन्धरा के सारे कष्टों के परिहार का अन्तिम और एकमात्र उपाय कादाचित् विकेन्द्रित सहयोगमूलक ग्रामीण सभ्यता के सिवा दूसरा नहीं।' ध्यानपूर्वक यूरोप और अमेरिका पर दृष्टिपात कीजिए तो यह दिखाई पड़ेगा कि विकेन्द्रित और सहकार सिद्धान्त पर स्थापित आर्थिक संघटनों की ओर उन देशों का ध्यान धीरे-धीरे किन्तु दृढ़ता के साथ बढ़ता चला जा रहा है।

चीन में तो औद्योगिक सहयोग-समितियों के द्वारा विकेन्द्रित उत्पादन-पद्धति ने जो सफलता पाई है और जो क्षमता प्रदर्शित की है वह आज जगत् के लिए आश्चर्यजनक हो गई है। जापानी आक्रमण के बाद चीन आवश्यक पदार्थों की प्राप्ति मे असमर्थ होने लगा था। उसे युद्ध के लिए सैनिक सामग्री चाहिए थी, अस्त्र-शस्त्र की आवश्यकता थी और सबसे अधिक देश की जनता के जीवन की रक्षा के लिए नितान्त रूप से अपेक्षित पदार्थों को प्राप्त करने का प्रश्न था। चीन में यूरोप का प्रभाव धीरे-धीरे बढ चुका था और वहाँ कल-कारखानों से उत्पत्ति होने भी लगी थी। पर जापानी आक्रमण के बाद ये कल-कारखाने बहुत कुछ आकाशीय बम-वर्षा से नष्ट हो गये और बहुत से शत्रुओं के हाथ मे पड़ गए। वर्षों तक चीन को बाहरी दुनिया से रत्ती भर भी सामान नहीं मिलता था। इंगलैण्ड और अमेरिका जो उसकी सहायता कर सकते थे, जापानी आक्रमण का विरोध करते हुए भी जापान को प्रसन्न करने के लिए चीन को सामान देने अस्वीकार कर रहे थे।

बर्मा रोड तक बन्द कर दी गयी थी, फिर सामान भेजना दूर रहा। ऐसी स्थिति से चीन भयावने संकट मे पड़ गया। उसके सामने भारी समस्या थी। जापानी आततायियो से वह अपनी रक्षा करे तो कैसे करे। चीनी देश-भक्तो का ध्यान सहसा अतीत के अपने उन मृतक-प्राय उद्योगो की ओर गया जो किसी जमाने मे गाँव-गाँव की झोपडियो मे फैले हुए थे। इन्हीं व्यवसाओं के द्वारा शताब्दियो तक चीनी राष्ट्र न केवल अपने देश की आवश्यकताओं की पूर्ति करता था वरन् दुनिया के सुदूर प्रदेशो के लिए उन्ही कुटियो मे बने माल का निर्यात भी करता था। चीन ने देखा कि वही मरणोन्मुखी पद्धति उसके जीवन की रक्षा करने का एकमात्र उपाय हो सकती है। अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा और आक्रमणकारी का विरोध करने का दृढ़ सकल्प लेकर चीनी देशभक्त उक्त व्यवसाय के पुनरुज्जीवन के महान् कार्य मे संलग्न हो गए। वहाँ के अर्थशास्त्री, वैज्ञानिक, विचारक और चतुर तथा प्रवीण शिल्पी उसके लिए उचित योजना बनाने और उसे सजीव कर देने मे जुट पड़े।

परिणामत. कुछ वर्षों में ही विशाल चीनी भू-प्रदेश मे ग्रामोद्योग की सहयोग-समितियों के रूप में उत्पादक की महती प्रक्रिया का जाल सा बिछ गया। उसी का फल यह है कि विदेशो से सहायता न पाते हुए भी चीन ने वह अजेय शक्ति प्राप्त की जिसके सम्मुख प्रचण्ड बल शील जापानी साम्राज्यवादियों का सैनिक बल पंगु सिद्ध हो गया। चीन के उद्योग सुदूर गावो की टूटी-फूटी झोपडियो मे चलते रहते हैं, जिन पर न बमवर्षा का असर होता है और न जिनके शत्रु के हाथो मे पड़ने का खतरा है। जब कभी शत्रु सन्निकट दिखाई देता है तो कुटीर, व्यवसाय में लगे उत्पादक अपने थोड़े से औजार और कल-पुर्जों की गठरी बाँध कर वहाँ से डोल जाते हैं और पुन. किसी दूसरे स्थान पर छोटी-मोटी झोपड़ी डाल कर अपना काम शुरू कर देते हैं। चीन के इस महाप्रयोग ने दुनिया की आँखें खोल दी हैं। जहाँ विशाल कल-

कारखानों और बड़े उद्योगो की हड्डियाँ युद्धकाल में चूर हो गयीं, जहाँ ये कल-कारखाने शत्रु के हाथ मे पड़ कर उन्हीं देशों के लिए मंघातक सिद्ध हुए, जिनकी वे सम्पत्ति थे, वहाँ जगत् से किसी प्रकार की सहायता न पाकर भी चीन जापान की रणवाहिनी के दुर्दान्त दन्तों को तोड़ने में समर्थ हुआ।

आज विकेन्द्रित उत्पादन पद्धति और ग्रामोद्योग की इतनी शक्ति, इतनी समर्थता और इतनी क्षमता का प्रदर्शन ज्वलन्त रूप में हो चुका है तो फिर उसकी उपादेयता उपयुक्तता तथा वाञ्छनीयता में सन्देह करने का साहस किसे हो सकता है ? इतना ही नहीं वरन् जब विचार और सिद्धान्त की दृष्टि से भी 'यान्त्रिक उद्योगवाद' के गढ़ यूरोप के विद्वान् यह अनुभव करने लगे हैं कि जगत् की समस्या का हल कदाचित् विकेन्द्रित ग्राम्य अर्थनीति और संस्कृति मे ही है, तब भला गाँधीजी के विचारो का उपहास करने की धृष्टता दिखाना कहाँ संभव रह गया है ? लैंसलाट होगवेन और प्रोफेसर हक्सले ऐसे प्रसिद्ध विद्वान् और ग्रंथकार जब यह कहने लगे हैं कि "मानव-समाज की रक्षा के लिए तथा वैज्ञानिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भी जन सकुल नगरो से मुख मोड़कर ग्रामीण अर्थनीति और सभ्यता को अपनाने के सिवा कदाचित् दूसरी गति नहीं है" तो उस समय गाँधीजी की दूरदर्शिता, यथार्थवादिता तथा व्यावहारिकता मे संदेह करने और उन्हें काल्पनिक, अतीत-पूजक कहकर हँसी उड़ाने का दुराग्रह करने मे कौन बुद्धिशील और निष्पक्ष व्यक्ति संलग्न होगा ? जिस बात को आज का विद्वत्समाज अनुभव करने लगा है, जिसकी उपयुक्तता आज सिद्ध होने लगी है उसकी ओर जगत् का ध्यान बीसों वर्ष पूर्व आकृष्ट करने वाले गाँधीजी ही है।

पर गाँधीजी के विचारो के सम्बन्ध मे कुछ बातें ऐसी हैं जिन्हें विशेष रूप से समझ लेना आवश्यक है। यद्यपि यूरोप और अमेरिका [illegible] उत्पादन पद्धति और अर्थनीति की ओर रुझान प्रकट हो

चला है और यद्यपि चीन में उस पद्धति की शक्ति तथा सफलता का प्रदर्शन भी हो चुका है और यद्यपि ये बातें गाँधीजी के विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त की साधारणता तथा प्रौढ़ता को सिद्ध करती हैं तथापि वह जो कुछ कहते हैं और कहने के पीछे उनकी जो दृष्टि है वह उपर्युक्त विचारो को तथा प्रयोगो से कहीं अधिक दूर जाती है। दूसरे लोग जो विकेन्द्रीकरण की वात करते है वे अति संकुचित दृष्टि लेकर ही करते हैं। कोई यह समझ कर विकेन्द्रित उत्पादन प्रणाली का समर्थन करता है कि उससे वेकारी की समस्या कुछ दूर तक हल हो जायगी तो कोई यह समझ कर उसका पक्ष ग्रहण करता है कि गरीव किसानो को प्रति दिन अपना काम करते हुए भी दो पैसे अधिक मिल जायेंगे जिससे उनके जीवन का स्तर नाममात्र को ही सही, पर कुछ न कुछ ऊँचा हो जायगा।

यूरोप के महान् कल-कारखानों में देश की जन-संख्या का एक अति छोटा-सा भाग ही लग पाता है। साथ ही आजकल 'रैशेनलाइजेशन' के नाम से थोड़े से श्रम मे उत्पादन अधिक से अधिक करने की उत्सुकता में यन्त्रों में तरह-तरह के सुधार करके उनकी उत्पत्ति-शक्ति कई गुना वढ़ा देने की जो शैतानी प्रवृत्ति और उन्माद छा गया है उससे वेकारो की संख्या दिन प्रति दिन वढ़ती ही चली गई है। यह स्थिति स्वय पूँजीवादी अर्थनीति के लिए भयावह हो गई है। इससे वचने के लिए उद्योगपति लोग विकेन्द्रित उत्पादन प्रणाली को भी छोटा-सा और गौण स्थान प्रदान करने की वात सोचने लगे हैं, जिसमे वे वेकारी की समस्या को कुछ दूर तक हल करके उस खतरे से अपनी रक्षा कर सकें जो उन्हें निगल जाने के लिए मुँह वाए सामने खडी है।

चीन ने भी जो महाप्रयोग किया वह इसीलिए किया कि उसके पास अपनी रक्षा के लिए सिवा ग्राम-उद्योगों के दूसरा कोई साधन उपलब्ध नहीं था। न वाहर से सहायता मिल सकती थी न इतनी पूँजी थी कि नये कल-कारखाने खोल सकता और न उनकी स्थापना

के लिए आवश्यक सामान बाहर से आना संभव था। यह मानते हुए भी कि उपर्युक्त समस्याओं का उत्पादन की विकेन्द्रित पद्धति और ग्राम-उद्योगों के द्वारा हल हो जाना छोटी बात नहीं है और इतना भी उसके महत्त्व को सिद्ध कर देने के लिए काफी है, यह कहना पड़ता है कि गाँधीजी उसे केवल तात्कालिक प्रश्नों को एक सीमातक सुलझा देनेवाला गौण साधनमात्र नहीं समझते। विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त के पीछे उनकी महती विचारधारा प्रवाहित है। उसमें भावी विश्व की व्यवस्था और नव-समाज की रचना के सम्बन्ध मे उनकी विशाल कल्पना समाविष्ट है। वह उनके दार्शनिक और वैज्ञानिक दृष्टि-कोण का परिणाम है, जिसे आधार बनाकर वे नई संस्कृति को जन्म प्रदान करना चाहते है। वे विकेन्द्रीकरण के आधार पर सारी अर्थनीति, राजनीति और समाजनीति की रचना करना चाहते हैं। वे आधुनिक केन्द्रित व्यवस्था को समूल हटाकर उसके स्थान पर विकेन्द्रित पद्धति करना चाहते हैं।

स्पष्ट है कि उनके लिए विकेन्द्रीकरण किसी तात्कालिक समस्या के हल का गौण साधन नहीं किन्तु मानव-समाज के भावी संघटन की सुदृढ़ बुनियाद है। वे उसी के द्वारा उस सच्चे लोकतन्त्र का उद्भव संभव समझते हैं, जिसमे मनुष्य वास्तविक स्वतंत्रता का उपभोग कर सकेगा और धरती शोषण तथा निर्दलन से मुक्त हो सकेगी। वे समझते हैं कि यदि मानव-समाज की प्रतिष्ठा अहिंसा के आधार पर करनी है तो आज उसका उपाय विकेन्द्रीकरण के सिवा दूसरा नहीं है। वे यह मानते हैं कि मनुष्य युग-युग से हिंसक प्रवृत्ति का दमन और अहिंसा का समावेश करने की चेष्टा करता आया है और इसी चेष्टा में उसके विकास की गति प्रदर्शित है। वे सारे इतिहास को इसी दृष्टि से देखते है। बर्बर अवस्था मे पड़ा हुआ मानव समाज की रचना करने के लिए अग्रसर हुआ इसलिए कि निसर्गतः उसकी अहिंसक वृत्ति अपनी ही हिंसक वृत्ति का दमन करने की ओर प्रकृत्या अभिमुख हुई। किसी न किसी रूप मे रम्भ से लेकर आजतक शासनतन्त्र की आवश्यकता और रचना

मनुष्य करता आया है, पर उसमें भी उसका लक्ष्य यही था कि वह यथासम्भव जीवन मे हिंसा का दमन कर सके और न्याय तथा नीति, सहयोग और सुरक्षा का उदय कर सके।

संस्कृतियों का जन्म भी मनुष्य के इसी प्रयास का परिणाम रहा है। मनुष्य की यह चेष्टा आज भी जारी है। यही उसकी गति है और यही है उसका निर्धारित पथ। इसी मे उसका विकास और उसकी प्रगति है। यह सच है कि जिन व्यवस्थाओं को उसने जन्म दिया इसलिए कि अहिंसा की ओर अग्रसर करने मे सहायक हो वे ही समय-समय पर हिंसा का प्रवर्तन करने का कारण हुई हैं। मनुष्य के जीवन के मूल मे स्थित स्वार्थ और हिंसा की प्रवृत्ति उसे पथ से भ्रष्ट करती रही है। फलतः व्यवस्थाएँ, विधान और संस्थाएँ दुरुपयुक्त होती रही हैं। उदाहरणार्थ शासन-सत्ता को ही ले लीजिए। समाज ने यदि शासक के हाथ में शक्ति और अधिकार उड़ेल दिया तो ऐसा इसलिए किया कि वह सामाजिक जीवन मे अव्यवस्था, हिंसा तथा मत्सन्याय को रोक कर सहयोग, सुव्यवस्था तथा सुरक्षा का साधक हो, पर शासन सत्ताएँ प्रायः सदा अपने हित मे समाज के अधिकारो का अपहरण करके और हिंसा के द्वारा मनुष्य का दलन करके अभिशाप का रूप ग्रहण करती रही हैं। समय-समय पर समाज को हिंसा की इस गति को रोकने की चेष्टा करनी पड़ी है।

पूर्व के पृष्ठो मे कह चुका हूँ कि स्वयं लोकतन्त्र का उदय मनुष्य की उस अहिंसक वृत्ति का ही सूचक था, जो उदीयमान हुआ था इसलिए कि तत्कालीन केन्द्रीभूत निरंकुश शासन-सत्ता की शक्ति और अधिकार का विकेन्द्रीकरण करके जन-समाज स्वतन्त्र किया जाय। पर उस धारा का अवरोधन किस प्रकार हुआ और किस प्रकार भयावने केन्द्रीकरण ने जन्म लेकर मनुष्य को आज की स्थिति मे पहुँचाया है इसे गत पृष्ठो मे बता चुके है। गाँधीजी के विकेन्द्रीकरण का सिद्धान्त उसी प्रयास का सूचक है, जो मनुष्य सदा करता रहा है और आज

भी आधुनिक स्थिति से मुक्त होने के लिए कर रहा है। आधुनिक मनुष्य जिस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए मार्ग ढूँढ़ने की चेष्टा करते हुए भी उचित मार्ग नहीं पा रहा है, उसके लिए गाँधीजी विकेन्द्रीकरण के रूप में एक पथ उपस्थित कर रहे हैं। उनके लिए यह पथ है जिसका अवलम्बन करके मनुष्य-समाज अपनी उस विकास की यात्रा पर अग्रसर हो सकेगा जो मनुष्य के पथ भ्रष्ट होने के कारण अवरुद्ध हो गयी है।

ऐसी स्थिति में गाँधीजी का विकेन्द्रीकरण न केवल बेकारी को हल करने का उपाय है और न केवल पूँजी के अभाव में कल-कारखानों की स्थापना न कर सकने के कारण उत्पादन की ऐसी पद्धति जिसे बाध्य होकर ग्रहण करना पड़ रहा हो। बेकारी की समस्या तो अधिनायकवादी देशों ने केन्द्रित उत्पादन की पद्धति को रखते हुए भी बहुत दूर तक हल करने में सफलता पाई है। उत्पादन को नियन्त्रित कर के और 'रैशनैलाइजेशन' (कम से कम श्रम में अधिक से अधिक उत्पत्ति करने के लिए यन्त्रों में सुधार की पद्धति) को धीरे-धीरे हटाकर अथवा अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण के लिए नये-नये कारखाने खोलकर 'टोटैलेटेरियन' सरकारों ने बेकारी की समस्या को बहुत दूर तक हल कर डाला है पर गाँधीजी का लक्ष्य केवल बेकारी हल करना नहीं है। उनका आदर्श यह है कि रोटी के साथ-साथ स्वतन्त्रता भी प्रत्येक मनुष्य को उसी प्रकार प्राप्त हो जिस प्रकार प्रकृति ने उसे वायु, जल तथा प्रकाश प्रदान किया है। मनुष्य के लिए ऐसी कोई भी व्यवस्था उसके सर्वांगीण अभ्युदय का साधक नहीं हो सकती जो उपर्युक्त दोनों बातों को प्रत्येक व्यक्ति के लिए सुरक्षित रख सके।

अधिनायकवादी देशों ने यदि बेकारी दूर कर के रोटी सुरक्षित कर दी तो मनुष्य की स्वतंत्रता छीन ली। पूँजीवादी लोकतन्त्रता प्रदान करने का ढोंग रचा तो उसकी रोटी सुरक्षित न कर सके, जिसके फलस्वरूप मिली हुई स्वतंत्रता भी निरर्थक हो गई। गाँधीजी विकेन्द्री-

करण के द्वारा ऐसे समाज की रचना का स्वप्न देखते हैं, जिसमे प्रत्येक की रोटी भी सुरक्षित हो और स्वतन्त्रता भी। किसी केन्द्रीभूत व्यवस्था मे यह स्थिति सम्भव हो ही नहीं सकती; क्योकि केन्द्रित सत्ता सदा जनाधिकार का अपहरण करने की ओर ही उन्मुख होगी। वह अपनी रक्षा के लिए केन्द्रीभूत शस्त्र-बल का अवलम्बन करने के लिए बाध्य है और शस्त्रशक्ति केन्द्रित होने के बाद अनिवार्यतः निर्दलन और हिंसा का प्रवर्त्तन करेगी। यही कारण है कि गाँधीजी विकेन्द्रीकरण करने के पक्षपाती हैं, जिसमे केन्द्रीभूत शक्ति-सत्ता न रह सके और न जब स्वातंत्र्य का निर्दलन हो सके। पर इस प्रकार का विकेन्द्रीकरण उसी अवस्था मे हो सकता है जब जनवर्ग आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र हो।

फलतः गाँधीजी स्वावलम्बन के आधार पर उत्पादन की प्रणाली का विकेन्द्रीकरण करने की योजना उपस्थित करते हैं। मनुष्य यदि आत्मतुष्ट होगा, जीवन की रक्षा के लिए आवश्यक और मौलिक सामग्रियो की उपलब्धि मे किसी बाह्य सत्ता का परवश न होकर स्वावलम्बी होगा, तभी आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र हो सकेगा। मूल से जिस स्वतंत्रता का विकास होगा और मूल मे ही जब अधिकार और शक्ति का निवास होगा तो दीप-शिखा की भांति ऊर्ध्वाभिमुख होकर वह शक्ति और अधिकार ऊपर जाते-जाते बिन्दु मे ही समाप्त हो जायेगी। ऐसी ही व्यवस्था मे मनुष्य सुखी और स्वतंत्र हो सकेगा। ऐसी ही व्यवस्था हिंसा के बजाय सहयोग मूलक हो सकेगी। उत्पादन की विकेन्द्रित प्रणाली न केवल जन-स्वातन्त्र्य का सर्जन करेगी प्रत्युत साम्राज्यो, दुनिया के बाजारो और भूप्रदेशो की तृष्णा मिटाकर अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षो की सम्भावना भी लुप्त कर देगी। गाँधीजी के विकेन्द्रीकरण का यही मौलिक लक्ष्य है। इसके आधार पर जिस समाज की रचना होगी उसका प्रकृत और व्यावहारिक रूप कैसा बनेगा तथा सङ्घटन, व्यवस्थाओं और विधान का यथार्थ रूप कैसा होगा यह बताना प्रस्तुत ग्रन्थ का विषय नहीं है। उसकी योजना बनानी होगी स्थिति,

स्थान और काल के अनुसार, पर मूलभूत सिद्धान्तों की चर्चा मात्र कर दी गयी है।

विकेन्द्रीकरण, जिस लक्ष्य को सामने रखकर गाँधीजी करना चाहते है, उसकी ओर ध्यान आकृष्ट कर दिया गया है। विकेन्द्रीकरण करते हुए भी गाँधीजी समाज को विशुद्ध व्यक्तिवाद की ओर ले जाना नहीं चाहते, क्योंकि वे व्यक्ति के व्यक्तित्व का प्रयोजन यही मानते हैं कि वह समाज के हित मे अपने को उत्सर्ग कर दे। स्वावलम्बन को विकेन्द्रित उत्पादन की पद्धति का आधार बनाते हुए भी वे सामाजिक इकाइयो (सोशल यूनिट्स) को परस्पर पृथक् करना नहीं चाहते क्योंकि वह मानते है कि समाज का आधार सहयोग-मूलक होना चाहिए। इन सीमाओं को लेकर विकेन्द्रीकरण के आधार पर रचना करना उद्देश्य है, जिसकी ओर भारत का और भारत के द्वारा सारे जगत् का ध्यान आज बापू आकर्षित कर रहा है। इसी पद्धति से वह यह आशा करते है कि हिंसा, वर्ग प्रभुता तथा 'कामनावाद' पर प्रतिष्ठित समाज का आधार बदलेगा और मनुष्य द्वारा जो मनुष्य का उत्पीड़न हो रहा है उसका अस्त होगा।

गाँधीजी के इस सिद्धान्त के सम्बन्ध मे बहुत से प्रश्न उठाए जा सकते है और बहुत सी आपत्तियाँ उपस्थित की जा सकती है। किसी भी विचार को आप ऐसा नहीं पा सकते जिस पर आपत्ति न की जा सकती हो, फिर गाँधीजी का सिद्धान्त भी उसका अपवाद नहीं हो सकता। पर संक्षेप में उपस्थित किए जानेवाले कुछ प्रमुख प्रश्नो को लेकर विचार कर लेना अनुचित न होगा। कहा जा सकता है कि मनुष्य ने युग-युग की यात्रा करते हुए आज उन्नति के जिस स्तर को प्राप्त किया वह उस वैज्ञानिक संस्कृति के रूप मे प्रकट है जिसने मनुष्य को इतना ऐश्वर्य, इतनी शक्ति और इतनी महत्ता प्रदान की है। सहस्राब्दियो तक चूल्हा-चक्की और बैलगाड़ी के चक्कर मे पड़े हुए मनुष्य ने बुद्धि के बल से प्रकृति की शक्तियो पर विजय प्राप्त किया और उत्पादन

के साधनों का आविर्भाव करने में समर्थ हुआ जिनके द्वारा अपने अभाव का निराकरण करके अपनी सारी इच्छाओं को पूर्ण करना सम्भव दिखाई देने लगा। आज क्या इन सब को तिलांजलि देकर पुनः उसी युग में जाना उचित होगा जहाँ से मनुष्य किसी समय चला था? क्या मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति उत्पादन की विकेन्द्रित प्रणाली से करना सम्भव होगा? उत्पादन की मात्रा यदि घट जायगी तो कैसे उतने पदार्थ प्राप्त हो सकेंगे जितने मानव-समाज के अभाव की पूर्ति करने के लिये आवश्यक होंगे? मोटर, वायुयान, रेलवे, विद्युत आदि बड़ी-बड़ी चीजों का उत्पादन बिना महान् यन्त्रों के कैसे सम्भव हो सकेगा।

मनुष्य के श्रम को बचाने में यन्त्रों ने जो काम किया है, वह उत्पादन की नई पद्धति में कैसे सम्भव होगा? क्या मनुष्य के श्रम को बचा कर उसकी शक्ति को दूसरी ओर लगाना और उसे अवकाश प्रदान करना उचित नहीं है? क्या केन्द्रित उत्पादन की प्रणाली रखकर भी उन दोषों का परिहार नहीं किया जा सकता जिनके कारण गाँधीजी उसे त्याज्य समझते हैं? क्या रूस ने ऐसा ही प्रयोग करके यह नहीं दिखा दिया कि यान्त्रिक उत्पादन की पद्धति रखकर भी पूँजीवाद, वर्ग-प्रभुता और जन समाज के दोहन का अंत किया जा सकता है? यदि थोड़ी देर के लिये यह मान लिया जाय कि विकेन्द्रीकरण को अपनाना ही वाञ्छनीय है तो यह प्रश्न उठता है कि आज की दुनिया में क्या यह सम्भव भी है? जिन वर्गों के हाथ में उत्पादन के साधन हैं, जो शासन यंत्र पर आरूढ़ होकर सारी शक्ति और अधिकार को केंद्रित किये हुए हैं, जो आधुनिक यंत्रवाद से पालित और पोषित हैं, वे कभी ऐसा करने क्यों देंगे? कैसे यंत्रों का परिहार किया जायगा? कौन इसके स्थान पर विकेंद्रित पद्धति को स्थापित करने का भार उठावेगा?

मुख्यतः ये ही प्रश्न हैं, जो विकेंद्रीकरण की पद्धति पर विचार

करते समय स्वभावत: उठते हैं। इन प्रश्नों के उत्तर में गाँधीजी का दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है। अलग-अलग नहीं किंतु सामूहिक रूप से गाँधीजी की दृष्टि के अनुसार उपर्युक्त प्रश्नों की विवेचना करने की चेष्टा की जायगी। यह सत्य है कि गाँधीजी जिस उपाय का निर्धारण कर रहे है वह उन तमाम परिस्थितियों और भावों तथा व्यवस्थाओं के विरुद्ध है, जिन्हें आज वैज्ञानिक संस्कृति का नाम प्रदान किया गया है। इसी संस्कृति को लेकर उसकी तुलना में गाँधी जी की पद्धति और कल्पना को पश्चाद्-गामिनी बताया जाता है। पर उसके पहले इस बात की विवेचना की जाय कि गाँधी जी की पद्धति प्रत्या-वर्तनी है या नहीं, यह समझ लेना आवश्यक है कि संस्कृति कहते किसे है। संस्कृति का अर्थ यदि विशाल अट्टालिकाओं से परिपूरित नगरों से हो, यदि धूम्रोत्क्षेपण करनेवाली कल-कारखानों की नभचुम्बिनी चिमनियों से हो अथवा यदि उसका अर्थ एकमात्र भौतिक सुख के साधनों से हो तो अवश्य गाँधी की कल्पना उस संस्कृति के विरुद्ध है। परंतु संस्कृति का अर्थ यदि विकास की उस धारा से हो जिसमें बहता हुआ मनुष्य मानवता की ओर बढ़ता गया हो तो आज इस बात का निर्णय करना होगा कि जिसे लोग आधुनिक सभ्यता कहते है क्या वह संस्कृति की संज्ञा पाने योग्य भी है?

प्रकृति ने मनुष्य को न केवल शरीर बनाया है, न केवल बुद्धि और न केवल आत्मा। वह केवल जड़ भी नहीं है, न केवल पशु है और न केवल देव। वह बहिर्मुखी इन्द्रियों की पुकार मात्र भी नहीं है और न केवल हृदय की भावना का व्यक्त रूप। उसमें न केवल ज्ञान ही है, न विशुद्ध इच्छामात्र और न केवल कर्म-शीलता। मनुष्य जटिल प्राणी है, जिसमें तीनों का समावेश है। इस त्रिवेणी के पावन संगम की सितासितमयी धारा के स्पर्श से ही मानव हुआ है। उसके जीवन की यह त्रिधारा मिल कर जब समान रूप से प्रवाहित हुई तो उसने मानव-संस्कृति का रूप धारण किया।

जीवन का यह अविरल प्रवाह अपने शारीरिक, और आध्यात्मिक क्षेत्रों का अभिषेक करता रहा है। संस्कृति वास्तव मे इस प्रवाह की गति का ही नाम है। समय-समय पर इस धारा ने जो गति ग्रहण की, जो मार्ग पकड़ा वही तत्कालीन संस्कृति के रूप मे उदीयमान होती रही है।

इस प्रवाह मे बहते हुए मनुष्य ने जड़ता प्रदर्शित की है, पशुता से आच्छन्न होता रहा है, पर साथ-साथ जीवन के उन्नततम, उच्चतम और पवित्रतम विधान की झलक भी पाता रहा है। यही कारण है कि अपनी समस्त पशुता को मस्तक पर लादे हुए भी वह अपने पशु का संस्कार करता गया है। संस्कार और संतुलन की इस प्रक्रिया मे मनुष्य पदे-पदे सफल न हुआ होता तो कदाचित् अपनी पशुता के कारण ही धरती से लुप्त हो गया होता। फलत. हम यह पाते हैं कि संस्कृति का आधारभूत और उज्वल अंश वही रहा है जो मनुष्य के पशु का संस्कार करता रहा है। जिस क्षण यह अंश सूखता नजर आता है उसी क्षण मनुष्य का प्रत्यावर्तन पशु की ओर होता है। फिर संस्कृति संस्कृति नहीं रह जाती। मनुष्य का यह पश्चाद्-गमन उसके सारे ऐश्वर्य और वैभव को व्यर्थ कर देता है, क्योंकि उनके रहते हुए भी उसकी मनुष्यता नष्ट होती दिखाई देती है।

आज के जगत् पर दृष्टिपात कीजिये और बताइये कि क्या मनुष्य मनुष्य से ही त्रस्त, उत्पीड़ित और विताड़ित नहीं है? मनुष्य के ज्ञान विज्ञान की उपयोगिता क्या रह गयी यदि उसने उसे मनुष्य होने की शिक्षा न दी? आज मनुष्य-समाज क्या मनुष्य से ही आक्रान्त और भयभीत नहीं हो गया है? भले ही समाज का एक वर्ग वैभव और प्रभुता का अधिकारी होकर फूला न समाता हो पर मनुष्य का मनुष्य से अथवा व्यक्ति का समाज से कैसा सम्बन्ध हो गया है? क्या अपने सुख और विलास के अनुराग मे अन्धे हो कर जगत् को अपनी ही तृप्ति का साधन समझना पशु प्रवृत्ति का ही द्योतक नहीं है? जिसे

आप सभ्यता कहते है वह संयमहीन, अविवेकपूर्ण और असन्तुलित भौतिक भोगो का उपभोग मानव जीवन के चरम साध्य के रूप मे क्या उपस्थित नहीं कर रही है? द्वेष, हिसा और दलन पर प्रतिष्ठित सामाजिक जीवन क्या संस्कृत मानवीय समाज कहलाने योग्य है? आखिर इस संस्कृति ने मनुष्य को प्रदान क्या किया? शोषण के साधन संहार की सामग्रियाँ, हिंसा की प्रवृत्ति को सफलता पूर्वक चरितार्थ करने के उपकरण के सिवा और क्या दिया? जो पशु का संस्कार न करके प्रत्युत उसे और उत्तेजित करे वह क्या संस्कृति कहलाने योग्य भी है?

आज भौतिक सभ्यता की छाया मे आश्रय-प्राप्त विज्ञान उपर्युक्त घृणित स्थिति को बनाए रखने का साधन हो रहा है। मनुष्य की पशुता का परिहार करना तो दूर रहा वह उसे उत्तेजित करने का कारण हो गया है। इस संस्कृति मे सभ्यता देखना विशुद्ध भ्रान्ति और कोरे दुराग्रह के सिवा कुछ नहीं है। वास्तव मे सभ्यता और मानवता का पुरोगमन इस स्थिति की समाप्ति मे ही संभव है। गाँधी जी आज जिस पथ का अनुशीलन कर रहे हैं, व सभ्यता से मुख मोड़ने के लिये नही प्रत्युत वास्तविक मानवीय संस्कृति के उदय के लिये कर रहे है। वह ऐसी संस्कृति के लिये यत्नशील है जो मनुष्य के पशु का संस्कार करती हो। आज ही तथोक्त सभ्यता के रूप मे उद्भूत बर्बरता का पथावरोधन करना ही उनका लक्ष्य है। वे कहते है मैं आधुनिक सभ्यता का दृढ़ विरोधी हूँ। अपनी दृष्टि यूरोप पर डालिये और देखिये कि आज वह भूप्रदेश किस प्रकार इस सभ्यता के नीचे पड़ा कराह रहा है। मैं जो बीज आज बोने जा रहा हूँ उसका परिणाम मानव के पाशवीकरण के रोकने मे मूर्त होगा। मै मनुष्य स्वभाव को पाशवाभिभूति होने देना नहीं चाहता, क्योकि मैं जानता हूँ कि मनुष्य यदि पशु हो जायगा तो अपने साथ-साथ सारी मानव जाति को ले डूबेगा। जो लोग शत्रु पर विजय प्राप्त करने के प्रयत्न मे

अथवा दुर्वल राष्ट्रो और निर्बल मनुष्यो का दोहन करने मे पाशवावच्छिन्न हो जाते है, वे मानवता के पतन के कारण होते है। मनुष्य स्वभाव के इस पतन और उसकी इस भ्रष्टता को मैं सहन नहीं कर सकता। फलत' मनुष्य हृदय के पशु को उभाड़ देने से अधिक कुत्सित कार्य मेरी दृष्टि मे दूसरा नहीं हो सकता।"

विचार करके देखिए कि जिसे आप आज की सभ्यता कहते हैं वह क्या यही कुत्सित कार्य नहीं कर रही है? भले ही आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान पर आप गर्व करे। प्रत्येक मनुष्य मानव-समाज की बुद्धि और सूझ की सफलता पर गर्व करेगा पर उस क्षण उस विज्ञान की क्या सार्थकता रह जाती है जब पशु बना मनुष्य उसका उपयोग पाशविक प्रकार से करने लगे? विज्ञान के रूप मे मिला वरदान क्या अभिशाप नहीं हो जायेगा? गाँधी वैज्ञानिक ज्ञान का विरोधी नहीं है और न उससे उद्भूत यंत्रो का शत्रु है, परन्तु वह शत्रु है उस दुरुपयोग का जो विज्ञान और यंत्र को लेकर मनुष्य कर रहा है। गाँधी जी इसी सत्य की ओर संकेत करते है जब वे कहते है कि "वैज्ञानिक सत्य और आविष्कार लोभ की पूर्ति का साधन हो गया है। इस स्थिति का कुंठन सर्वथा आवश्यक है मेरी दृष्टि मे मनुष्य का हित ही मुख्य स्थान रखता है। यत्र का उपयोग मनुष्यो के अगो को निष्क्रिय बना देने मे अथवा लोभ की पूर्ति के साधन रूप मे नहीं होना चाहिए। यंत्र लाभ कमाने के लिए उपयुक्त न होकर मनुष्य के कल्याण के लिए उपयुक्त हों और लोभ की प्रकृति का स्थान प्रेम ग्रहण करे तभी उनकी सार्थकता है। धन के लिए जो उन्माद छा गया है उसका लोप होना ही चाहिए।"

कौन कह सकता है कि गाँधीजी वैज्ञानिक ज्ञान अथवा यंत्र के विरोधी हैं? वे विरोधी हैं उस भाव के जो उनका परिचालन कर रहा है, वे विरोधी हैं उस स्थिति के जिसमे विज्ञान और यंत्र पशुता को उत्तेजित करने में कारण हो रहे हैं। वे चाहते हैं कि विज्ञान यदि रहे तो मनुष्य-

मात्र के कल्याण की कामना और साधना लेकर रहे। यदि यंत्र रहे तो उसके पीछे न लोभ की प्रवृत्ति हो और न वह शोषण का साधक हो। वह थोड़े से लोगों के श्रम को बचाने के लिए उपयुक्त न होकर सब के श्रम को बचाने मे समर्थ हो। वर्ग-विशेष के ऐश्वर्य का आधार न होकर प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकता पूर्ति का, उसे काम देने का, उसके जीविकोपार्जन का और श्रम से उपार्जित संपत्ति पर उसकी प्रभुता का आधार हो। यदि यह सभव न हो तो उस विज्ञान और उस यत्र के परित्याग मे ही कल्याण है। वह सभ्यता और सस्कृति का सूचक नही वरन् बर्बरता का स्रोत हो जायगा, क्योंकि मनुष्य द्वारा मनुष्य पर हिंसा कराने का कारण बन जायेगा।

आज यही हो रहा है अतएव गाँधी उसका विरोध कर रहा है। जबतक यह स्थिति बनी है तबतक मनुष्य के शुभ्र सस्कार जागृत न होगे और उनके स्फुरण के अभाव मे मनुष्य मानवीय भी न हो सकेगा। गाँधी जी कहते हैं "मुझे भय है कि यंत्रवाद मानवता के लिए अभिशाप होने जा रहा है। किसी राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र का दोहन सदा नहीं चल सकता। यंत्रवाद एकमात्र इसी बात पर अवलम्बित है कि किसी राष्ट्र मे दूसरे राष्ट्र का शोषण करने की कितनी शक्ति है।" यह शोषण ही तो अनैतिक और पाशविक है अतएव बापू की दृष्टि मे "जो अर्थनीति व्यक्ति अथवा राष्ट्र मे नैतिक हित और सुख पर आघात करे वह अमानुषी और पापपूर्ण है।" गाँधीजी का चर्खा उसे मिटाने के प्रयास का प्रतीक है। उसके आधार पर वे जिस अर्थनीति और आर्थिक संघटन की रचना करना चाहते हैं उसका स्पष्टीकरण उनके ही शब्दो मे देखिए।"

वे कहते हैं "मेरे मत से भारत ही नही किन्तु जगत् का आर्थिक विधान ऐसा होना चाहिए कि उसके अधीन कोई भी व्यक्ति ऐसा न हो जो अन्न और वस्त्र के अभाव से पीड़ित हो। प्रत्येक व्यक्ति को जीवनोपाय की इतनी सामग्री अवश्य उपलब्ध होनी चाहिए कि

वह कम से कम जीवन की नितान्त आवश्यकताओ को पूर्ण कर सके। इस आदर्श की प्राप्ति तभी हो सकती है जब आवश्यक मौलिक सामग्रियो के उत्पादन के साधन जनवर्ग के अधिकार मे हो। ये साधन प्रत्येक व्यक्ति को उसी प्रकार प्राप्त हो जिस प्रकार जलवायु सब को समान रूप से प्राप्त होता है। इन साधनो को शोषण का साधन बनने देना कदापि उचित नही है। उन पर किसी देश या राष्ट्र का एकाधिकार स्थापित होना अन्याय मूलक है। इस सरल और साधरण सिद्धान्त की उपेक्षा की गई है जिसका भयंकर परिणाम हम आज जगत् मे देख रहे हैं। भारत ही नहीं बल्कि सारा संसार उसी से परि-पीड़ित है। यही महाविकार है जिसका परिहार करने के लिये खादी आन्दोलन का जन्म हुआ है।

"सारी अर्थनीति और सारे विज्ञान को चर्खे के लक्ष्य की पूर्ति का साधन होने दीजिये। चर्खे को किसी कोने मे मत फेक दीजिये। हमारे कार्यक्रम रूपी सौर मण्डल का सूर्य चर्खा ही है। सम्भव है लोग इसे मेरी भूल ही बतावे, पर जब तक मुझे यह विश्वास नही हो जाता कि मैं भूल कर रहा हूँ, मैं इसकी रक्षा करूँगा। चर्खा और चाहे कुछ भी न हो पर वह निर्दोष अवश्य है। उसके द्वारा किसी का अहित नहीं हो सकता। पर उसके अभाव मे हम और यदि कह सकूं तो कहूँगा कि सारा जगत्, नष्ट भ्रष्ट हुए बिना बाकी न रहेगा। हम जानते है कि युद्ध के बाद यूरोप की क्या दशा हुई है। उस युद्ध मे असत्य का प्रचार वैसे किया गया जैसे किसी महान् धर्म का उस युद्ध का जो फल निकला उससे आज जगत त्रस्त है। चर्खा यदि आज भारत का रक्षक हो सकता है तो कल सारे ससार का भी रक्षक हो सकता है। उसमे अधिक से अधिक लोगो के अधिक से अधिक हित की ही भावना नही है वरन् सभी का अधिक से अधिक हित समान रूप से करने के सिद्धान्त का वह प्रतिपादक है।

"मुझे जगत् में प्रत्येक प्राणी से प्रेम है। फलत. मुझे ऐसा अनुभव

होता है कि हम में से छोटे से छोटा आदमी भी जब तक सुखी नहीं होता तब तक मैं सुखी नहीं हो सकता। यही भावना है जिससे भावित होकर मैं चर्खे को ग्रहण करने का आग्रह करता हूँ। आज बड़े बड़े महलों का निर्माण लाखों को भूखा रख कर और उनका पेट काटकर किया जाता है। आप नई दिल्ली की ओर देखें। ट्रेनों के पहले और दूसरे दर्जे के डब्बों में किए गए सुधार और वहाँ की सुविधाओं को देखें। आप को सर्वत्र यही प्रवृत्ति दिखाई देगी कि थोड़े से अधिकार-प्राप्त श्री-संपन्नों के सुख सुविधा और विलास को बढ़ाया जाय पर दरिद्रों की अधिकाधिक उपेक्षा की जाय। जिन लोगों ने आधुनिक पद्धति को जन्म दिया है उनसे हमारी कल्पना सर्वथा भिन्न है। वे मुट्ठी भर लोगों के हित के सम्बन्ध में सोचते हैं और हमें जगत् के करोड़ों शोषितों और दलितों के लिये सोचना है। आज जो है वह राक्षसी नहीं है तो और क्या है?"

यही है कल्पना जिसके गर्भ में चर्खे का उद्भव हुआ है। वह प्रतीक है उस नव संकृति का जिसके उदर में गाँधीजी मानवजाति का कल्याण देखते हैं। आज जो संस्कृति के नाम से विख्यात है उसमें उन्हें आसुरी भाव का भयावना विकास दिखाई दे रहा है। वह मानुषी नहीं है, क्योंकि अनीति और पाप पर प्रतिष्ठित है। वह तो उन संस्कारों के जागरण में संस्कृति का उद्भव देखते हैं जिनकी ओर ऊपर संकेत किया गया है। वही सच्ची मानव-संस्कृति होगी जो मनुष्य समाज की स्वतन्त्रता और सुख का संवर्द्धन करेगी। आज जो है उसके प्रवाह से मनुष्य को बाहर निकालने में ही मानव-जाति की रक्षा और मानव-संस्कृति का विकास सम्भव हो सकता है।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि विकेन्द्रित उत्पादन की पद्धति से क्या मनुष्य की आवश्यकताएँ पूरी की जा सकेंगी? यदि इस प्रश्न का उत्तर खोजना है तो पहले एक बात समझ लेना आवश्यक है। मनुष्य की आवश्यकता की पूर्ति आप चाहते हैं अथवा उसकी वासनाओं तथा

उत्तरोत्तर बढ़ती इच्छाओं की पूर्ति चाहते हैं? ये दोनों बिल्कुल दो भिन्न बातें हैं, जिनमें आकाश-पाताल का अन्तर है। आवश्यकता की पूर्ति से अर्थ यदि ऐसी सामग्रियो की उपलब्धि से है जो मनुष्य के जीवन की रक्षा के लिए अपेक्षित है तो मै कहूँगा कि विकेन्द्रित उत्पादन की प्रणाली उनकी पूर्ति करने मे आधुनिक उत्पादन की पद्धति की अपेक्षा अधिक समर्थ है। अन्न अथवा वस्त्र उदाहरण स्वरूप ऐसे ही पदार्थ कहे जा सकते है जो जीवन की रक्षा के लिए नितान्त आवश्यक हैं। ऐसे पदार्थों की आवश्यकता पूर्ण करने के लिए ही तो गॉधी जी ने अपनी पद्धति उपस्थित की है।

उत्पादन के साधन पर उत्पादन का और उपार्जित सपत्ति पर भी उत्पादक का स्वामित्व इसी के लिए तो अपेक्षित है, गॉधी जी मनुष्य को अपनी मौलिक आवश्यकताओ की पूर्ति मे स्वावलम्बी क्यो बनाना चाहते हैं? वे ऐसा इसीलिए तो चाहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति बिना किसी बाह्य सस्था पर आश्रित हुए अपनी आवश्यकता की पूर्ति कर सके। यह स्थिति महान् कल-कारखानों की व्यवस्था मे संभव नही है। प्रत्येक व्यक्ति बड़े-बड़े कल-कारखानों से स्वयम् उत्पादन कर भी नहीं सकता। प्रत्येक व्यक्ति उत्पत्ति के इन साधनो का स्वामी भी नही हो सकता। फलतः गॉधीजी ऐसे उपाय को खोजते है जिसमे उत्पादन के साधन ऐसे हों जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए सुलभ हो। जो लोग उनकी पद्धति के संबंध मे उपर्युक्त प्रश्न करते हैं उनसे मैं निवेदन करूँगा कि वे तनिक ऑखे खोल कर देखें कि आज जिस उत्पादन-पद्धति की भूरि-भूरि प्रशसा की जाती है और जिसे मनुष्य की आवश्यकताओ की पूर्ति करनेवाला समझा जाता है, उसका सब से बड़ा दोष क्या यही नहीं है कि वह समाज की मौलिक आवश्यकताओ की पूर्ति करने मे असमर्थ सिद्ध हो रही है और उन्हे जीवन-रक्षा के लिए आवश्यक सामग्री प्राप्त करना असंभव बना रही है।

उत्पादन की मात्रा के अकल्पित रूप से बढ़ जाने से ही तो आव-

श्यकताओं की पूर्ति नहीं हो जाती। आज तो जिस अनुपात मे उत्पादन बढ़ा है उसी अनुपात मे अभाव भी उग्र हो गया है। केन्द्रित उत्पादन की पद्धति मे जनता दूसरे के चुल्लू से पानी पीने के लिए बाध्य है। फलतः वह भूखी भी है और दलित तथा दास भी। गाँधी जी की पद्धति का लक्ष्य यदि कुछ है तो यही है कि एक ओर इस अवस्था का अन्त हो तो दूसरी ओर मनुष्य अपनी आवश्यकता की पूर्ति करने मे स्वतन्त्र हो। विकेन्द्रित उत्पादन की प्रणाली से यह लक्ष्य अपेक्षाकृत अधिक निश्चित ढंग से पूरा हो सकता है। अब रही यह आपत्ति कि विकेन्द्रित पद्धति से मनुष्य की बढ़ी हुई इच्छाओ और वासनाओ की पूर्ति नहीं हो सकती। पूंजीवादी व्यवस्था मे विश्वास रखने वाले तो यह आपत्ति करने का अधिकार ही नही रखते। कारण यह है कि उक्त व्यवस्था मे इच्छाओ और वासनाओ की पूर्ति करने का अवसर भला मिलता किसको है? थोड़े से अनुत्पादक पूंजीपति वर्ग के लोगों को छोड़कर व्यापक जन-समाज तो भूख की भीषण अग्नि और दीनता की विपत्ति मे जला जा रहा है।

व्यापक जन-समाज जब अपने बच्चो का पेट भरने मे और मनुष्य के समान जीवन बिताने मे भी असमर्थ है तो उसके लिए बढ़ी हुई इच्छाओ की पूर्ति का प्रश्न ही कहाॅ उठता है? परन्तु समाजवादी व्यवस्था के समर्थक उपर्युक्त आपत्ति उपस्थित कर सकते है, क्योंकि समान रूप से वर्गहीन समाज के प्रत्येक व्यक्ति की आर्थिक स्वतन्त्रता के पक्षपाती है। वे यह कह सकते है कि आज की सभ्यता, विलास, भोग और इच्छाओ की पूर्ति के साधनो को यान्त्रिक उत्पादन की प्रणाली के द्वारा प्रदान करने मे यदि समर्थ है तो कोई कारण नही है कि जनवर्ग उस अवसर से वञ्चित किया जाय। यदि विकेन्द्रित ग्रामोद्योगो का अवलम्बन किया गया तो फिर उन साधनो का प्रस्तुत होना सम्भव न होगा और मनुष्य की इच्छाऍ पूरी न हो सकेगी।

आज जहाॅ इच्छाओ और आवश्यकताओ की बाढ़ तथा उन्हें पूर्ण

करने के प्रयास को ही मनुष्य की सारी शक्ति और स्फूर्ति का श्रोत माना जाता है, जहाँ मनुष्य को लालसा-पूर्ति मे ही संस्कृति की परिपूर्णता मानी जाती है वहाँ गाँधी की दृष्टि ही दूसरी है। वह तो यह समझता है कि इच्छाओं और कभी न पूर्ण होने वाली आवश्यकताओं का जाल फैलाकर मनुष्य उस भयावने बन्धन का सर्जन करता है जिससे मुक्त होना अत्यन्त दुष्कर होता है। गाँधी ने उस मनोवैज्ञानिक सत्य का अनुभव किया है जो सिद्ध करता है कि इच्छाओं और कामनाओं की पूर्ति तथा मनुष्य की तृप्ति उनके भोग से नही किन्तु नियन्त्रण ही में हो सकती है। स्वतन्त्रता की वेलि इच्छाओं के संयमन और नियमन मे ही फलती-फूलती है। मनुष्य को यदि अपनी खोई हुई स्वतन्त्रता प्राप्त करनी है तो जीवन को संयमित करना पड़ेगा।

कामनाओं और इच्छाओं की दासता स्वीकार करके यूरोप ने धरित्री में भयावनी आग लगाई है। इच्छा और इच्छाओं की पूर्ति की कल्पना पर जो समाज प्रतिष्ठित होगा उसका आधार हिंसा पर होना अनिवार्य है। हिसा यदि आधार होगी तो किसी न किसी रूप मे किसी न किसी वर्ग का दलन और अधिकारापहरण भी होता रहेगा। स्मरण रखने की बात है कि आधुनिक यान्त्रिक प्रणाली की सर्वतोधिक आवश्यकता इसीलिये समझी जाती है कि मनुष्य की इच्छाओ की पूर्ति उससे अधिकाधिक मात्रा मे हो सकती है। समाजवाद अधिक से अधिक इच्छा की पूर्ति करना चाहता है। पूर्ति ही नहीं, वह इच्छाओ की अधिकाधिक वृद्धि आवश्यक समझता है। फलतः उत्पादन की आधुनिक प्रणाली को बनाए रख कर उसके सञ्चालकों मे परिवर्तनमात्र कर देने मे समस्या का हल देखता है। पर इससे क्या समस्या हल हो जाती है?

समस्या है क्या? समस्या इच्छाओं की पूर्ति नहीं है प्रत्युत यह है कि समाज का निम्नतम वर्ग, उसका प्रथम सोपान अर्थात् वह जनवर्ग जिस पर सामाजिक भवन निर्मित होता है अपने अधिकार का उप-

भोग कर पावे। अधिकार-निधि मूल में हो और जनसमाज हो स्वत्वाधिकारी। अधिकार हो व्यापक रूप से वितरित। नीचे से ही अधिकार का वितरण और समर्पण ऊपर को हो, पर उतने का ही समर्पण हो जितना जन-समाज को अपने अधिकारों का समुचित उपभोग करने के लिये समर्पित कर देना आवश्यक हो। जनता का स्थानीय सङ्गठन पूर्ण स्वायत्ताधिकारी हो, जो किसी केन्द्रीयतंत्र के हस्तक्षेप से अधिक से अधिक मुक्त हो। जब ऐसी ही स्थिति होगी तभी जन-स्वतन्त्र की कल्पना वास्तविक हो सकेगी। प्रश्न यह है कि चाहे जिस भी कारण से हो यदि आर्थिक सङ्गठन केंद्रित होगा तो क्या कभी अधिकार और शक्ति के विकेन्द्रीकरण की सम्भावना हो सकती है? गाँधी इसे असम्भव समझता है। जगत् का अनुभव भी यही सिद्ध करता है।

इच्छाओं की वृद्धि करके मनुष्य केंद्रित आर्थिक सङ्गठन पर आश्रित हो जाने के लिये वाध्य होगा, जिसका परिणाम उसकी परतंत्रता में ही मूर्त होगा। उस स्थिति में अधिकार सत्ता अनिवार्यत: शिखर में स्थित होगी। अधिकार अधोमुख स्रोत से ऊपर से नीचे की ओर प्रवाहित होगा जो अन्तिम स्वर तक पहुँचते-पहुँचते सूख जायेगा। फलत मुकुट के रूप में समाज के शिर पर चिपका हुआ अधिकारतंत्र जहाँ अक्षुण्ण प्रभुता का उपभोग करेगा वहाँ नीचे का स्तर निःसत्व हो जायगा जिसके जीवन के प्रत्येक अंश और अग पर उसी प्रभुसत्ता की अँगुलियाँ पहुँचती रहेंगी। केन्द्रित तंत्र के इस दोष से स्वयम् मार्क्स से अधिक कोई परिचित नहीं है। तभी वे यह कल्पना करते हैं कि समाज के लिये आदर्श स्थिति वह होगी जब शासनसत्ता एक दिन क्षय को प्राप्त हुई रहेगी। इस स्थिति को लाने के लिये वे परिवर्तन-काल में प्रचण्ड रूप से केन्द्रीभूत अधिनायक सत्ता की स्थापना का उपाय उपस्थित करते हैं।

इस पद्धति में कहाँ दोष है और उसके पक्ष में दिये गये तर्कों तथा तत्सम्बधी कल्पना में कहाँ भ्रांति है, इस पर किसी गत अध्याय में

विचार कर चुके है पर यहाँ इतना कहना पर्याप्त है कि गाँधी की दृष्टि मे उत्पादन की केन्द्रित प्रणाली रखकर जिस समाज की रचना की जायेगी और उससे उद्भूत जिस केन्द्रीभूत शासन-सत्ता की स्थापना होगी उसके अधीन पड़ा हुआ जनवर्ग कभी स्वतन्त्रता का उपभोग नहीं कर सकता। इसका सबसे बड़ा प्रमाण स्वयम् रूस का ही प्रयोग है, जिसकी महत्ता को स्वीकार करते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि प्रयोगावस्था मे भी उस प्रयोग का सेवन करने के लिए रक्त की धारा प्रवाहित करनी पड़ी है। रूस मे जिस नर-मेध की अधिक आवश्यकता पड़ी, वहाँ की धरती पर दमन, दलन और शस्त्र को जिस प्रकार उद्दण्ड और उलङ्ग नृत्य करना पड़ा उसकी उपेक्षा नही की जा सकती।

हिंसा पर प्रतिष्ठित आधुनिक समाज को मिटाकर जिस नये समाज की स्थापना का स्वप्न देखा जाता है, वह हिंसक पद्धति से प्रतिष्ठित हो ही नहीं सकता। आर्थिक स्वतन्त्रता की पूर्ति उत्पादन की इस प्रणाली को बनाए रख कर की जा सकती है यह समझना विशुद्ध भ्रान्ति है। समाजवादी कल्पना के अनुसार जो व्यवस्था की जाती है उसमे उत्पादक मजदूर वर्ग का स्वामित्व उत्पादन के साधनो पर वैधानिक और काल्पनिक दृष्टि से भले ही घोषित किया जाता हो, पर उसके फलस्वरूप जिस केन्द्रित व्यवस्था और केन्द्रित तन्त्र की सृष्टि होती है वह न आर्थिक स्वतन्त्रता प्रदान करती है और न जनाधिकार के अगाध प्रवाह को गति शील होने देती है। रूस मे न वहाँ की जनता स्वतन्त्र विचार और स्वतन्त्र मत व्यक्त करने मे समर्थ है और न आर्थिक दृष्टया ही स्वतन्त्र है। कौन कितना भोजन करे कितना वस्त्र पहने तथा कितना काम करे और कौन सा काम करे उसका निर्धारण भी केन्द्रीव्यवस्था के द्वारा ही होता है।

यह स्वतन्त्रता नही है और न गाँधी उपर्युक्त धारणा को स्वीकार ही करता है। वह जन-स्वतन्त्रता का एकमात्र उपाय आर्थिक विकेन्द्री-

करण में देखता है और यह आशा करता है कि शासन सत्ता की केन्द्राभिमुखी प्रवृत्ति को रोकने का वही एकमात्र उपाय है। यह उपाय उसी स्थिति में ग्रहण किया जा सकता है जब मनुष्य इच्छाओं और वासनाओं की पूर्ति में ही जीवन के आदर्श और सुख की कल्पना न करे। इच्छाओं की पूर्ति और उनकी अधिकाधिक वृद्धि में ही संस्कृति देखना तथा उनकी सिद्धि को जीवन के लिए आवश्यक समझना यदि स्वीकार कर लिया गया तो फिर केन्द्रित उत्पादन की प्रणाली को अपनाना अनिवार्यतः आवश्यक दिखाई देने लगेगा। पूँजीवाद में जीवन का यही आदर्श उज्जीवित है। यूरोप का आधुनिक सांस्कृतिक दृष्टिकोण भी यही है। और 'समाजवाद' भी इच्छाओं और आवश्यकताओं की वृद्धि तथा पूर्ति को अपेक्षित मान कर अग्रसर होता है। फलतः सभी केंद्रित उत्पादन की प्रणाली को बनाए रखना आवश्यक समझते है।

गाँधी इन मूल आकांक्षाओं और दृष्टियों का विरोधी है। वह तो मनुष्य को इस दिशा से मोड़ना चाहता है। वह चर्खे द्वारा सूचित उत्पादन की पद्धति से मनुष्य जीवन की नितान्त अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति करना चाहता है और उस पद्धति से यह लक्ष्य निस्सन्देह सिद्ध भी होगा। पर दिन प्रतिदिन के बढ़ते हुए 'भोगवाद' का सामना यदि नहीं हो सकता तो उनकी संतृप्ति करना उसका लक्ष्य भी नहीं है। वह तो चर्खे के द्वारा मनुष्य को संयम का उपदेश कर रहा है। इच्छाओं की वृद्धि मार्ग है परावलम्बन और पराधीनता का। स्वाधीनता और स्वावलम्बन यदि अपेक्षित है तो सरलता, शुचिता और संयम को अपनाना ही होगा। चर्खे में संयम का यह संदेश ही तो सन्निहित है। गाँधीजी एक कदम और आगे बढ़ते हैं। वे इस भ्रांति में नहीं रहते कि एक ओर भौतिक भोग-साधन को जीवन का लक्ष्य मानना और व्यक्ति का अपने को समस्त में लय कर देने की भावना से भावित होना एक साथ संभव हो सकता

है। ये परस्पर विरोधी कल्पनाएँ हैं। मनुष्य जब त्याग और उत्सर्ग मे जीवन के सुख और आनन्द की अनुभूति करे तभी समाज के लिए व्यक्ति अपने को लय कर सकता है। इसी के आधार पर गाँधीजी अपरिग्रह के नैतिक आदर्श पर जोर देते हैं।

रूसी बोल्शेवीवाद की चर्चा करते हुए वह कहते हैं "मैं समझता हूँ कि 'बोल्शेवीवाद' व्यक्तिगत सम्पत्ति के लोभ की चेष्टा करता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति को मिटाना वास्तव मे अपरिग्रह के नैतिक आदर्श को आर्थिक क्षेत्र मे कार्यान्वित करनामात्र है। यदि मनुष्य इस आदर्श को स्वेच्छा से स्वीकार कर लेता अथवा उचित शान्तिमय उपायों द्वारा इसे स्वीकार करने के लिए प्रेरित किया जा सकता तो इससे बढ़कर दूसरी कोई बात नहीं हो सकती थी। पर जहाँ तक मैं बोल्शेविज्म को समझ सका हूँ वह न केवल पशु-बल को साधन बनाने की बात स्वीकार करता है, वरन् बिना किसी संकोच के उसकी शरण लेता है और व्यक्तिगत संपत्ति को मिटा कर उस पर शासन-सत्ता का सामूहिक अधिकार स्थापित करने के लिए और उस अधिकार को बनाए रखने के लिए शस्त्र-बल का सहारा लेना उचित समझता है। यदि यही है तो मैं भी बिना किसी अडचन और संकोच के कह सकता हूँ कि अपने आधुनिक रूप में 'बोल्शेवीवाद' अधिक दिनों तक नहीं टिक सकता। क्योंकि मेरा अटल विश्वास है कि कोई भी व्यवस्था जो हिंसा पर आश्रित हो स्थायी नहीं हो सकती।"

अपरिग्रह के उस नैतिक आदर्श को जिसे बोल्शेवीवाद हिंसा के द्वारा आर्थिक क्षेत्र मे प्रतिष्ठित करना चाहता है बापू नैतिक पद्धति से कार्यान्वित करने की चेष्टा कर रहा है। जिस आदर्श को 'मार्क्सवादी' इच्छाओं, कामनाओं और वासनाओं की वृद्धि तथा पूर्ति की आवश्यकता घोषित करके पूर्ण करना चाहता है उसे गाँधी संयम, त्याग और उत्सर्ग के पथ से ही प्राप्त करना संभव समझता है। यह सच है कि उत्पादन के साधनों को समाजवाद व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में न रहने देकर पूँजीवाद

अर्थनीति से उत्पन्न बहुत से दोषों को मिटा देता है और यन्त्रों का उपयोग पूँजीपति वर्ग के स्वार्थ की पूर्ति मे न होने देकर जन-समाज के हित मे करने की चेष्टा करता है तथापि उत्पादन की केन्द्रित प्रणाली रखने के कारण तथा बलपूर्वक एक वर्ग का संहार करने की हिंसक पद्धति अपनाने के कारण जिस केन्द्रित शासनतन्त्र की स्थापना करने को बाध्य होता है उसके फलस्वरूप जन-समाज की स्वतन्त्रता एक ओर जहाँ विकसित नहीं होने पाती वहाँ दूसरी ओर उक्त व्यवस्था हिंसा पर ही अवलम्बित हो जाती है। गाँधीजी विकेन्द्रीकरण की पद्धति के द्वारा इसी दोष का परिहार करना चाहते हैं।

पर यहीं एक आपत्ति और खड़ी की जा सकती है। यदि यह मान भी लिया जाय कि विकेन्द्रीकरण की नीति को अपनाने मे ही मनुष्य-समाज का कल्याण है और उसे ग्रहण करने के लिए बढ़ती हुई इच्छाओं तथा वासनाओ का सयम आवश्यक है तथापि यह प्रश्न तो उठता ही है कि चर्खा जिस उत्पत्ति की प्रणाली का संकेत है उसके द्वारा यातायात के आधुनिक साधन, रेल तार, खनिज पदार्थों की उपलब्धि करने वाले कल-कारखाने, कल-पुर्जे तथा विद्युत् की शक्ति का उत्पादन करने वाले यन्त्रों का निर्माण तो नहीं हो सकता। उनकी रचना तो उत्पत्ति की आन्तरिक पद्धति के द्वारा ही संभव है। यह नहीं कहा जा सकता कि ये पदार्थ केवल विलास की सामग्री हैं। आधुनिक दुनिया मे मानव-समाज के कल्याण और विकास मे इनका उपयोग किया जा सकता है। फिर क्या हस्त-कौशल और ग्रामोद्योग की विकेन्द्रित पद्धति को अपना कर इन सब को तिलांजलि दे देना वांच्छनीय होगा ?

इस प्रश्न के उत्तर मे यह निवेदन किया जा सकता है कि गाँधीजी विकेन्द्रीकरण की प्रथा के प्रवर्तक होते हुए भी यंत्रो के विरोधी नहीं हैं। वे यन्त्रवाद के विरोधी अवश्य हैं। जैसा कि पूर्व के पृष्ठों मे कह चुका हूँ कि बापू यन्त्र की अपेक्षा उस प्रकार के विरोधी हैं जिस प्रकार उसका उपयोग किया जा रहा है। वे विरोधी हैं उसके पीछे बहने वाली भाव-

धारा के और उस व्यवस्था के जो उक्त भाव-धारा का परिणाम है। जो यन्त्र प्रत्येक व्यक्ति को सुलभ हो, जो प्रत्येक के श्रम को बचाने का साधन हो सके, जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति उत्पादन कर सकता हो और इस प्रकार उपार्जित संपत्ति का स्वामी बन सकता हो उसे ग्रहण करने में गाँधी जी को आपत्ति नहीं है। वे कहते हैं "मैं यन्त्रो के विरुद्ध उतना नहीं लड़ रहा हूँ जितना उनके उपयोग करने की पद्धति के विरुद्ध लड़ रहा हूँ। समस्त यन्त्रो की समाप्ति कर देना मेरा लक्ष्य नहीं है। मैं उनकी समाप्ति नहीं प्रत्युत सीमा-बद्धता चाहता हूँ।"

सीमा-बद्धता से गाँधीजी का अर्थ क्या है इस पर प्रकाश डालते हुए वे स्वयम् कहते हैं "दृष्टान्त स्वरूप से सिंगर की सीने वाली मशीन को पेश कर सकता हूँ। सिंगर ने अपनी पत्नी को कपड़ा सीने के पित्त-मार काम में देखा। अपनी पत्नी के प्रति अपने स्नेह के वशीभूत हो कर उसने सीने की कल का आविष्कार किया। अपने आविष्कार से उसने न केवल अपनी पत्नी का श्रम बचाया बल्कि ऐसे सब लोगो की मिहनत बचा दी जो उस यन्त्र को खरीद सकते हो।" गाँधीजी का भाव स्पष्ट है। ऐसे यन्त्र जिससे सब लाभ उठा सकते हो, जो सब का श्रम बचा सकते हो और जिनका प्रयोग विकेन्द्रित ढग से हो सकता हो उन्हें ग्रहण करने में गाँधीजी को आपत्ति नहीं है। पर यह कहा जा सकता है कि यदि गाँधीजी सिंगर की सीने की मशीन को स्वीकार कर सकते है तो उस मशीन का निर्माण करने के लिये भी बड़े-बड़े कारखानो तथा बिजली और वाष्प तथा अग्नि से चलने वाले यन्त्रो की आवश्यकता होगी।

ऐसी स्थिति मे वे बड़े बड़े कारखानो का विरोध कैसे करते हैं? आज के समाज को दो प्रकार के पदार्थों की आवश्यकता होती है। एक पदार्थ तो वे हैं जो मौलिक उद्योग के नाम से विख्यात है। लोहा-कोयला आदि खनिज पदार्थों की उत्पत्ति, विद्युत् की शक्ति, यन्त्र आदि बनाने के कारखाने, सीमेन्ट, रेल आदि के डिब्बे का निर्माण आदि ऐसे ही उद्योग है। दूसरे प्रकार के उद्योगो मे उनकी

गणना की जाती है जो उपभोग्य वस्तुओं का उत्पादन करते हैं। वस्त्र, शक्कर आदि के उत्पादन का व्यवसाय ऐसा ही है। बापू यन्त्रों का विरोध करते हुए भी दूरदर्शिता के साथ अपने विरोध की सीमा यहीं बाँध देते हैं। वे उन पदार्थों के उत्पादन के लिए जो जीवन की रक्षा के लिए आवश्यक होते हैं, यान्त्रिक पद्धति को अपनाना विघातक समझते हैं। अन्न, वस्त्र आदि पदार्थों के उत्पादन मे वे यन्त्र पद्धति का स्पर्श भी नहीं चाहते, क्यों नहीं चाहते, इस पर पूर्व के पृष्ठों मे प्रकाश डाला जा चुका है। पर मौलिक उद्योगों के लिये यन्त्रों के उपभोग को इस शर्त के साथ वे स्वीकार कर लेते हैं कि वे व्यवसाय किसी व्यक्ति की सम्पत्ति न रह कर राष्ट्र की सम्पत्ति बने और उनका समाजीकरण हो जाय।

गाँधीजी कहते हैं "मैं इतना समाजवादी हूँ कि यह कहूँ कि ऐसे आवश्यक उद्योगों का राष्ट्रीकरण कर दिया जाय। उस दशा मे इन उद्योगों का संचालन न केवल आकर्षक और आदर्श परिस्थिति मे होगा वरन् उनका उपयोग लाभ कमाने के लिए न होकर समाज के हित मे होगा। उनके पीछे नियत लोभ की न होकर प्रेम की होगी। सिंगर की मशीन के पीछे भी प्रेम ही की धारा है। मेरी दृष्टि मे व्यक्ति ही सर्वोपरि है"। प्रत्येक व्यक्ति के श्रम को बचाना लक्ष्य हो और उन्नत मानवी भावना हो उत्प्रेरणात्मक प्रयोजन। लोभ के स्थान पर प्रेम की प्रतिष्ठा कर दीजिए सारे प्रश्न स्वयम् ही हल हो जायेंगे। मौलिक उद्योगों का केन्द्रीकरण स्वीकार करके गाँधीजी वास्तव मे आज की परिस्थिति में यथार्थवादिता का परिचय दे रहे हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि वे केन्द्रीकरण के सिद्धान्त को स्वीकार कर रहे हैं। वस्तुतः मौलिक उद्योगों के लिए उत्पादन की केन्द्रित प्रणाली को बनाए रखने से सहमति प्रकट कर के वे केवल केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण मे एक प्रकार का समझौता मात्र कर लेते हैं। समझौता भी केवल इस दृष्टि से कि आज की परिस्थिति मे सिवा इसके दूसरा चारा नहीं है।

आज का मनुष्य रेल-तार से मुख नहीं मोड़ सकता। फलतः

समाज मे उनके लिए व्यवस्था करनी ही होगी। हाँ इतना अवश्य देखना होगा कि यह व्यवस्था करते हुए भी केन्द्रित उत्पादन की प्रणाली के दोष का यथासभव परिहार कर दिया जाय। यह परिहार, उपर्युक्त उद्योगो का समाजीकरण करके, करने की आशा गाँधीजी करते हैं। कहा जा सकता है कि विकेन्द्रीकरण को यदि स्वीकार करना है तो क्यो न उपर्युक्त उद्योगो के लिए भी किसी न किसी प्रकार की विकेन्द्रित पद्धति खोज निकाली जाय ? यदि ऐसा हो सकता तो गाँधी उसे करने मे सकोच न करता। पर इसकी सम्भावना सम्प्रत्ति दिखाई नहीं देती, क्योंकि प्रकृति ने ही इसमे बाधा उपस्थित की है। मानव-जाति को प्राकृतिक पदार्थों का वितरण करते हुए उसने स्वयम् ही, दो प्रकार की पद्धतियो को अपनाया है। कुछ पदार्थों का वितरण वह विकेन्द्रित ढग से करती है, पर कुछ का केन्द्रित प्रकार से ही होता है। उदाहरणार्थ खनिज पदार्थों को ले लीजिए, तेल को ले लीजिए। इनको उसने केन्द्रित ढग से ही प्रदान किया है। यह सम्भव नहीं है कि लोहा-कोयला या तेल अथवा बिजली का उत्पादन व्यक्ति विकेन्द्रित ढग से कर सके। इस स्थिति में या तो इन पदार्थों से मुख मोड़ना होगा अथवा इनका उत्पादन केन्द्रीभूत पद्धति से करना होगा। आज उनसे विमुख होना सम्भव नहीं है। अत दूसरा उपाय ग्रहण करना होगा। ग्रहण करते हुए केन्द्रित-पद्धति के दोषो का परिहार यथासम्भव करना चाहिए और राष्ट्रीकरण ही उस परिहार का उपाय है।

यहाँ यह आपत्ति की जा सकती है कि केन्द्रीकरण के दोषो का परिहार यदि केन्द्रित उद्योगों का समाजीकरण करने से सम्भव हो सकता है और यदि मौलिक उद्योगो का केन्द्रीकरण गाँधीजी को स्वीकार है तो क्यो न अन्य सभी उपभोग्य वस्तुओ के केन्द्रीभूत उद्योगो का समाजीकरण कर दिया जाय ? समाजवादी व्यवस्था यही करती है। इतना तो मानना ही होगा कि समाजवादी अर्थनीति और उत्पादन-व्यवस्था मे लाभ कमाने की अथवा लोभ और शोषण की प्रवृत्ति

नहीं है। फिर उसे अपना कर क्यों न आधुनिक वैज्ञानिक साधनों का सदुपयोग किया जाय। मनुष्य का श्रम बचाया जाय और उसकी बची हुई शक्ति का उपभोग दूसरी दिशा में क्यों न किया जाय ? अन्ततः क्यों न विकेन्द्रीकरण के महाप्रयास से मनुष्य की रक्षा की जाय ?

यह मानते हुए भी कि समाजवादी व्यवस्था मे लाभ उठाने अथवा लोभ और शोषण की प्रवृत्ति नहीं है, गाँधी उपभोग्य वस्तुओं के उद्योग को क्यों विकेन्द्रित करना चाहता है इस पर पूर्व के पृष्ठों मे प्रकाश डाला जा चुका है। कहा जा चुका है कि उपभोग्य पदार्थों के निर्माण की क्रिया को केन्द्रीभूत कर देने से जन-समाज जिस परावलम्बिनी स्थिति का शिकार हो जाता है वह उसकी स्वतन्त्रता और नैसर्गिक अधिकारों के विकास का कुठन अनिवार्यतः कर देती है। भोजन और वस्त्र तथा ऐसे ही नितान्त आवश्यक पदार्थों के लिये परावलम्बन तथा रेल और तार के लिए दूसरे पर निर्भय करना एक ही बात नहीं है। यदि पहले के लिये मनुष्य पराश्रित हो जाय तो वह संघटन जिस पर वह आश्रित होगा उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण आसानी से कर सकेगा, जन-समाज की शिखा सदा उस केन्द्रित व्यवस्था की मुट्ठी मे रहेगी जो जनवर्ग के भोजन और वस्त्र की व्यवस्था करने की अधिकारिणी है। वह केन्द्रित व्यवस्था स्वभावत शक्ति और अधिकार के अधिकाधिक केन्द्रीकरण की ओर अभिमुख होगी और अपने पद की रक्षा के लिए केन्द्रीभूत बल का सहारा ले लेगी। भले ही समाजवादी व्यवस्था मे शोषण न हो पर जनाधिकार का निर्दलन होना अनिवार्य है। क्योंकि वह तन्त्र जो सर्वाधिकारी है निरंकुश रूप से अधिकार-सत्ता का उपभोग करेगा।

रूस मे जहाँ समाजवादी व्यवस्था का प्रयोग हुआ है यही स्थिति रही है। यदि ऐसी व्यवस्था अपेक्षित हो जिसमे न केवल शोषण का अन्त हो, न केवल लोभमयी अर्थनीति की समाप्ति हो प्रत्युत जन-स्वातन्त्र्य की भी रक्षा हो और सर्वाधिकार जनसमाज मे ही निहित

तथा वितरित हो तो उसका एकमात्र उपाय यही है कि उपभोग्य वस्तुओं के उत्पादन मे यथासम्भव जन-समाज केवल स्वतन्त्र ही नहीं स्वावलम्बी भी हो। इसी कारण गाँधीजी उपभोग्य पदार्थों की उत्पत्ति को किसी केन्द्रित व्यवस्था के हाथ मे किसी भी अवस्था में समर्पण करने के लिए तैयार नहीं है। वे मौलिक उद्योगो को केन्द्रित करने के लिए राजी हो जाते हैं, पर इसका यह अर्थ नहीं है कि उसके खतरों से परिचित नहीं हैं। केन्द्रित करने की इतनी आवश्यकता से भी केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति बनी रहेगी और केन्द्रीभूत सत्ता के हाथ मे अधिकार भी बना रहेगा। पर इस खतरे को अधिक न बढ़ने देने के लिए भी यही उपाय है कि जीवन की अति नैसर्गिक आवश्यकताओ को पूर्ण करने वाले पदार्थों की उपलब्धि मे व्यापक जन-समाज यथा सम्भव स्ववश और स्वावलम्बी हो। उस स्थिति मे उसमे इतनी शक्ति रहेगी कि किसी केन्द्रित व्यवस्था के केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति का उस सीमा के बाद सामना और अवरोधन कर सके जब वह जन-समाज की प्रभु-शक्ति और अधिकार पर आघात करने की चेष्टा करे। इसी प्रकार केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण में बापू सन्तुलन स्थापित करने की व्यवस्था करता है।

उत्पत्ति के साधन यदि विकेन्द्रित रहें और यदि उत्पत्ति की प्रणाली विकेन्द्रित रहे और जन-समाज आवश्यक सामग्रियों की उपलब्धि मे स्वावलम्बी रहा तो उसे उत्पन्न पदार्थों के वितरण तथा उपभोग के लिये स्वतः व्यवस्था करनी पड़ेगी। इन तीनों प्रक्रियाओ मे सम्बन्ध और सामञ्जस्य स्थापित करने की व्यवस्था स्वयम् उत्पादक जन-समाज को करनी पडेगी। यान्त्रिक पद्धति मे उत्पादन, वितरण और उपभोग तीनों क्रियाओ को संपादित करने के लिए उत्पादक तथा उपर्युक्त क्रियाओ के बीच मध्यस्थ की सृष्टि करनी पड़ती है। किसी न किसी मध्यस्थ व्यवस्था के द्वारा ही ये कार्य होते हैं। यह मध्यस्थ वर्ग ही क्रमश. अनुत्पादक होते हुए भी उत्पादन वितरण और उपभोग की व्यवस्था

का स्वामी हो जाता है और इस प्रकार उत्पादक जनवर्ग को परावलम्बी अतएव पराधीन बना देता है। यदि विकेन्द्रित पद्धति से मध्यस्थ बने वर्ग का परिहार किया जा सकता हो और यदि उत्पादन, वितरण और उपभोग की सारी व्यवस्था का सम्बन्ध सीधे उत्पादक से हो तो स्पष्ट है कि जन-समाज को अपने प्रबन्ध के लिए अपने ही सहयोग-मूलक संघटन की रचना करनी पड़ेगी। आर्थिक योजना के लिए संघटित हुई सहयोग मूलक जनतन्त्रात्मक संस्था प्रकृत्या और अनिवार्यतः सारे जन-जीवन का सञ्चालन करेगी। इस प्रकार जिस स्वतन्त्रता और जनाधिकार का उदय होगा उसकी रक्षा भी सामूहिक प्रकार से करने मे वह स्वभावतः दत्तचित्त होगी।

अब यदि मौलिक उद्योगो का केन्द्रीकरण कर भी दिया जाय तो यदि कभी उससे उद्भूत केन्द्रवाद की प्रवृत्ति जन-समाज के अधिकार पर आघात करने के लिए बढ़ेगी तो उसे जनता के सामूहिक और संघटित प्रचण्ड बल का सामना करना पड़ेगा। जब शक्ति तुला समान रहती है तब संघर्ष बहुधा हो ही नहीं पाता। गाँधी एक परिमित क्षेत्र मे आवश्यकता की दृष्टि से अनिवार्य केन्द्रीकरण को स्वीकार करके भी जन-समाज के जीवन की रक्षा के लिए उपभोग्य वस्तुओ मे विकेन्द्रीकरण को स्थापित करके उसी सम—शक्ति-तुला की स्थापना कर देता है। यह संतुलन सामाजिक-जीवन को सुव्यवस्थित बढ़ा ले चलेगा। एक प्रकार से विकेन्द्रीकरण के द्वारा वह जन-समाज को शक्ति-सम्पन्न बना देता है। उसके हाथ मे वह शस्त्र प्रदान कर देता है, जिसके सहारे जनवर्ग 'केन्द्रवाद' की सीमा को परिमित कर दे और अधिकार-निधि तथा शक्ति-भण्डार अपने हाथो मे रक्खे। यह न समझिएगा कि जिसकी कल्पना गाँधीजी कर रहे है वह इतिहास के लिए अभिनव और अकल्पित है। भारत की प्राचीन समाज व्यवस्था अनायोजित नहीं किन्तु सर्वांग मे आयोजित थी। उसकी विशेषताओ मे एक विशेषता यह भी थी कि जन-समाज शासनतन्त्रो के हस्तक्षेप से बहुत

कुछ मुक्त था। निरंकुश राजतन्त्र रहे हों अथवा अराजक गणतन्त्र अथवा सघतन्त्र, ग्रामजीवन केन्द्रीय तन्त्र के हस्तक्षेप से सर्वांश में नहीं तो अधिकाश में निर्मुक्त थे। इसका मुख्य कारण यही था कि आर्थिक दृष्ट्या समाज की व्यवस्था के आयोजन के फलस्वरूप जन-समाज स्वतन्त्र था।

भारत की यह व्यवस्था वदिक काल से आरम्भ हुई और सहस्राब्दियाकी लम्बी यात्रा करते हुए ईसा के बाद सत्रहवीं अठारहवीं शताब्दीतक चलती रही। यह सच है कि इस बीच उसने कई पलटे खाये, उसकी शक्ति का क्षय भी समय के प्रवाह के साथ-साथ होता गया पर फिर भी जन-जीवन बहुत कुछ केन्द्रीय तन्त्र से अछूता बना रहा। इस बात को विदेशी इतिहासकार तथा भारत मे ब्रिटिश शासन के स्थापित होने के आरम्भिक युगो मे यहाँ आने वाले विदेशी अधिकारी स्वीकार कर चुके हैं। इस व्यवस्था की तहस-नहस करने का पाप आज ब्रिटेन के ही सिर है। मैं जानता हूँ कि भारत की प्राचीन व्यवस्था का नाम सुनते ही कुछ लोग भड़क उठेंगे। सम्प्रति ऐसी धारा वही हुई है जिसमे पुरानी बातो का नाम लेना भी प्रगतिशीलता के विरुद्ध समझा जाता है। यह 'फैशन' हो गया है कि जो भी पुराना हो चाहे वह कितना भी अपेक्षित और बुद्धि-सम्मत क्यो न हो उसका नाम भी लेने मे शर्म आती है, क्योकि उसमें पश्चात्-गामिता की गन्ध मिलने लगती है।

पर इस हठधर्मी से बच कर और आँखें खोलकर समीक्षात्मक बुद्धि से काम लेना ही वैज्ञानिक दृष्टि और पद्धति कही जा सकती है। जो दुराग्रह उन लोगो मे है जो लकीर के फकीर बने हुए हैं और जिन्हें सब कुछ पुरातन मे ही दिखाई देता है उनसे कम दुराग्रह उनमे नहीं है जो सब कुछ नवीन मे ही पाना चाहते है और जिन्हें पुरातन के नाम से भी त्रिदोष हो जाता है। आज प्रश्न मानव-समाज के कल्याण का है। नवीनता या पुरातनता गौण है हमें न किसी से चिढ़ है

और न किसी से आवश्यक और अन्धप्रेम। हमे इस प्रश्न पर तो विचार करना ही है कि क्या कारण है कि आज यूरोप मे, जो 'लोकतन्त्र' का प्रवर्तक और स्वतन्त्रता का पोषक होने का दावा करता है अथवा उस रूप मे जो समाजवादी होने की घोषणा करता है, जन-समाज और जन-जीवन निर्दलित, परवश तथा पराधीन, हो गया है। क्यो यूरोप ही नहीं परन्तु समस्त भूमण्डल यूरोप मे लगी आग मे जला जा रहा है, क्यो सुदूर के विस्तृत भू-प्रदेश और एशिया अथवा अफ्रीका की झोपडियों में रहने वाला अश्वेत किसान तक उसके भार से चूर हुआ चाहता है? दूसरी ओर क्या कारण है कि भारत मे जहाँ निरंकुश शासनतन्त्र प्रतिष्ठित था जन-समाज अपेक्षाकृत निर्दलन और शोषण से मुक्त था। एक जगह लोकतन्त्र अथवा समाजवाद होते हुए भी शक्ति और अधिकार का 'केन्द्रवाद' विपत्ति ढाए दे रहा है और दूसरी जगह राजतन्त्र होते हुए भी जन-सत्ता एक बड़ी सीमा तक अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र थी। सन् १८-३० ई० मे भारत के तत्कालीन गवर्नर जनरल सर चार्ल्स मेटकाफ भारत की ग्राम-पञ्चायतो के सम्बन्ध मे लिखते हैं कि "ये पञ्चायते छोटे-छोटे प्रजातन्त्र के समान हैं। उनके पास वह सब उपलब्ध है जो वे चाहते हैं। वे अमर मालूम होती हैं क्योकि जहाँ दूसरी सब चीजे ढह रही है वे सजीव हैं। वे पंचायतें भारत की जनता की रक्षा करने मे मुख्य कारण रही है। कोई भी उथल-पुथल, उलट-फेर क्यो न हो जन-समाज को वे सुरक्षित रखती हैं और बड़ी सीमा तक उनके सुख तथा उनकी स्वतन्त्रता को बनाए रखती हैं।"

दुराग्रह को छोड़कर विचार कीजिये कि लोकतंत्र क्यो निरंकुशतन्त्र हो रहा है और निरंकुशतंत्र स्वच्छंद रहते हुए भी जनतन्त्र पर आघात नहीं कर सकता था? इसका एकमात्र कारण यही ज्ञात होता है कि उत्पादन की केन्द्रीभूत प्रणाली भयावने असन्तुलन की सृष्टि करती है जिसमे समाज की तुला डगमगा जाती है। सब कुछ का केन्द्रीकरण लोकतन्त्र के हाथ मे भयावना अभिशाप हो जाता है, पर केन्द्रस्थित 'निरंकुशतन्त्र' के रहते हुए

भी यदि जन-समाज मे अधिकार एक सीमातक वितरित हो, अर्थ की दृष्टि से वह स्वतन्त्र हो और 'विकेन्द्रवाद' पर उसकी रचना हुई हो तो केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति के मुकाबले मे वह सन्तुलन स्थापित हो जाता है जो निरंकुशसत्ता को भी जन-जीवन की अक्षुण्णता के साथ व्यभिचार करने नहीं देता। गाँधीजी एक सीमातक केन्द्रीकरण को आज की स्थिति मे स्वीकार करने के लिए बाध्य होकर भी दूसरे क्षेत्र मे विकेन्द्रीकरण इसीलिए रखना चाहते हैं कि समाज मे सन्तुलन का सर्जन हो सके और व्यापक जन-वर्ग केन्द्रवाद की विभीषिका से मुक्त रह सके।

बड़ा भारी तर्क यह उपस्थित किया जाता है कि यन्त्रों के द्वारा उत्पादन की पद्धति को अपनाकर मनुष्य के श्रम और समय को बचाया जा सकता है और उसका उपयोग दूसरे कार्यों मे किया जा सकता है। यह तर्क यद्यपि बडा प्रौढ़ मालूम होता है, पर विचार करके देखिए कि क्या उसमे कुछ भी तथ्य है? क्या यह तर्क यथार्थता से मेल भी खाता है अथवा केवल बुद्धि का एक खेलमात्र है। पूँजीवादी देशों मे कहाँ और कब मनुष्य का श्रम बचाकर उसकी शक्ति का उपयोग किया गया है? यन्त्रो के द्वारा थोड़े समय मे बहुत कार्य कर डाला जाता है, पर इसका परिणाम मनुष्य का श्रम बचाना तो नहीं, उसे बेकाम कर देना अवश्य हुआ है। यन्त्रों की शक्ति, गति और क्षमता बढ़ाने के लिए नये-नये वैज्ञानिक उपाय निकलते रहे हैं, पर इसका परिणाम बेकारो की भीड़ को अधिकाधिक बढ़ाते जाने मे ही प्रकट होता रहा है। पर समस्या का अन्त यहीं नहीं हुआ। एक समय वह आया जब यह कहा जाने लगा कि सारी दुनिया के मनुष्य विभिन्न पदार्थों को जितना खपा सकते हैं, उससे कहीं अधिक पदार्थ निर्मित होने लगे हैं। फलतः उत्पन्न पदार्थ नष्ट किए जाने लगे, नये-नये कल-कारखानों का बनना रोका जाने लगा और बहुत से बने-बनाए कारखाने इसलिए खरीदे गए कि वे विघटित कर दिए जायँ। ऐसे विघटित हुए कारखानों मे लगे अनेक मजदूर बेकार कर दिए गए।

और न किसी से आवश्यक और अन्धप्रेम। हमे इस प्रश्न पर तो विचार करना ही है कि क्या कारण है कि आज यूरोप मे, जो 'लोकतन्त्र' का प्रवर्तक और स्वतन्त्रता का पोषक होने का दावा करता है अथवा उस रूप मे जो समाजवादी होने की घोषणा करता है, जन-समाज और जन-जीवन निर्दलित, परवश तथा पराधीन, हो गया है। क्यो यूरोप ही नहीं परन्तु समस्त भूमण्डल यूरोप मे लगी आग मे जला जा रहा है, क्यों सुदूर के विस्तृत भू-प्रदेश और एशिया अथवा अफ्रीका की झोपडियों मे रहने वाला अश्वेत किसान तक उसके भार से चूर हुआ चाहता है? दूसरी ओर क्या कारण है कि भारत मे जहाँ निरंकुश शासनतन्त्र प्रतिष्ठित था जन-समाज अपेक्षाकृत निर्दलन और शोषण से मुक्त था। एक जगह लोकतन्त्र अथवा समाजवाद होते हुए भी शक्ति और अधिकार का 'केन्द्रवाद' विपत्ति ढाए दे रहा है और दूसरी जगह राजतन्त्र होते हुए भी जन-सत्ता एक बड़ी सीमा तक अपने क्षेत्र मे स्वतन्त्र थी। सन् १८-३० ई० मे भारत के तत्कालीन गवर्नर जनरल सर चार्ल्स मेटकाफ भारत की ग्राम-पञ्चायतो के सम्बन्ध मे लिखते हैं कि "ये पञ्चायते छोटे-छोटे प्रजातन्त्र के समान हैं। उनके पास वह सब उपलब्ध है जो वे चाहते हैं। वे अमर मालूम होती हैं क्योकि जहाँ दूसरी सब चीजे ढह रही हैं वे सजीव हैं। वे पंचायतें भारत की जनता की रक्षा करने मे मुख्य कारण रही है। कोई भी उथल-पुथल, उलट-फेर क्यो न हो जन-समाज को वे सुरक्षित रखती हैं और बड़ी सीमा तक उनके सुख तथा उनकी स्वतन्त्रता को बनाए रखती हैं।"

दुराग्रह को छोड़कर विचार कीजिये कि लोकतंत्र क्यो निरंकुशतन्त्र हो रहा है और निरंकुशतंत्र स्वच्छंद रहते हुए भी जनतन्त्र पर आघात नहीं कर सकता था? इसका एकमात्र कारण यही ज्ञात होता है कि उत्पादन की केन्द्रीभूत प्रणाली भयावने असन्तुलन की सृष्टि करती है जिसमे समाज की तुला डगमगा जाती है। सब कुछ का केन्द्रीकरण लोकतन्त्र के हाथ मे भयावना अभिशाप हो जाता है, पर केन्द्रस्थित 'निरंकुशतन्त्र' के रहते हुए

भी यदि जन-समाज मे अधिकार एक सीमातक वितरित हो, अर्थ की दृष्टि से वह स्वतन्त्र हो और 'विकेन्द्रवाद' पर उसकी रचना हुई हो तो केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति के मुकाबले मे वह सन्तुलन स्थापित हो जाता है जो निरकुशसत्ता को भी जन-जीवन की अक्षुण्णता के साथ व्यभिचार करने नहीं देता। गाँधीजी एक सीमातक केन्द्रीकरण को आज की स्थिति मे स्वीकार करने के लिए वाध्य होकर भी दूसरे क्षेत्र में विकेन्द्रीकरण इसीलिए रखना चाहते हैं कि समाज मे सन्तुलन का सर्जन हो सके और व्यापक जन-वर्ग केन्द्रवाद की विभीषिका से मुक्त रह सके।

वड़ा भारी तर्क यह उपस्थित किया जाता है कि यन्त्रों के द्वारा उत्पादन की पद्धति को अपनाकर मनुष्य के श्रम और समय को वचाया जा सकता है और उसका उपयोग दूसरे कार्यों मे किया जा सकता है। यह तर्क यद्यपि बडा प्रौढ़ मालूम होता है, पर विचार करके देखिए कि क्या उसमे कुछ भी तथ्य है? क्या यह तर्क यथार्थता से मेल भी खाता है अथवा केवल वुद्धि का एक खेलमात्र है। पूँजीवादी देशो मे कहाँ और कब मनुष्य का श्रम बचाकर उसकी शक्ति का उपयोग किया गया है? यन्त्रो के द्वारा थोड़े समय में वहुत कार्य कर डाला जाता है, पर इसका परिणाम मनुष्य का श्रम वचाना तो नहीं, उसे वेकाम कर देना अवश्य हुआ है। यन्त्रो की शक्ति, गति और क्षमता वढ़ाने के लिए नये-नये वैज्ञानिक उपाय निकलते रहे हैं, पर इसका परिणाम वेकारो की भीड़ को अधिकाधिक वढ़ाते जाने मे ही प्रकट होता रहा है। पर समस्या का अन्त यहीं नहीं हुआ। एक समय वह आया जब यह कहा जाने लगा कि सारी दुनिया के मनुष्य विभिन्न पदार्थों को जितना खपा सकते हैं, उससे कहीं अधिक पदार्थ निर्मित होने लगे हैं। फलतः उत्पन्न पदार्थ नष्ट किए जाने लगे, नये-नये कल-कारखानो का बनना रोका जाने लगा और वहुत से बने-बनाए कारखाने इसलिए खरीदे गए कि वे विघटित कर दिए जायें। ऐसे विघटित हुए कारखानो में लगे अनेक मजदूर वेकार कर दिए गए।

क्या यह पूछा नहीं जा सकता कि मनुष्य के श्रम को बचा कर उनकी शक्ति का कौन सा सदुपयोग किया गया ? बेकारी दूर करने के लिए अस्त्र-शस्त्र के अनेक कारखाने खोल कर सारी धरती को विनाशक सामग्रियों से पाट देने की चेष्टा अवश्य की गयी, परस्पर देशों मे झगड़ा अवश्य पैदा किया गया जिससे शस्त्रादि की बिक्री करके कारखानों को चलता रखा जा सके, आक्रमणकारिता और सैनिकवाद को उत्तेजन अवश्य प्रदान किया गया, पर इसके सिवा मनुष्य-शक्ति का कौन सा उपयोग किया गया ? हवाई तर्क करना तो दूसरी बात है पर तनिक यथार्थता की ओर दृष्टिपात कीजिए। मनुष्य का श्रम नहीं बचाया गया वरन् उसे बेकाम करके भूखों मरने के लिये अवश्य छोड़ दिया गया। जिसके पेट मे भूख का चूल्हा सुलग रहा हो वह अपनी शक्ति को भला किस दिशा मे लगावेगा ? अपने अन्तर की उसी आग मे वह जगत् को जला देने के लिए और स्वयम् जल कर राख हो जाने के लिए ही आगे बढ़ेगा अथवा और कुछ ?

कहा जा सकता है कि यह स्थिति परिणाम है पूँजीवादी अव्यवस्था का। यदि समाजवादी व्यवस्था स्थापित की जाय, उत्पादन की प्रक्रिया नियन्त्रित कर दी जाय, निर्मुक्त प्रतिस्पर्धा की अर्थनीति का अवरोधन कर दिया जाय और लाभ उठाने की प्रवृत्ति का लोप आर्थिक संघटन से हो जाय तो निश्चय ही प्रत्येक व्यक्ति थोड़ा सा कार्य करके एक ओर जहाँ अपनी जीविका उपार्जन कर लेगा वहीं दूसरी ओर अपने बचे हुए समय और शक्ति का सदुपयोग बौद्धिक तथा सांस्कृतिक विकास मे अथवा मनोरंजन और ऐश-आराम मे कर सकेगा। इस तर्क की मोहकता मे मुग्ध हो जाना स्वाभाविक है, पर क्या यह नहीं पूछा जा सकता कि आन्तरिक उत्पादन की पद्धति में इसे व्यावहारिक प्रयोग तो रूस मे ही हुआ है, पर वहाँ इस सिद्धान्त को अबतक कार्यान्वित करने का अवसर ही उपस्थित नहीं हुआ। कारण यह है कि रूस की स्थिति यूरोप के उन्नत औद्योगिक राष्ट्रों से सर्वथा भिन्न

रही है, रूस अनौद्योगिक देश था, उसे विस्तृत भू-प्रदेश प्राप्त है और भूमि की लम्बाई-चौड़ाई की दृष्टि से वहाँ की जन-संख्या अत्यधिक कम रही है। बोल्शेविक सरकार को नव-निर्माण का कार्य करना था। उसे भविष्य का चित्र कोरे कागज पर चित्रित करने का अवसर मिला। उद्योगीकरण के लिए रूसी सरकार के सामने अच्छा मौका था। बड़े-बड़े कल-कारखानों की स्थापना अस्पृश्य पड़ी विस्तृत भूमि में की जा सकती थी, खेतों पर लदी ग्राम्य-जनता को औद्योगिक केन्द्रों में केन्द्रित करके नये-नये विशाल नगरों का निर्माण करना संभव था और ग्रामीण जनता को यूरोपीय रहन-सहन के ढंग में ढालने के लिए पदार्थों का अत्यधिक उत्पादन करना अपेक्षित था।

इसी प्रकार खेती के लिए पड़ी विस्तृत भूमि थी। गाँव की जनता ग्रामों से हट कर जब नगरोन्मुख की गयी तो कृषि के लिए भूमि और अधिक खाली हो गयी। ऐसे विस्तृत प्रदेशों में यान्त्रिक पद्धति से बड़े पैमाने पर थोड़े से लोगों के द्वारा कृषि करना संभव हो गया। इस स्थिति में रूस के सामने प्रश्न जनता की बेकारी का नहीं प्रत्युत नव-निर्माण के लिए मनुष्य के श्रम और उसकी शक्ति के अधिकाधिक उप-योग का था। उसे श्रम और शक्ति को बचाने की नहीं प्रत्युत उन्हें पदार्थों के उत्पादन में अधिकाधिक क्षमता और सफलता के साथ लगाने की आवश्यकता थी। परिणामतः हम यह देखते हैं कि रूस की जनता अधिक से अधिक कार्य करने के लिए तरह-तरह के उपायों से उभाड़ी गयी। रूस की पंचवर्षीय योजनाओं में सब से अधिक प्रचार अधिका-धिक शक्ति लगाकर उत्पादन करने के लिए ही किया गया। देश के अनेक कल-कारखानों में, कारखानों में कार्य करने वाले मजदूरों की टोलियों में, अधिक से अधिक उत्पादन करने के लिए प्रतिद्वन्द्विता उभाड़ी गयी। निर्धारित समय से अधिक कार्य करने वाले कारखानों तथा मज-दूरों की प्रशंसा का पुल बाँधा गया। फलतः मनुष्य का श्रम और समय बचाकर उसे किस प्रकार काम में लाया जायगा और किस प्रकार

यान्त्रिक पद्धति के रहते श्रम और समय बचा कर भी बेकारी का प्रश्न न उठने दिया जायगा आदि प्रश्नों के हल का साकार रूप हमारे सामने अब तक नहीं आया है।

प्रश्न यह है कि यदि समुन्नत औद्योगिक देशों में समाजवादी व्यवस्था के होते हुए भी मनुष्य का श्रम और शक्ति किस प्रकार बचाई जायगी और किस प्रकार यन्त्रों का चलना जारी रखा जायगा और किस प्रकार उत्पादन की गति यथापूर्व बनी रह सकेगी ? यदि ग्रेटब्रिटेन ऐसे देश में मानव-श्रम को बचाने की चेष्टा की जाय तो कैसे किया जायगा ? बड़े-बड़े नगरों का देश होने के कारण जनसंख्या स्थान-विशेषों में केन्द्रित है। भू-प्रदेश भीषण रूप से जन-संकुल है। प्रतिवर्गमील में कई सौ की आबादी का अनुपात है। अब विचार कीजिए कि मनुष्य के श्रम को बचाने के लिए कौन से उपाय काम में लाए जायेंगे ? एक उपाय तो यह है कि मजदूरों के काम के घंटे कम कर दिये जायँ। उस स्थिति में उत्पादन के परिणाम को बनाए रखने के लिए मजदूरों की संख्या बढ़ा देनी पड़ेगी। मान लीजिए कि लंकाशायर की मिलों में २० लाख मजदूर उत्पादन के काम में लगे हैं जो प्रतिदिन ८ घण्टे काम करते हैं। यदि इन मजदूरों से प्रतिदिन ४ घण्टे काम लिया जाने लगे तो उत्पादन के परिणाम को यथापूर्व बनाए रखने के लिए ४० लाख मजदूर काम में लगाने पड़ेंगे। क्या जन-संकुल नगरों में सहसा इतनी आबादी बढ़ा देना संभव होगा ? क्या भौगोलिक दृष्टि से इसमें भारी बाधा उठ खड़ी होने की संभावना नहीं है।

दूसरी पद्धति क्या मिलों को घण्टे दो घण्टे या चार घण्टे प्रतिदिन चला कर बन्द कर देने की है। यदि यह किया गया तो क्या उन वैज्ञानिक साधनों की उन्नति का मार्ग अवरुद्ध कर देना नहीं है जिस पर यन्त्रवाद के समर्थकों को गर्व है ? इसका प्रभाव क्या उत्पादन की गति और परिमाण पर न पड़ेगा ? समाजवादी विशेष रूप से इस बात पर जोर देते हैं कि उत्पादन की गति और नये यान्त्रिक सुधारों की

उन्नति और विकास का कुंठन न होना चाहिये। वे यह भी कहते है कि आवश्यकताओ और इच्छाओं को बढ़ाते जाना चाहिये जिसमे उत्पन्न पदार्थों की खपत अधिकाधिक बढ़ती चले। यदि यही करना है तो कल-कारखानो को अकर्मण्य खड़ा करना संभव न होगा। फिर यदि मनुष्य की इच्छाओ को वढ़ाते जाना ही उपाय है तो क्या यह प्रश्न नहीं उठता कि नैतिक, सास्कृतिक, और मानसिक दृष्टि से यह स्थिति क्या मानव-समाज के लिए कल्याणकर होगी ? एक ओर इच्छाओं का वढ़ते जाना और दूसरी ओर उनकी पूर्ति के लिए किसी केन्द्रित व्यवस्था पर अधिकाधिक अवलम्बित होते जाना क्या जनवर्ग को घोर असहाय और पराधीन स्थिति मे न ला पटकेगी।

ये कतिपय प्रश्न हैं और ऐसे ही अनेक दूसरे प्रश्न भी उठाए जा सकते हैं, जिनका समीचीन उत्तर तब तक नहीं मिल सकता जब तक यान्त्रिक पद्धति को रख कर मनुष्य शक्ति बचा कर और किसी उत्तम दिशा मे उसका सदुपयोग करने के प्रयोग का स्वरूप सामने नहीं आ जाता। इतने पर भी यदि यह मान भी लिया जाय कि यन्त्र की उत्पादन व्यवस्था से मनुष्य का श्रम वचाया जा सकता है तो भी वड़ा भारी प्रश्न यह उपस्थित होता है कि बचे हुए अवकाश का उपयोग किस प्रकार किया जायगा ? आज तो किसी के पास समय वचा दिखाई नहीं देता और जिनके पास है वे उसका सदुपयोग करते दिखाई नहीं देते। कदाचित् वे जानते भी नहीं कि उपयोग किया किस प्रकार जाय। वौद्धिक और मानसिक विकास का नाम वडी सरलता के साथ ले लिया जाता है, पर क्या सव के लिए इस दिशा में रुचि होना सम्भव है ? क्या यह सम्भव है कि साधारण जन-समाज वड़े-वड़े पुस्तकालयो में अथवा संग्रहालयों में अथवा विज्ञान की प्रयोग-शाला मे अपना समय लगावे ? यदि नहीं तो फिर नाचने और गाने में, उछलने और कूदने मे, सिनेमा और द्यूत मे, व्यसन अथवा कलह मे अपना समय लगा कर क्या वौद्धिक विकास करेगा ?

मानव मस्तिष्क और उसके स्वभाव का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने में अब तक कोई विज्ञान सफल नहीं हो पाया है। प्रश्न यह कि मानव-शक्ति को इस प्रकार निरंकुश छोड़ देना और मनमानी दिशा पकड़ने देना क्या मानवजाति के लिए कल्याणकर भी हो सकता है? शक्ति भयावनी वस्तु होती है। वह यदि सदुपयोग से जगत् का हित कर सकती है तो दुरुपयोग से महाविनाश का कारण भी हो सकती है। विचार करने की बात है कि एक दिशा से मनुष्य की शक्ति और श्रम को बचा कर किसी दूसरी भयावनी दिशा में तो नहीं मोड़ दिया जायगा? याद रखिये कि मनुष्य का मन विचित्र पदार्थ है। बहुधा अकर्मण्य प्राणी का अन्तर अनावश्यक खुराफातों का स्रोत हो जाता है। जब तक उसकी गति का निर्धारण करने वाली व्यवस्था का मूर्तरूप सामने न आ जाय तब तक ऐसे भ्रामक तर्क को कि काम से हटा कर मनुष्य की शक्ति का सदुपयोग किया जा सकता है, ले उड़ना बुद्धिमानी न होगा।

मैं समझता हूँ कि आज प्रश्न मनुष्य की शक्ति को बचाने का नहीं है बल्कि यह है कि उसे काम दिया जाय और उसके बचे हुए अवकाश का सदुपयोग किया जाय। यह समझना कि बचे हुए समय का सदुपयोग मनुष्य को अकर्मण्य बना देने में अथवा उसे अपनी इच्छाओं को पूर्ण करने के लिए मनमाना काम करने के लिए छोड़ देने में है, नितान्त भ्रम-पूर्ण है। आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य काम के साथ विश्राम तो अवश्य पावे पर अपनी फालतू बची हुई शक्ति और अवकाश का सदुपयोग कर्मठ हो कर ही करे। आज मनुष्य के श्रम और उसकी शक्ति को यन्त्र के द्वारा बचाने की चेष्टा नहीं की गई है और न उसमें सफलता प्राप्त की गयी है वरन् आधुनिक यन्त्रवाद और यांत्रिक पद्धति के डर से मनुष्य की शक्ति और उसके श्रम का शोषण किया जा रहा है। यन्त्र मनुष्य के लिए नहीं वरन् मनुष्य यंन्त्र के लिए हो गया है। विचार कीजिए कि क्या जो

कुछ हो रहा है उसके आधार पर श्रम को बचाने की आवाज उठाई जा सकती है। बड़े-बड़े कल-कारखानो मे मजदूर दूषित वातावरण और अस्वास्थ्यकर परिस्थितियो में घटो काम किया करता है काम भी यन्त्रवत् ही करना पडता है। न उस मे मनोरंजन है न वैचित्र्य और न आन्तरिक अनुभूति के लिए कोई गुजाइश। इस स्थिति का प्रभाव मनुष्य के शरीर और बुद्धि पर विघातक होता है, जो उसे हर दृष्टि से चूर कर देता है।

इतना करने पर भी मनुष्य मिहनत का इतना पुरस्कार भी नहीं पाता कि पेट भर भोजन कर सके। फलत' उसकी वाह्य और आतरिक शक्ति का क्षय होता जाता है। ऐसी अवस्था में श्रम और शक्ति को वचाने और मनुष्य को अवकाश देने की बात सर्वथा कहना निराधार और निरर्थक है। यदि यह मान भी लिया जाय कि यन्त्रो ने थोड़ा श्रम वचाया तो प्रश्न यह होता है कि क्या अवकाशमात्र से ही मनुष्य की समस्या हल हो जायेगी ? अवकाश मिले यह आवश्यक है, पर उससे भी अधिक आवश्यक यह है कि उसका उपयोग करके ज्ञान कराया जाय। आज इसकी कोई रूप-रेखा हमारे सामने नहीं है यद्यपि श्रम वचाने की गुहार मची हुई है। गाँधीजी की दृष्टि मे एक समस्या को मिटा कर दूसरो समस्या खड़ी कर देना वास्तव में पहली समस्या का हल नहीं है। मनुष्य का श्रम बचाया जाय यह ठीक है पर अवकाश-प्राप्त प्राणी मनमाना भटकने के लिए छोड़ दिया जाय यह एक दूसरी भयावह समस्या हुए विना वाकी न रहेगी। फलतः पद्धति ऐसी होनी चाहिए जो यदि पहली समस्या को हल करती हो तो दूसरे को भी उठने न दे। यन्त्र के द्वारा मनुष्य का श्रम नहीं वचाया गया, वरन् ऐसी जटिल परिस्थिति पैदा कर दी गयी जिस मे श्रम का शोपण करना संभव हो गया, उसका दुरुपयोग किया जा सका और उसका महत्त्व घट गया।

इस परिस्थिति का परिहार यान्त्रिक पद्धति को वनाए रखना नहीं

है। गाँधीजी देखते हैं कि विकेन्द्रीकरण की प्रणाली इस समस्या का समुचित समाधान उपस्थित करती है। उत्पादक हस्त-कौशल का आश्रय ग्रहण करे। वह इस प्रकार न केवल उत्पादन के साधनों का स्वामी होगा, वरन् अपने श्रम का भी प्रभु होगा, क्योंकि उपार्जित सम्पत्ति उसी की होगी। सब से बड़ी बात यह है कि शक्ति और श्रम का उपयोग करते हुए उसे बौद्धिक, शारीरिक और मानसिक विकास करने का अवसर मिलेगा। हस्त-कौशल में लगा हुआ व्यक्ति जिस क्षण अपना औजार सम्भालता है उसी क्षण उसकी अन्तर्भूत चेतना और शारीरिक शक्ति स्पन्दित हो उठती है। वह रचयिता बन जाता है तथा अपने समस्त बल और चेतना का प्रयोग रचनात्मक दिशा की ओर मोड़ देता है। उसकी कलामयी प्रवृत्ति, जीवन की अनुभूतियाँ, प्रकृति की यथार्थता का ज्ञान सब मिल कर उसके कौशल द्वारा अभिव्यक्त होने लगते हैं। मानव अपनी इस साधना में समाविष्ट हो जाता है, उसकी क्रिया और बुद्धि एकात्म हो उठती है, अभिव्यक्ति का रसास्वादन करते हुए वह विभोर हो जाता है और अन्तत अपनी बौद्धिक, मानसिक और शारीरिक शक्ति का विकास करने में समर्थ होता है।

उसका कार्य उसके सब से बड़े मनोरञ्जन का साधन, उसके विकास का कारण और उसकी शक्ति तथा श्रम के सदुपयोग का आधार हो जाता है। वह एक ओर जहाँ अपनी भौतिक इच्छाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति करने में समर्थ होता है वहीं रचयिता होने के नाते अपनी आन्तरिक शक्ति का उद्बोधन करने में सफल होता है। उसके श्रम का महत्त्व बढ़ जाता है और शक्ति पूत हो उठती है। गाँधी एक कदम और आगे बढ़ता है। वह मानव-हृदय की उन सद्‌प्रवृत्तियों को जगा देने की भी चेष्टा करता है, जो श्रम और शक्ति का उपयोग यज्ञार्थ करने में सुख की अनुभूति करती है। भौतिक भोग की वासना को यथावश्यक पूर्ण करते हुए मनुष्य अपनी शक्ति और समय

का उपयोग समाज के कल्याण में करे इसी में उसकी मानवता है।

गाँधीजी की दृष्टि मे व्यक्ति सर्वोपरि है, उसका विकास अपेक्षित है; पर वह यह भी मानते हैं कि व्यक्ति अपने व्यक्तित्व की उपलब्धि समाज मे ही रहकर कर सकता है। उसका विकास शून्य मे नही हो सकता। इसी कारण व्यक्ति और समाज का पृथक्करण सिद्धान्ततः शब्दो मे भले ही कर दिया जाय, पर वस्तुतः और व्यवहारत वे दोनो परस्पर पूरक हैं। उनका सम्बन्ध परस्पर अविच्छेद्य है। वास्तविक जीवन मे दोनों साथ-साथ चलते है और अन्योन्याश्रित रहते हैं। दोनो के सम्बन्ध के इस स्वरूप की अपेक्षा करना व्यक्ति और समाज, दोनो को भयावने खतरे मे ढकेलना है। दो मे से किसी एक को ही आवश्यकता से अधिक प्रामुख्य प्रदान कर देना और दूसरे को गौण बना देना जीवन और समाज को तुला को बुरी तरह डगमगा देना है। जगत् की आज की दुरवस्था का बहुत बड़ा कारण यह असतुलन ही है। इतिहास मे बार-बार कभी व्यक्ति को समाज की अपेक्षा अधिक और कभी व्यक्ति की पूर्णतः उपेक्षा करते हुए केवल समाज को मुख्यस्थान देने की चेष्टा होती रही है।

कभी व्यक्तिवाद ने ऐसा रूप ग्रहण किया है जब समाजिक जीवन विघटित होने लगा है और कभी समाज ने अपने को ही साध्य और साधन समझ कर इस प्रकार व्यक्ति को कुचलने की चेष्टा की है कि उसका सारा व्यक्तित्व और उसकी अन्तः प्रेरणा विचूर्ण हो उठी है। कभी जब ऐसे अवसर आए हैं तब संस्कृति की धारा विक्षुब्ध हो उठी है। गाँधी का प्रयत्न आज दूसरी दिशा की ओर है। वह व्यक्ति और समाज मे समन्वय स्थापित करना चाहता है जिसमें एक दूसरे के पोषक और पूरक हो सके। मनुष्य मे तदनुकूल सद्प्रवृत्तियो को जागृत करना उसका प्रयास है। फलतः वह मानव श्रम और शक्ति को भी उसी दिशा की ओर मोडना चाहता है। मनुष्य शक्ति और श्रम का उपयोग अपने हित मे करे और

यज्ञार्थ भी करे। यही उसकी शक्ति और श्रम का सदुपयोग होगा जो व्यक्तिगत और समाजिक जीवन की तुला को स्थिर कर देगा। ऐसा तभी हो सकता है जब मनुष्य अपनी शक्ति और श्रम का स्वयं स्वामी हो, शक्ति और श्रम करने मे उसे रस मिले और उसी के द्वारा हो सके उसका उचित विकास। हस्तकौशल और उत्पादन की विकेन्द्रित प्रणाली से इसकी सिद्धि संभव दिखाई देती है।

हस्त-कौशल का उपहास करने का रिवाज सा हो गया है। नई रोशनी वालो को उसमे पुरानेपन की दुर्गन्धि मिलती है। पर गाँधीजी ही नहीं स्वयं मार्क्स ने उसके सम्बन्ध मे जो लिखा है उस पर दृष्टिपात कीजिए। वे कहते हैं कि हस्त-कौशल में कारीगर जहाँ औजार स्वयं उठाता है वहाँ कारखाने मे वह यंत्र की सेवा करता है। पहले मे कारीगर औजार चलाने में स्वतंत्र रहता है। पर दूसरे में मजदूर की गति मशीन के अधीन रहती है। यन्त्र द्वारा काम करते हुए मजदूर मशीन का ही अङ्ग बन जाता है। कारखाने मे ऐसी निर्जीव यांत्रिकता रहती है जिस पर मशीन द्वारा काम करने वालो का कोई अधिकार नहीं रहता, वरन् वे स्वयं उसी मशीन मे उसके सजीव अङ्ग की भांति मिल जाते हैं। मशीन मे होने वाली एक ही प्रक्रिया निरन्तर एक ही ढंग से होती चलती है जो थके हुए मजदूर पर सवार हुई सी रहती है। यन्त्र के काम मे सिवा एक ढंग की क्रिया के न वैचित्र्य है, न मनोरंजन। फलतः वह स्थिति स्नायुतन्तुओ को विच्छिन्न कर देती है और उसकी मांस-पेशियो की अनेक प्रकार की सक्रियता मे रुकावट पैदा कर देती है। यन्त्र के द्वारा जो श्रम बचता है वह भी अत्याचार का ही साधन बन जाता है, क्योकि यन्त्र मनुष्य को काम से मुक्त नहीं करता है, प्रत्युत काम मे जो रस मिलता है उससे वंचितमात्र कर देता है।"

वे कहते हैं :

केए गए हैं। यदि यन्त्र श्रम नहीं बचाते प्रत्युत काम मे जो रस मेलता है उससे भी वचित करते हैं तो इस पद्धति को क्यो बनाए रखा जाय? मार्क्स को कदाचित् इसके स्थान पर दूसरी पद्धति की स्थापना करना संभव दिखाई नहीं देता था। उनके विचार उस समय उत्पन्न हुए थे जब पश्चिमी यूरोप का उद्योगीकरण चरम अवस्था पर पहुँच चला था। बड़े-बड़े नगर, औद्योगिक केन्द्र और कल-कारखाने स्थापित हो चुके थे तथा ग्राम और ग्रामोद्योग और हस्त-कौशल मिट चुका था। संभवतः मार्क्स को विज्ञान से प्राप्त हुई यांत्रिक पद्धति से भी मोह था, उसे छोड़ना मिली हुई विभूति और उद्भूत सभ्यता से मुख मोड़ना दिखाई देता था। फलत समाजवाद यांत्रिक पद्धति से पैदा हुई सारी विपत्ति और समस्त अनर्थों का शत्रु और प्रतिवाद होते हुए भी उसी पद्धति को अपनाए रखना चाहता है। वह जो करता है वह इतना ही कि उस से उद्भूत उपसर्गों का शमन हो जाय। बाहरी सुधार के द्वारा उसके दोषों के परिहार की चेष्टा करता है।

गाँधी सुधारवादी नहीं क्रान्तिकारी है। वह साहस के साथ आगे बढ़ता है और नयी रचना के लिए पुराने आधार को ही बदल देने का प्रयत्न करता है। विकेन्द्री-करण में उसकी वही क्रान्तिकारी भाव-धारा व्यक्त होती है। विकेन्द्री-करण को वह साधन भी बनाता है और साध्य भी। उसके द्वारा पूँजीवाद का विघटन भी करना चाहता है और उसी के आधार पर नव रचना के भव्यभवन की स्थापना भी। जिस प्रकार सत्याग्रह में संघर्षात्मक और रचनात्मक दोनो प्रवृत्तियाँ साथ-साथ चलती हैं उसी भाति विकेन्द्रीकरण मे क्रान्ति के दोनो पहलू अर्थात् विघटन और निर्माण एक साथ ही सन्निहित हैं। यदि संक्षेप में गाँधीजी के विचारों का सार देने की चेष्टा करूँ तो कह सकता हूँ कि उनकी दृष्टि में जीवन आकस्मिक घटना नहीं है उसका प्रयोजन है, जिसकी पूर्ति करने के लिए ही मनुष्य का उद्भव हुआ है। फलतः मानव-जीवन का एक लक्ष्य है, जिसकी ओर बढ़ते जाना ही उसका कर्तव्य है और जिसे प्राप्त

करने में ही उसकी सार्थकता है। जीवन के इस लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक होना समाज की उपयोगिता है।

फलतः समाज की रचना ऐसी होनी चाहिये कि मानव-जीवन अपनी पूर्णता को प्राप्त कर सके। ऐसा समाज तभी संघटित हो सकता है जब उसकी रचना नैतिक सिद्धान्तों के आधार पर हो। गाँधी जी की दृष्टि में नैतिक सिद्धान्त सत्य-अहिंसा और न्याय के सिवा दूसरे नहीं हो सकते। इन सिद्धान्तों का अस्तित्व वे अक्षुण्ण समझते हैं। इन्हीं के आधार पर समाज की रचना कर के जीवन उस सहायता को प्राप्त कर सकता है जिसके बल पर लक्ष्य की ओर बढ़ता चले। ऐसे समाज में, जो सत्य, अहिंसा और न्याय के आधार पर स्थापित होगा, किसी प्रकार का शोषण, दलन और दासता चाहे वह आर्थिक हो अथवा राजनीतिक अथवा सामाजिक, सम्भव नहीं है। फलतः गाँधी जी ऐसे समाज की कल्पना करते हैं, जो शोषण और दासता से सर्वथा मुक्त हो।

पर इस समाज की रचना उसी स्थिति में सम्भव है जब सारा सामाजिक जीवन, राजनीतिक तथा आर्थिक संघटन सत्य, अहिंसा और न्याय पर ही स्थापित हो। यदि ये सिद्धान्त न रहेंगे और जीवन का पहलू इनसे वंचित रहेगा तो हिंसा और शोषण अनिवार्य रूपेण उपस्थित रहेंगे। और यदि हिंसा और दलन उपस्थित रहेंगे तो मनुष्य कभी स्वतन्त्र रूप से अपने महान् लक्ष्य की पूर्ति करने में सफल न हो सकेगा। वह साधन बनता रहेगा उन लोगों की इच्छा-पूर्ति का जो अनीति और दोहन को मिटा कर अहिंसा और स्वतन्त्रता के आधार पर समाज की रचना करने की पद्धति गाँधी जी खोज निकालते हैं। वे देखते हैं कि उसका एकमात्र उपाय यह है कि किसी भी प्रकार के केन्द्रीकरण को सामाजिक जीवन में स्थान न दिया जाय। शक्ति हो अथवा अधिकार सामाजिक पद हो अथवा आर्थिक सूत्र सब का विकेन्द्रीकरण आवश्यक

है इसलिए कि समाज हिंसा-हीन, शोषण-हीन, वर्ग-हीन और दासता-हीन हो जाय।

अभिप्राय यह है कि विकेन्द्रीकरण के द्वारा वे उस समाज की रचना करना चाहते हैं जिसमे वर्गों की प्रभुता न हो। यही कारण है कि एक ओर वे जहाँ पूँजीवादी व्यवस्था की अव्यवस्थित अराजकता और वर्ग-प्रभुता के विरोधी हैं, वहीं दूसरी आर उस प्रचण्ड और भयावने केन्द्र-वाद के भ' विरोधी हैं जिसका प्रतिनिधित्व रूस का बोल्शेवीवाद कर रहा है। वे प्रतिपादक हैं उस व्यवस्था के जिसम व्यक्तिवाद और समाज-वाद का, केन्द्रवाद और विकेन्द्रवाद का सु-आयोजित और सुविचारित समन्वय हुआ हो, जिसमे सामाजिक और वैयक्तिक जीवन मे ऐसा संतु-लन स्थापित हुआ हो जो दोनो के विकास मे सहायक हो। इस लक्ष्य को अपना दृष्टिविन्दु बना कर ही गाँधी की सारी विचारधारा प्रवाहित होती है।

उत्पादन की प्रणाली का विकेन्द्रीकरण और ग्राम्य तथा कुटीर उद्योग का पुनरुज्जीवन उपर्युक्त दार्शनिक दृष्टिकोण से उद्भूत व्यवस्था है जिसे आर्थिक क्षेत्र में गाँधीजी स्थापित करना चाहते हैं। सीधी बात है कि जिस दृष्टि से जीवन को देखा जाता है, जगत् और जीवन के प्रयोजन के प्रति जो भाव ग्रहण किया जाता है, उसी के अनुसार जीवन और समाज की व्यवस्था करने का प्रयत्न किया जाता है। 'वोल्शेवीवाद' वही व्यवस्था स्थापित करना चाहता है जो उसकी दार्शनिक दृष्टि के अनुकूल है। गाँधीजी के विचारों और उनकी व्यवस्था के प्रकृत रूप को समझने के लिए उनके दार्शनिक दृष्टिकोण पर दृष्टिपात कीजिए। स्वभावत वे वैसी ही व्यवस्था को जन्म देना चाहते हैं जो उनके उस लक्ष्य के अनुकूल हो जिसकी पूर्ति वे जीवन और जगत् का प्रयोजन समझते हैं।

आर्थिक क्षेत्र ही नहीं सामाजिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में और

व्यक्तिगत जीवन के क्षेत्र मे वे तदनुकूल व्यवस्था स्थापित करना चाहते हैं। समाज सत्य और अहिंसा पर आश्रित हो जो स्वतन्त्र, समान व्यक्तियो का वर्गहीन, वर्णभेदहीन सहयोग मूलक समूह हो, जिसमे श्रम का महत्त्व हो और श्रम व्यक्ति की आवश्यकताओ की पूर्ति के सिवा समाज के हित मे यथार्थ उपयुक्त हो। राजनीति भी धूर्तता, प्रवचन, स्वार्थपरता और शक्ति तथा अधिकार-पिपासा से परे समाज के कल्याण का साधन हो और न्याय, तथा अहिंसा पर आश्रित हो। तात्पर्य यह कि राजनीति भी नैतिकता-मूलक हो। व्यक्ति परिवर्त्तित हो जिसके उन्नत और शुभ्र मानवीय भाव जागृत हो, जो जीवन को जगत् के हित मे लय कर देने मे सुख और पूर्णता का अनुभव करता हो। जीवन का आदर्श अहं की सत्ता को विराट् मे विसर्जित कर देता हो।

संक्षेप में ऐसी ही है गाँधी की सर्वाङ्गीण सामाजिक कल्पना जो उनके दार्शनिक दृष्टिकोण के अनुकूल तथा उसका परिणाम है। प्रश्न यह उठता है कि आखिरकार इस प्रकार के समाज की स्थापना होगी कैसे ? कौन इसका भार उठावेगा ? जो वर्ग आधुनिक व्यवस्था और विधि से पोषित है, जो उसकी छत्र-छाया मे वैभव का उपभोग कर रहा है और जो अधिकारारूढ़ है, वह अपने पैरो के नीचे की धरती को खिसकने क्यो देगा ? क्या अपनी सारी शक्ति और अधिकार के द्वारा इस प्रवाह को रोकने की चेष्टा न करेगा ? ऐसी स्थिति मे यदि गाँधीजी की कल्पना को कार्यान्वित करना हो तो करेगा कौन ? उत्तर में निवेदन यह है, कि गाँधीजी यह विश्वास करते हैं कि इस भार को उठावेगा एक ओर वह विशाल और व्यापक जनवर्ग जो आज की स्थिति से दलित और त्रस्त है तो दूसरी ओर वह उन वर्गों से भी जो आधुनिक व्यवस्था से परिपालित हैं यह आशा करता है कि वे इस कार्य मे सहायक होगे।

गाँधीजी के इस दृष्टिकोण पर बहुतों को आश्चर्य हो सकता है, पर

यह दृष्टिकोण ही उनकी सारी विचारधारा का प्राण है। अहिंसा को जीवन का आधारभूत तत्व देखनेवाला इस दृष्टि के सिवा दूसरी दृष्टि ग्रहण कर ही नही सकता। जो यह समझता है कि सारा विश्व प्रपञ्च नैतिक नियमो की सनातनता, अमरता और अक्षरता स्वीकार करता है और जो यह समझता है कि जीवन का प्रयोजन नैतिक आदर्श की ओर चढते जाना ही है, उसके लिए उपर्युक्त दृष्टि ग्रहण करना अनिवार्य है। गाँधीजी मनुष्य की नैसर्गिक शुभ्र-प्रवृत्ति मे विश्वास करते है और मानते हैं कि मनुष्य स्वभावत बुरा नहीं है। प्रकृत्या यदि वह असत् से उत्प्रेरित दिखाई देता है तो सद्भावापन्न भी है। उसके सदश का जागरण भी वैसे ही सहज और स्वाभाविक है जैसे असत् का।"

फलत. उचित प्रेरणा, स्फुरण और परिस्थिति मिलने पर उसका शुभान्तर जागृत होता है और मनुष्य की शुद्धि करता है। यदि मनुष्य के जीवन की यह उन्मुखता न होती तो उसका मानवी विकास न हुआ होता। मनुष्य के प्रति इसी आस्था और विश्वास के फलस्वरूप गाँधीजी उन वर्गों से भी आशा रखते हैं जो आधुनिक समाज के पोष्य-पुत्र हैं। बापू के शब्दो पर दृष्टिपात कीजिए और उसके मन्तव्य को हृदयङ्गम कीजिए। वह कहते हैं "मनुष्य को उसके पशु-स्वभाव मे न देखो और न वन्य प्रवृत्तियो से प्रभावित बर्बर विधान का अनुगमन करते हुए देखो, उसे उसकी सारी उज्वलता में देखो! उसका अध्ययन यह समझ कर करो कि वह अपने स्वभाव के उन्नत और दैवी स्वरूप के वशीभूत होकर कार्य कर सकता है तथा प्रेम के विधान का अनुभव भी कर सकता है। मेरा विश्वास है कि मनुष्य की शक्ति पतनाभिमुख नहीं किन्तु उत्कर्ष की ओर उन्मुख है। यह परिणाम है उस अज्ञात किन्तु प्रेम के निश्चित विधान का जो सृष्टि मे कार्यान्वित है। मानव समाज आज तक जीवित है, यही प्रमाण है इस बात का कि उसकी विघटनकारी और विघातक शक्ति की अपेक्षा वह शक्ति कहीं अधिक बलवान् है जो एकात्मता तथा समवेदनशीलता का सर्जन करती है।

मैं प्रेम का राग ही जानता हूँ और इसी कारण मनुष्य की शुभ प्रवृत्ति मे भी विश्वास करता हूँ।

"यदाकदा मैं भी ऊब उठता हूँ। सोचने लगता हूँ कि जगत् का यह अभिशाप कब मिटेगा, कब मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण और दलन का अन्त होगा। पर तत्काल ही मुझे उत्तर मिल जाता है कि मेरा काम प्रेम के विधान की विधि से अपना काम करते जाना है और हृदय मे यह आशा तथा विश्वास रखना है कि मनुष्य-स्वभाव का उसके द्वारा प्रभावित होना अनिवार्य है"। मनुष्य के प्रकृति की उज्वलता और सद्भावना मे यह अटल विश्वास गाँधीजी की विचारधारा की विशेषता है। वे मनुष्य के स्वभाव मे अपनी आस्था खो देने के लिए तय्यार नहीं हैं। इसी कारण वे किसी व्यक्ति या वर्ग से न घृणा कर सकते हैं और न द्वेष। वे किसी के विनाश की इच्छा भी नहीं कर सकते। हाँ, वह यह आशा अवश्य करते हैं कि मनुष्य का सहज अहिंसक और नैतिक भाव जगाया जा सकता है और उसको विशुद्ध तथा परिवर्तित किया जा सकता है।

इसी भाव को गाँधीजी प्रकट करते है जब वे कहते हैं कि "अहिंसा की शक्ति किसी का संहार नहीं करती। वह केवल शुद्धि करती है। जो शुद्धि की सीमा से परे हैं उनका विनाश तो स्वयमेव बिना किसी प्रयास के उसी प्रकार हो जाता है जिस प्रकार असाध्य रोगों से जर्जर शरीर नष्ट हो जाता है।" फलतः गाँधी जी उपर्युक्त विश्वास के आधार पर यह कल्पना करते हैं कि सुविधा प्राप्त, अधिकार-सम्पन्न और स्थिरस्वार्थी वर्ग परिवर्तित किया जा सकता है तथा उसकी शुद्धि इस प्रकार की जा सकती है कि वह अपने अधिकार और अपनी सुविधाओं तथा वैभव का उपयोग एकमात्र अपने स्वार्थ की पूर्ति मे न करके जन-हित मे करे। 'संरक्षकवाद' (ट्रस्टीशिप) की उनकी योजना में यही भाव व्यक्त है। राजे-महाराजे, धनी व्यापारी और व्यवसायी पूँजीपति और जमींदार आदि वर्ग जो आज जन-शोषण और दलन पर प्रतिष्ठित हैं परिवर्तित हो

और अपने ऐश्वर्य को अपनी कामना और लोभ की तृप्ति का साधन न बनाकर जनता की धरोहर समझें। अपने को उसका अनियन्त्रित स्वामी नहीं, वरन् संरक्षक और व्यवस्थापक समझे, जिनका काम केवल इतना हो कि वे उसकी रक्षा करें और उसका उपयोग यथासम्भव उसकी वास्तविक स्वामिनी जनता के हित में करें।

राजे-महाराजे और धनी सम्पन्न वर्गों को सम्बोधित करके गाँधी जी कहते हैं "कोई विक्षिप्त ही होगा जो यह समझता होगा कि जो स्थिति आज है वह सदा बनी रहेगी। अपने अधिकारो के लिए संग्राम करने को जन-वर्ग बाध्य है फिर यह संग्राम हिंसात्मक हो चाहे अहिंसात्मक। किसी भी दशा मे राजे-महाराजे और सम्पन्नवर्ग उन करोडो दलित नर-नारियो के सम्मुख नहीं टिक सकते जो आज अपनी शक्ति से परिचित हो रहे हैं। मैं चाहता हूँ कि राजे-महाराजे काल के प्रवाह को समझें और स्वेच्छा से अपनी अनियन्त्रित शक्ति, अधिकार तथा ऐश्वर्य का विसर्जन जनहित में करके उसके सेवक बन जायँ। याद रखिए कि जनवर्ग के उत्थान को जगत् की बड़ी से बड़ी पशु-शक्ति भी रोकने मे समर्थ नहीं हो सकती। मैं आशा करता हूँ कि मनुष्य की सामूहिक अन्तर्ज्योति उस उन्मत्त-प्रलयङ्कर स्थिति को न आने देगी जिसका उपस्थित हो जाना उस स्थिति मे अनिवार्य है जब वे लोग जो जनाधिकार के अपहरण पर प्रतिष्ठित हैं, जागृत नहीं होते। मैं इसी कारण इस समस्या को हल करने का अहिंसक उपाय आज उपस्थित कर रहा हूँ।

"जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है मैं उनकी समाप्ति नहीं, परिवर्तन चाहता हूँ। परिवर्तित हों ट्रस्की-संरक्षक के रूप में जो नाम मात्र को ही नहीं, वरन् वास्तविक हो। समाज की स्वतन्त्रता कुछ व्यक्तियो के हाथ मे कदापि छोड़ी नहीं जा सकती। किसी भी व्यक्ति को चाहे वह राजा हो या जमींदार अथवा धनी-व्यापारी यह अधिकार नहीं है कि वह स्वोपार्जित अथवा पैत्रिक सम्पत्ति का निरंकुश स्वामी और उपभोक्ता

हो। प्रत्येक व्यक्ति को इस बात की पूरी स्वतन्त्रता है कि वह अपनी बुद्धि और योग्यता का उसी प्रकार प्रयोग करे जिस प्रकार दूसरे करने का अधिकार रखते हैं, पर किसी को भी यह अधिकार नहीं है कि बुद्धि और कौशल से उपार्जित सम्पत्ति का उपयोग भी मनमाना कर सके। प्रत्येक व्यक्ति परवर्ती समाज का ही एक अङ्ग है। फलत. वह अपनी शक्ति का उपयोग केवल अपने लिए नहीं कर सकता। उसे उसका उपयोग उस समाज के हित के लिए करना होगा जिसका वह छोटा सा अङ्ग है और जिसके सहारे ही जीवित है।

"जग मे आज जो असाम्य छाया हुआ है वह जनता के अज्ञान के कारण है। जन वर्ग को जब अपनी नैसर्गिक शक्ति का ज्ञान हो जायगा तो इस वैषम्य का लोप भी अवश्यम्भावी है। यदि यह क्रान्ति हिंसा के द्वारा संपादित हुई तो आज की स्थिति उलट भले ही जाय पर उस परिवर्तन से कल्याण न होगा। परन्तु अहिंसा के उस नव-युग का आरभ होना अनिवार्य है जिसकी अपेक्षा जनता करती है। अहिंसा के द्वारा होगा शुद्ध परिवर्तन। समस्या की ओर मेरी दृष्टि और मेरा भाव विशुद्ध अहिंसात्मक ही है। फ्रास ने स्वतन्त्रता समानता और बन्धुत्व के आदर्श की स्थापना की। वह आदर्श केवल फ्रांस की नहीं, परन्तु सारे मनुष्य जाति की सम्पत्ति है।

"पर जिस आदर्श को फ्रांस कभी प्राप्त न कर सका उसे प्राप्त करने का मार्ग हमारे लिए खुला है। क्या राजे-महाराजे, जमींदार और पूँजीपति-वर्ग इस दिशा मे नेतृत्व ग्रहण करने को तैयार हैं? नेतृत्व ग्रहण करना उन्हीं के लिए उचित है, क्योंकि अभाव से आपन्न वे वर्ग जिनके पास दरिद्रता और दैन्य के सिवा कोई सम्पत्ति नहीं है, किसी को उसमे भागी नहीं बना सकते।" इन वाक्यों से स्पष्ट है कि गाँधीजी उन वर्गों से भी, जो आज की व्यवस्था से लाभ उठा रहे है, यह आशा करते हैं कि वे नये समाज की रचना मे सहायक होंगे। वे यह विश्वास करते है कि उनके शुभांश को जागृत करके उनका सस्कार,

उनकी शुद्धि और उनका परिवर्तन करना संभव है, फलतः वे उनके सामने अपरिग्रह के उज्वल आदर्श को उपस्थित करते हैं। यह आदर्श और चाहे किसी को नया ज्ञात होता हो, पर भारत के लिए अभिनव नहीं है। शताब्दियों तक यह भारतीय जीवन का संस्कार करता रहा है। क्या उपनिषदों ने त्याग से ही धन के भोग की महिमा नहीं गायी है।

"तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मागृधः कस्यस्विद्धनम्" का आदर्श क्या उपस्थित नहीं किया जा चुका है? "भुंजते ते त्वघं पापये पचन्त्यात्म-कारणात्" ऐसे कठोर वाक्यों से स्वार्थ की घोर निन्दा क्या नहीं की जा चुकी है? बापू आज उसी आदर्श को पुनरुज्जीवित करना चाहता है। सांस्कृतिक विकास के क्षेत्र में भारत ने जीवन के लिए जिन तत्त्वों का अनुशीलन किया था उन्हीं को विकल मानवता के उद्धार के लिए सजीव सन्देश के रूप में गाँधी उपस्थित कर रहा है। पर मनुष्य के स्वभाव की मर्यादा से वह अपरिचित नहीं है। आदर्श और व्यवहार, कल्पना और यथार्थ का सुन्दर सामंजस्य गाँधी के जीवन की विशेषता है। वह यद्यपि स्थिर-स्वार्थी वर्गके परिवर्त्तन और उसकी शुद्धि की आशा करते हैं, पर साफ-साफ यह जानते हैं कि उक्त नव-समाज की रचना के लिए उस विशाल किन्तु धरती पर लोटती जन-सत्ता को जगाना होगा जिसके दोहन और दलन पर आज का संघटन स्थापित है। जो पिसे हुए हैं वही जब उठेंगे और उठकर अपना उद्धार करेंगे तभी समस्या का स्थायी हल हो सकेगा। उनके बल से ही न केवल आज की व्यवस्था बदलेगी वरन् वह वर्ग भी बदलेगा जो उससे पोषित है और स्वयं उसका पोषक हो रहा है।

पूँजीवाद जनता के श्रम से ही फलता-फूलता है और जनता की कमाई से ही अभिषिक्त है। कल-कारखानों को चलाने वाला जन वर्ग ही है और उत्पन्न पदार्थों को खपाने वाला भी वही है। उसके सहयोग और सम्पूर्ण आत्म-समर्पण पर ही आज का सारा

अनर्थ हो रहा है। यदि यह वर्ग जागृत हो और अपने बंधन को छिन्न-भिन्न करने के लिए अग्रसर हो तो कोई शक्ति नहीं है जो उसके मार्ग का अवरोधन कर सके। जन-सत्ता महती बलशालिनी है, इसमें किसे सन्देह हो सकता है? वह असहाय और निर्बल दिखाई देती है क्योंकि आत्मविस्मृत है, आत्म-विश्वास खो चुकी है और अन्याय तथा अनीति के सम्मुख मस्तक झुकाना पाप नहीं समझती। गाँधीजी आत्मावलम्बन, आत्म-विश्वास तथा अपना उद्धार आप करने की चेष्टा के मन्त्र से जन-समाज को अनुप्राणित कर रहे हैं। उनकी विचारधारा और उनकी कार्य-पद्धति उपर्युक्त मन्त्र से ही पावन है।

उनके चर्खे में, उनके विधायक कार्यक्रम मे, उनके सत्याग्रह की रण-पद्धति मे उपर्युक्त भावना प्रतिष्ठित है। उसके द्वारा जब समाज मे वे जिस चरित्र-बल का विकास करते हैं वही आवश्यक होने पर जनता को अहिंसक संघर्ष के लिए बल प्रदान करता है। फलतः जन-समाज चर्खे को अपनाकर यदि उत्पादन-क्रिया का स्वामी बन जाय और उपभोग तथा वितरण की व्यवस्था स्वयम् करने लग जाय तो आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त करके मूल से उस स्वाधीन समाज का विकास करता चलेगा जो केन्द्रवाद को क्रमशः निष्क्रिय अतएव अधिकाधिक विघटित करने मे समर्थ होगा। यदि जन-समाज कल-कारखानो से मुख मोड़ देगा तो कहाँ रह जायगा यन्त्रवाद और कहाँ रहेगी पूँजीवादी अर्थनीति की इमारत स्वयम् ढहती दिखाई देगी। यह समझना भूल है कि गाँधीजी वर्गस्वार्थ अथवा वर्गसंघर्ष के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। वे उसे स्वीकार करते है, पर विरोध करते हैं उस पद्धति और सिद्धान्त का जो वर्ग-चेतना और वर्ग-भावना को उत्तेजित करके हिंसा के द्वारा विरोधी वर्ग का सर्वनाश करने मे विश्वास करता है। इस प्रणाली मे वे उस द्वेष-भाव और हिंसात्मक प्रवृत्ति को प्रोत्साहित और प्रवुद्ध होता देखते हैं जो आज सामाजिक

जीवन का आधार बन कर मानवता को अभिशप्त बना रही है।

वह देखते हैं कि इससे वर्ग-संघर्ष की समस्या का स्थायी हल नहीं निकलता। खड्ग के स्रुवा से रक्ताहुति डालना वर्ग-स्वार्थ की अग्नि को अधिकाधिक प्रज्वलित करना है। शस्त्र के द्वारा जो वर्ग या समूह अपनी अधिकारसत्ता स्थापित करेगा वह उसी के सहारे अपने स्वार्थ की रक्षा करता रहेगा और इस प्रकार द्वेष तथा हिंसा की आग सुलगती रहेगी। अतः गाँधी जी वर्ग-संघर्ष की सत्ता को स्वीकार करते हुए भी उसे ऐसी दिशा प्रदान करना चाहते हैं, जहाँ बिना रक्तपात और द्वेष के वह सामाजिक स्थिति उत्पन्न की जा सकती है, जिसमें पूँजीवादी वर्गों के स्वार्थ की लतिका स्वयमेव सूखती नजर आएगी। यह स्थिति जनवर्ग की जागृति और उसके प्रयास पर ही निर्भर करती है। मार्क्सवाद भी पूजीवादी व्यवस्था की समाप्ति के लिए महती जन-क्रान्ति की ही कल्पना करता है। जन-वर्ग उठे, उत्पादन के साधनो और शासन-सत्ता पर बलपूर्वक अधिकार कर ले तथा शस्त्र और शक्ति के द्वारा व्यक्तिगत सम्पत्ति की संस्था को मिटाकर वर्गहीन समाज की रचना कर डाले। मार्क्सवाद की यही पद्धति है।

गाँधी जी जन-वर्ग के उत्थान पर ही नव-समाज की रचना सभव समझते हैं। उत्पादन के साधनो और शासनतन्त्र पर वह भी जनता का अधिकार चाहते हैं। मार्क्सवाद तो केवल उत्पादन-साधन पर क्रान्तिकारी जनवर्ग का अधिकार चाहता है, पर गाँधीजी एक कदम और आगे वढ़कर उत्पादन की सारी पद्धति, क्रिया और प्रकारतक को इस प्रकार उलट-पुलट देना चाहते हैं कि केन्द्रवाद की विशाल अट्टालिका धराशायी हो जाय और सारा केन्द्रित वैभव विघटित होकर जन-समाज के हाथो में विघटित और वितरित हो जाय। पर उनकी सारी पद्धति में शस्त्र और बल-प्रयोग की आवश्यकता नहीं है। वे चर्खे के रूप में उत्पादन के जिस साधन और प्रणाली की ओर सकेत करते हैं, उसे अपनाने में जागृत जन-वर्ग का पथावरोधन जगत्

की कोई शक्ति नहीं कर सकती। पूँजीवादी वर्ग के सारे कल-कारखाने और उसकी व्यवस्था खड़ी-खड़ी निष्प्राण हो जायगी। अपना हित और अपना स्वार्थ लिए हुए वर्ग असहाय हो जायगा और इस प्रकार वर्ग संघर्ष स्वतः लुप्त होता दिखाई देगा।

आर्थिक क्षेत्र मे पुञ्जीभूत वर्ग-प्रभुता के बिखरने का प्रभाव राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र पर भी पड़ना अनिवार्य है। आर्थिक स्वतन्त्रता की ओर अग्रसर हुआ जन-समाज सामाजिक असमानता का क्षय करने मे समर्थ होगा। आर्थिक व्यवस्था के संचालन के लिए उसे सहयोग-मूलक और सुसघटित ऐसे समाज की रचना करनी पड़ेगी जो जन-जीवन के विविध क्षेत्रो का संचालन स्वभावतः करेगा। मूल से ही स्वतन्त्र और शक्ति-संपन्न जन-संघटन का सूत्रपात जिस क्षण हो जायगा उसी क्षण से शासन-सत्ता की केन्द्रित शक्ति का भी ह्रास होने लगेगा। अवश्य ही नव-समाज की रचना का यह उत्तरदायित्व और भार जागृत जनवर्ग को ही उठाना पड़ेगा। इसीलिए गाँधीजी जन-समाज का आवाहन करते हैं। यही नहीं वरन् आवश्यकता पड़ने पर अधिकार का विसर्जन कराने के लिए जनता को सत्याग्रह की संघर्षात्मक और विद्रोह मूलक पद्धति को अपनाने के लिए भी प्रस्तुत रहना पड़ेगा सच है कि गाँधीजी मानव-स्वभाव की उज्वलता मे विश्वास करते है। वे यह आशा करते है कि अधिकार-सम्पन्न तथा स्थिर-स्वार्थी वर्ग स्वेच्छा से न्याय का पथ ग्रहण करेगा और संरक्षक के रूप मे जनता का सेवक बन जायेगा। इसी आशा के आधार पर नव-समाज की रचना के कार्य मे योग देने के लिए वे संपन्न वर्गों का आवाहन भी करते हैं।

पर स्वभाव की मर्यादा की उपेक्षा भी वे नहीं करते। सम्पत्तिशील हैं वे यदि न्याय की पुकार सुनने मे समर्थ नहीं है अथवा अधिकार-संपन्न शासक वर्ग यदि जनता के सम्मुख अधिकार विसर्जन करके नीति का पक्ष ग्रहण नहीं करता तो शुद्ध करने, परिवर्तित करने और उसके शुभांश को जागृत करने का उत्तरदायित्व भी जन-

समाज को ही उठाना पड़ेगा। असहयोग और सत्याग्रह के द्वारा उस प्रचण्ड जन-आन्दोलन का सर्जन करना होगा जो किसी सरकार या वर्गसत्ता की पशुता को समूल हिला देने मे समर्थ हो। अहिसात्मक सङ्घर्ष किसी का विनाश नहीं किन्तु परिवर्तन करने तथा उसे शुद्ध करने की ओर उन्मुख होता है। कष्ट-सहन और त्याग तथा अनीति की दृढ़ अवज्ञा, अहिसक सघर्ष की विशेषता है।

गाँधी के मत से अहिसक पद्धति दोनो दिशाओ को शुद्ध करना जानती है। एक ओर यदि जागृत जन-वर्ग प्रतिरोध की आवश्यकता उत्पन्न होने पर अहिसक का मार्ग पकड़ करके आत्मशुद्धि करता है तो दूसरी ओर अहिंसक सघर्प की प्रक्रिया से वह प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है जो विरोधी पक्ष को भी शुद्ध करने मे समर्थ होती है। अहिसक सघर्प में स्वयम् बलि चढ़ जाने के लिए अग्रसर होना पड़ता है। अहिंसक सैनिक कष्टो और विपत्तियो का आवाहन करता है और हँसते हुए उनको सहन करता है। इस प्रकार बलिदान और त्याग के पथ का अवलम्बन करके अपने को शुद्ध करता है। बापू कष्ट सहन को आत्मा-शुद्धि का साधन समझता है। दूसरी ओर कष्ट-सहन के द्वारा वह आततायी के अंतर का स्पर्श करता है, अपने उत्सर्ग के भाव से ऐसा वातावरण उत्पन्न कर देता है जो स्वार्थी, शोषक तथा मोहाच्छन्न शस्त्रधारी के हृदय को द्रवीभूत और परिवर्तित करने मे समर्थ होता है। गाँधीजी की दृष्टि में "जो त्याग और तप तथा कष्ट-सहन का मार्ग ग्रहण करता है वह मानवता को ऊँचे ले जाता है।"

इस प्रकार गाँधीजी नव-समाज की रचना करने का आधार, पद्धति और योजना उपस्थित करते हैं। विश्वास करते हैं कि स्वार्थी वर्ग भी परिवर्तित होगा। केवल अपील से नहीं तो जन-वर्ग की चेतना और अहिंसक सघर्प की प्रणाली की प्रतिक्रिया से प्रभावित होकर होगा। दोनो की विशुद्धि और शुचिता के फलस्वरूप अपेक्षित नव-समाज की रचना हो सकेगी। वर्ग-स्वार्थ का लोप स्वार्थों की भित्ति

पर प्रज्वलित वर्ग-संघर्ष मे नहीं हो सकता। यदि स्वार्थ की पृष्ठभूमि पर संघर्ष की रचना की जायगी तो उसका परिणाम यह भले ही हो जाय कि आज वर्ग-विशेष का स्वार्थ विजयी हो पर उसका फल यह कदापि नहीं हो सकता कि संघर्ष का लोप हो जाय अथवा वर्ग-हीनता स्थापित कर दी जा सके। गाँधी जी की पद्धति दूसरी दृष्टि ग्रहण करके अग्रसर होती है। वह समझती है कि वर्गों की उत्पत्ति का मूल कारण स्वार्थ की विभिन्नता से उत्पन्न पारस्परिक भेद तथा शत्रुता-पूर्ण सम्बन्ध है। यदि इस भेद, भिन्नता, शत्रुता और स्वार्थ को ही उत्तेजित किया जायेगा तो संघर्ष अनन्त काल तक समाप्त न होगा और न त्रिकाल में समाज वर्ग-हीनता की ओर बढ़ सकेगा। उसका एकमात्र उपाय यही है कि स्वार्थों मे सामंजस्य स्थापित करके परस्पर के संबन्ध को नया रूप प्रदान किया जाय जो संघर्ष नहीं सहयोग की ओर उन्मुख हो। इस समन्वय से यदि स्वार्थों मे संतुलन स्थापित हो सका तो संघर्ष मिटेगा और वर्ग-भेद स्वतः समाप्त होता दिखाई देगा। वही स्थिति सच्ची वर्ग-हीनता की होगी।

संशयात्मा—गाँधीजी की इस पद्धति के सम्बन्ध मे सन्देह कर सकता है कि यह सब कोरी भावुक उड़ान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। कब यह सम्भव है कि अपील करके अथवा अहिंसक प्रतिरोध के द्वारा उन वर्गों का परिवर्तन किया जा सके जो आज अपनी गोटी लाल कर रहे हैं। पर इस संशय का अर्थ ही क्या है? जो लोग उसकी पद्धति मे सन्देह करते है वे कौन सा उपाय उपस्थित करते है। एकमात्र हिंसा और बल-प्रयोग का मार्ग हो या और कोई दूसरा? बापू भी उस मार्ग से अपरिचित नहीं है, पर उसने उससे जान बूझकर मुख मोडा है। मोडा है इसलिए कि वह देखता है कि हिंसा और पशु-बल का लोप करके नैतिकता और मानवता की स्थापना के लिए हिंसक और बर्बर उपायों का अवलम्बन इष्ट-लक्ष्य की सिद्धि में सफल होता दिखाई नहीं देता।

यह सत्य है कि अब तक जगत् मे समस्याओं के हल का उपाय

शस्त्र ही बन जाता रहा है। उस उपाय से समस्याएँ कुछ सुलझती भी रही हैं और कुछ उलझती भी। पर गाँधी ने एक बात जो मुख्य रूप से देखी वह यह कि शस्त्र भले ही प्रस्तुत स्थिति को उलट देने में सफल हुआ हो पर उससे वह अवस्था उत्पन्न न की जा सकी जो अपेक्षित रही है। हिंसा ने एक हिंसा का लोप तो किया पर उसके स्थान पर दूसरी हिंसा प्रतिष्ठित कर दी। आज तक इसी प्रकार हिंसा का प्रयोग होता रहा है। गाँधी ने आज दूसरी दिशा से प्रयोग आरम्भ किया है। वह मानता है कि मानवता की स्थापना के लिए मानवीय पद्धति और मार्ग को ग्रहण करना होगा। उसकी पद्धति अभी प्रयागावस्था में है। जगती के अञ्चल में एक नहीं अनेक हिंसात्मक प्रयोग हो चुके है। महान् मानुषी आदर्शों को लेकर महती क्रान्तियाँ हुई हैं जिनमे हिंसा ने खुल कर क्रीड़ा की है। मनुष्य ने आदर्श को रक्तस्नान कराने के लिए न जाने कितने प्राणो की बलि चढ़ाई है। इसमे बहुतों को गहरी क्षति उठानी पड़ी है और क्रान्ति ने भारी मूल्य चुकाने के लिए बाध्य किया।

ऐसे प्रयोग हुए और यदि उन मे से कुछ सफल हुए तो उनसे कहीं अधिक असफल भी हुए। इतने संहार और विनाश के बाद असफलता! पर बापू की पद्धति मे किसी की हानि नहीं है। हिंसा का प्रयोग तो बार-बार असफल हुआ है फिर भी जो उसका त्याग करना नहीं चाहते वे अहिंसा की असफलता सिद्ध हुए बिना उसका तिरस्कार करके उचित नहीं करते। गाँधीजी को अपने प्रयोग मे शोणित-स्नान की अपेक्षा नहीं। यदि सफलता मिली तो मानवता को मुक्ति-पथ मिला और यदि असफलता गले पड़ी ता न किसी की हानि होगी और न जा है उससे बुरी स्थिति होगी। फिर क्यो केवल सन्देह के कारण उसके मार्ग को रुद्ध किया जाय? जो न इस प्रयोग की सफलता के लिए प्रयास कर सकते हैं और न सहयोग प्रदान कर सकते हैं वे कृपा कर आशीष तो दे ही सकते हैं।

गाँधी महान् लक्ष्य की ओर उन्मुख है और महती क्रान्ति का प्रवर्त्तन करने के लिए अग्रसर हुआ है। वह मानव-समाज को हिंसा के मार्ग से विरत करके अहिंसा की ओर ले जाना चाहता है। वह आज की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था को, आधुनिक सांस्कृतिक धारा को, जीवन के प्रति आज के मनुष्य की दृष्टि को बदल देना चाहता है। इस महती क्रान्ति के चक्र का परिचालन उसका जीवन पथ है, पर वह अपनी क्रान्ति-धारा को रक्त-रञ्जित बनाना नहीं चाहता। क्रान्ति हो पर रक्तहीन, हत्या और हिंसा से विहीन, जघन्यता और पशुता से मुक्त, मानुषी क्रान्ति हो जो मनुष्य को मानवता की ओर अग्रसर कर सके। यही है उसका पथ, प्रयास और प्रयोग। यही है मानवता के सम्मुख उसका संदेश और मार्ग।

उपसंहार

धरती की गोद में जब से मनुष्य का अवतार हुआ है तब से लेकर आज तक उसके सम्मुख उसकी अनेक समस्याएँ उत्पन्न होती रही हैं। जीवन का अवतरण और उसका विकास विशुद्ध शून्यता में नहीं हुआ है। वह अभिव्यक्त हुआ स्थूल शरीर के रूप में, ठोस धरती के ऊपर, अनेक शारीरिक प्रक्रियाओं और आन्तरिक प्रवृत्तियों को लेकर। जीवन के उदय के साथ-साथ उसकी समस्याएँ भी उसके साथ लगी आयीं। उसे अपनी रक्षा करनी थी, अपने से बलशीलों का सामना करना था और अपना पेट भरना था। धरती को घेरे रहने वाले वायुमंडल के अनुकूल उसे बनना था, परिवर्तित होनेवाले ऋतुओं से आवश्यक बचाव करने का प्रबन्ध करना था और प्रजनन की कामना पूरी करनी थी। उसके सामने ये प्रश्न सदा से उपस्थित रहे हैं। जैसे-जैसे जीवन का विस्तार बढ़ता गया, परिस्थितियाँ बदलती गयीं, प्रवृत्तियाँ विकसित होती गयीं वैसे-वैसे नयी आवश्यकताएँ सामने आती गयीं और नयी-नयी समस्याओं को जन्म देती गयीं।

मनुष्य की सहज अन्तश्चेतना सदा से इन समस्याओं को सुलझाने की चेष्टा करती रही है। जीवन का पथ प्रशस्त करने तथा अपने विकास की यात्रा की गति को यथासंभव निर्विघ्न बनाने का प्रयास भी करती रही है। मनुष्य जिन प्रवृत्तियों का अधिकारी है तथा जिन स्थूल और सूक्ष्म तत्त्वों से उसका निर्माण हुआ है उनके प्रकाश में वह परिस्थितियों को देखता और तौलता रहा है। उन परिस्थितियों की प्रतिक्रिया और प्रभाव के अनुरूप विचारों तथा कल्पनाओं को जन्म प्रदान करता रहा है। अतीत में उसे जो अनुभव होते रहे हैं, जगत् के

स्वरूप और आत्मस्थिति का उसे जो बोध होता रहा है उनको आधार बना कर वह अपने विचारों को अपनी सक्रियता के रूप में व्यक्त करता रहा है। इसी प्रकार जीवन-प्रवाह सहस्राब्दियों से बहता हुआ, इतिहास का निर्माण करता हुआ, संस्कृतियों को जन्म प्रदान करता हुआ, समय-समय पर उन्हें ढहाता और नये का निर्माण करता हुआ आज तक चला आया है।

इसी प्रकार नये विचारों का उदय, नयी व्यवस्थाओं का प्रजनन और नयी सस्कृतियों का प्रादुर्भाव होता रहा है। इसी प्रकार मानव-समाज के इतिहास की रचना हुई। आज मनुष्य-जाति के इतिहास मे पुनः ऐसा ही क्षण उपस्थित हो गया है। दुनिया का एक स्वरूप गत कतिपय शताब्दियों से विकसित होता चला आया है, जिसने तत्का-लीन परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुसार व्यवस्थाएं बनायीं, जीवन के लिए आदर्शों की स्थापना की, व्यवहार का मार्ग बनाया और युग की समस्याओं को सुलझाते हुए मनुष्य को जीवन-यापन के योग्य बनाया। पर आज ऐसा क्षण उपस्थित हुआ दिखाई देता है जब वही दुनिया नयी समस्याओं की जननी हुई है और कदाचित् स्वयम् उन्हें सुलझाने मे असमर्थ हो रही है। मैं संकेत कर रहा हूँ उस दुनिया की ओर जिसका निर्माण विज्ञान और यन्त्र ने किया। विज्ञान और यन्त्र का उद्भव परिणाम था मनुष्य की विमल रचनात्मक बुद्धि का, वह परिणाम था जिज्ञासा और सत्यानुसन्धान की उस शुभ-प्रवृत्ति का जो न केवल भव-प्रपंच का रहस्योद्घाटन करने के लिए आगे बढ़ी थी बल्कि इसलिए भी प्रयत्नशील हुई थी कि प्रकृति की अपरिमित शक्ति पर अधिकार स्थापित किया जाय। अधिकार स्थापित किया जाय इसलिये कि मनुष्य उसका उपयोग अपने कल्याण की वृद्धि मे कर सके।

फलत. वह जगत्, जिसका निर्माण विज्ञान और यत्र ने किया, उन्नीसवीं शती के अन्तिम भाग मे अपनी उन्नति के चरम बिन्दु पर

पहुँच गया। इस दुनिया को हम दो रूपों मे अभिव्यक्त पाते हैं। एक ओर उसने पदार्थों के उत्पादन की मात्रा को अपरिमित तथा अकल्पित रूप मे बढ़ा देने की क्षमता प्रदर्शित की। उसने सब को उत्पादन करने की स्वतन्त्रता प्रदान की। उत्पादन और व्यवसाय के द्वारा लाभ उठाने के लिए सब स्वतंत्र कर दिये गये और सब को यह स्वतंत्रता भी प्रदान कर दी गयी कि परस्पर प्रतिस्पर्धा करते हुए प्रत्येक अपनी अपनी सफलता का उपभोग स्वच्छंद होकर कर सके। इस दुनिया ने यह घोषणा की कि आर्थिक क्षेत्र मे प्रत्येक को यह अधिकार है कि वह अपनी बुद्धि, कुशलता और व्यवसाय-चातुर्य के द्वारा प्राप्त अवसर से लाभ उठावे। आर्थिक क्षेत्रमे नयी दुनिया ने जहाँ यह कल्पना की, वहीं राजनीतिक क्षेत्र मे नया रूप प्रकट हुआ। विज्ञान ने वैज्ञानिक युग के मनुष्य के हृदय मे बुद्धिवाद और स्वतंत्रता के प्रति गहरी आस्था उत्पन्न कर दी। जीवन का मूल्यांकन करने के लिए ये ही नये मानदण्ड के रूप मे प्रस्तुत हुए। आधुनिक मनुष्य की उच्चतम भावनाएँ और कल्पनाएँ इन्हीं के गर्भ से समुद्भूत हुईं। समाज ने अनुभव किया कि आर्थिक स्वतंत्रता तथा सामाजिक स्वतंत्रता का संबंध अविच्छेद्य है।

खरीद और बिक्री के साथ सोचने, मत व्यक्त करने तथा मिलने-जुलने और वोट देने की स्वतंत्रता भी आवश्यक है। इस युग के पूर्व यूरोप में सामन्तवादी समाज स्थापित था और शासन का निरंकुश अधिकार शासक-वर्ग के हाथो में केन्द्रित था। नयी दुनिया सामन्तशाही के शव पर निर्मित हो रही थी। यंत्रो के उद्भव तथा उत्पादन की नयी प्रणाली ने जिस आर्थिक संघटन और सामाजिक ढंग को जन्म दिया उसमे सामन्तशाही का विघटन अनिवार्य हो गया। आर्थिक-क्षेत्र में उत्पादन और मुनाफा तथा खरीद और बिक्री की स्वतत्रता की कल्पना की गयी तो राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और मनुष्य की समता की धारणा भी उद्भूत हुई। परिस्थि-

तियों ने रूढ़ियों और बन्धनों तथा अधी परम्पराओं की शृंखला को तोड़-फोड़ डाला। गिरजाघर और 'क्रास' के स्थान पर राष्ट्रदेवी की प्रतिमा स्थापित होने लगी। बंधुत्व और समता के मानवीय आदर्श पूज्य तथा ग्राह्य प्रतीत हुए। अनुभव किया गया कि सम्पत्ति और सुख का उपभोग करने के लिए समता और स्वतंत्रता तथा बन्धुत्व की कल्पनाएँ बाधक नहीं प्रत्युत साधक और अनिवार्य हैं। इस प्रकार नयी दुनिया आर्थिक और राजनीतिक स्वतत्रता की कल्पना लेकर सामने आयी। एक ओर जहाँ व्यक्तिगत सम्पत्ति की पवित्रता स्वीकृत हुई वहीं व्यक्तिगत स्वतंत्रता का सिद्धान्त भी सामाजिक जीवन का आधार माना गया। सम्पत्ति और स्वतन्त्रता की अक्षुण्णता मानव-जीवन के विकास के लिए एकमात्र आवश्यक शर्त मानी गयी। धीरे-धीरे उपर्युक्त कल्पनाएँ विकसित होती हुई उस लोकतत्र के रूप मे व्यक्त हुई जिस पर आधुनिक मानव समाज गर्व करता है।

इस नयी दुनिया के मनुष्य ने स्वप्न देखा। उसने देखा कि वह युग आ गया है जब मनुष्य अभाव और भूख से, व्याधि और अकाल से, परतंत्रता और अज्ञान से मुक्त होने जा रहा है। उसका स्वप्न था कि समस्त मानव जाति स्वार्थ और पशुता से, हिंसा और भय से सदा के लिए छुटकारा पाने जा रही है। उसने समझा कि कट्टरता और अंध-विश्वास से मुक्त होकर मनुष्य अपनी बुद्धि के द्वारा सत्य के गूढ़ रहस्यों का साक्षात्कार करके अपनी धरती को वह बनाने जा रहा है जो पहले कभी नहीं थी और जहाँ अब सुख-शाति, समता, स्वतत्रता बन्धुत्व और पारस्परिक सद्भाव आ विराजेगा। जगत् मे शाति और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का आदर्श मानव-समाज का आदर्श होगा और विविध देशो की राष्ट्रीय सरकारें यद्यपि अपनी भौगोलिक सीमा के अन्दर अक्षुण्ण और सम्पूर्ण अधिकार की अधिकारिणी होगी तथापि विभिन्न राष्ट्रों के पारस्परिक सहयोग मे उनका प्रभु-रूप बाधक न होगा। इस प्रकार नयी दुनिया के मनुष्य ने अपने भविष्य के संबध

मे स्वप्न देखा और लोकतन्त्र मे अपने उसी स्वप्न को वास्तविक स्वरूप देने की चेष्टा की। यह था लक्ष्य, यह थी कल्पना और यह था स्वप्न जिसे लेकर वह दुनिया बनी जो कतिपय शताब्दियो से विकसित होती हुई उन्नीसवीं शती के अतिम चरण और बीसवीं के आरम्भ मे अपने चरम बिन्दु पर पहुँच गयी। यही था प्रकाश जो पश्चिम से आया और क्रमश. मानव-समाज के जीवनाकाश मे छा गया।

इस प्रकार की मोहकता मे किसे सन्देह हो सकता है? कौन अस्वीकार करेगा कि इस कल्पना और लक्ष्य मे जीवन-तत्री को झंकृत कर देने की शक्ति नहीं थी? फलत' जो प्रकाश आया वह इतना सुदर, इतना सत्य और इतना आकर्षक प्रतीत हुआ कि मानवता विमुग्ध हो उठी। आर्थिक क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा कठोर नहीं हुई थी, सभी देश ओद्योगिक दृष्टि से उन्नत नहीं हुए थे। जगत् के विस्तृत भू-भाग माल खपाने और व्यापार करने के लिए अछूते पड़े हुए थे। व्यवसाय उन्नति पर था, उत्पादन बढ़ता जा रहा था, माल की खपत तेजी पर थी, सदा से पीड़ित और त्रस्त जनवर्ग जो पहले धरती में गड़ा हुआ था और दिन-रात पृथ्वी खोदने पर भी खाने को नहीं पाता था, अब उत्पादन के केन्द्रों मे नये-नये उदीयमान नगरो मे आकर बसने लगा था। उसे काम था, मजदूरी थी और अवकाश था। नया जीवन था, और अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्रता थी। पहले जिनके लिए ठोकर, निर्दलन और दासताजन्य अपमान के सिवा कुछ न था, जो सामन्त-वादी निरकुशता के शिकार थे उन्हें यह स्थिति भी कहीं अधिक ग्राह्य और श्लाघ्य प्रतीत हुई। फलतः सबने मिलकर इस नयी दुनिया को आशीष दिया। वह भी सबका आशीर्वाद और सहयोग पाकर फल-फूल चली।

पश्चिमी और मध्य यूरोप में अब तक राष्ट्रवाद की कल्पना के आधार पर देशों की रचना हो गयी थी, राष्ट्रीय कहलानेवाली सर-कारो का भी उदय हो चला था, देश-भक्ति की भावना उदय हो

चुकी थी और राष्ट्र की कल्पना अमूर्त होते हुए भी मानस-प्रतिमा का रूप ग्रहण कर चुकी थी। विभिन्न देश यद्यपि औद्योगिक उन्नति की ओर बढ़ चले थे पर इसका अर्थ यह न था कि उनकी सीमा के अंदर दैन्य और दासता का सर्वथा अभाव हो गया था। यह सच है कि अब भी अपनी गोद में शोषितों की भारी भीड़ लिये हुए वे अवतीर्ण हुए तथापि नयी स्थिति ने तात्कालिक समस्याओं को सुलझा दिया था। दुनिया के बाजारों में अपना माल बेचने में सफल होने के कारण वे अपने जनवर्ग को चार पैसे तथा काम सरलता के साथ देने में समर्थ थे। फलत. साम्राज्यों के विस्तार में, देश की शक्ति में, राष्ट्रीय गौरव और कल्पना में सभी विचित्र संतोष, स्वाभिमान तथा रस का अनुभव करने लगे थे। संक्षेप में यह था उस दुनिया का स्वरूप।

पर दैव की गति का विधान भला कौन समझ पाता है? जिस दुनिया ने मानव-समाज के हृदय में अपने भविष्य के प्रति आशा और आस्था उत्पन्न कर दी थी, जिसने नयी कल्पनाओं, नये आदर्शों और जीवन के नये विधानों को उपस्थित करके उसे विमुग्ध किया था उसकी दशा आज क्या हो गयी है? हम देख रहे हैं कि आधुनिक यूरोप में वह लक्ष्य, जिसे सामने रखकर वह बढ़ा था, जलकर राख हो गया है। हम देख रहे हैं कि उक्त कल्पना का गला घोटा जा चुका है और वह स्वप्न जिसे उक्त नयी दुनिया के मनुष्य ने देखा था, संप्रति कठोर वास्तविकता के सम्मुख खेदजनक रूप से मिथ्या सिद्ध हो रहा है। वह नया प्रकाश जो जीवन-पथ को आलोकित कर रहा था, आज सहसा बुझा हुआ दिखाई दे रहा है। और तो और स्वतः वह संस्कृति, जिसका निर्माण कतिपय शताब्दियों में हुआ था, धरती पर पड़ी हुई ऊर्ध्व श्वास लेती दृष्टिगोचर हो रही है। जो फैक्टरियाँ और कल-कारखाने और वैज्ञानिक उत्पादन के जो साधन पदार्थों की उत्पत्ति करके जगत् के बाजारों को भर देने में समर्थ थे और जो मनुष्य के शब्दकोप से 'अभाव' शब्द का नाम-निशान मिटा देने में सक्षम थे

उन्हीं को लेकर मनुष्य ने ऐसी अर्थनीति का निर्माण कर डाला जिसमे अभाव ही अभाव रह गया।

कल-कारखाने अकर्मण्य और अलाभजनक हो गये तथा उत्पादक और मजदूर भूखे और नङ्गे दिखाई देने लगे। वसुन्धरा का कोना-कोना छान डाला गया, शोषण और पराधीनता चारों ओर वितरित कर दी गई और पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता, चाहे वह राजनीतिक क्षेत्र की हो अथवा आर्थिक, क्रमश. भयावनी होती गई। आर्थिक उत्पादन तथा प्रतिस्पर्धा से होनेवाले लाभ को उठाने की स्वतंत्रता यद्यपि सिद्धान्तत सभी को प्राप्त थी पर व्यवहारत' उसका उपभोग वह छोटा-सा वर्ग ही करता दिखाई पड़ा जिसके हाथो मे पूँजी थी। अत्यधिक जन-वर्ग उत्पादक होते हुए भी मजदूर ही रह गया जिसका अधिकार और भाग अकिञ्चन-सी मजदूरी की रकम से अधिक न रहा। वह शोषित ही था और शोपित ही रह गया। उसके शोषण पर विज्ञान और यत्र का लाभ छोटा-सा वर्ग उठाता चला जा रहा है। कहाँ रह गई आर्थिक स्वतन्त्रता और क्या रह गई उत्पादन की नयी प्रणाली की सार्थकता? जिधर देखा भूख ही देखी।. माल खरीदनेवाले भूखे, श्रम करके उसे बनानेवाले भूखे। धीरे-धीरे वह समय भी आ गया जब पूँजी लगाकर कल-कारखाने खड़े करनेवाले और माल बेचनेवाले भी भूखे दिखाई देने लगे। ये भूखे इसलिए कि कल-कारखाने ठप हो चले और उनके सिलण्डर तथा चक्के जहाँ के तहाँ खड़े बेकार पड़े रह गये।

आर्थिक क्षेत्र की प्रतिस्पर्धा ने स्वभावत राजनीतिक क्षेत्र का द्वार भी प्रतिद्वन्द्विता के लिए खोल दिया है। राष्ट्रीय कहलानेवाली स्वतंत्र सरकारे शक्ति और अधिकार की विस्तृति के लिए, औद्योगिक दृष्टि से अनुन्नत भू-प्रदेशो को अधीन बनाने के लिए परस्पर प्रतिद्वन्द्वी के रूप में आमने-सामने खड़ी होने लगीं। इस प्रतिस्पर्धा में सफल होने की कामना ने नयी प्रवृत्ति को जन्म दिया। यह आवश्यक हो गया कि राष्ट्रीय सरकारो की बल-वृद्धि की जाय और शक्ति तथा अधिकार

उसके हाथों में केन्द्रित हो जाय। फलतः राष्ट्रीय एकता के नाम पर, राष्ट्रीय हित के नाम पर, अपनी भौगोलिक सीमा के भीतर रहनेवाले सभी वर्ग, समूह तथा व्यक्ति के अधिकारों का व्यापक अपहरण किया जाने लगा। आज बन्धुत्व और ममता, शान्ति तथा स्वतन्त्रता, अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था और सहयोग तो केवल पोथी-पत्रों की वस्तु रह गई। जनाधिकार और लोकतंत्र का निष्ठुर निर्दलन हो गया है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में जो हुआ, वह यह हुआ कि अराजकता और द्वेष उग्रतम रूप में भड़क उठा।

विभिन्न राष्ट्रों की सरकारें परस्पर संशय, भय और अविश्वास से ग्रस्त हो गयीं। साम्राज्य-विस्तार के लिए, अपने देश के व्यवसाय और व्यापार के लिए सभी को भूमि की भूख थी। इस प्रतिद्वन्द्विता ने अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण तथा उनके संग्रह की प्रतिस्पर्धा उत्पन्न कर दी। जो साम्राज्याधिपति होने से सफल हुए वे उसकी रक्षा के लिए और जो असफल हुए वे दूसरों से उसे छीन लेने के लिए शस्त्र-शक्ति के संचय में जुट पड़े। धरती की छाती पर बारूद की ढेर लग गयी। जिधर देखिये विनाश के उपकरण संहार करने के लिए एकत्र दिखाई देने लगे। देश-विदेश की जनता इसी तैयारी में पीस डाली गयी। अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और शान्ति भला इस परिस्थिति में कहाँ जीवित रह सकती थी? सामाजिक क्षेत्र में परस्पर विरोधी वर्गों का उदय हो गया। समाज का यह विभाजन इतना उग्र और इतना भयावना मानवता के इतिहास में पहले कभी नहीं हुआ था। स्वार्थ की भित्ति पर बने हुए वर्गों का भेद स्वार्थों की तीव्रता के साथ-साथ तीव्रतर होता गया और उसी मात्रा में वर्ग-संघर्ष को तीक्ष्णता प्रदान करता गया। वर्ग विशेष के हित में लगी सरकारें दूसरे वर्गों का मनमाना निर्दलन करने में समर्थ हुईं। सरकारें वस्तुतः केन्द्रित शक्ति, अधिकार और शासन के प्रतीक हो गयीं जिन्होंने क्रमशः जन-स्वातंत्र्य की सारी कल्पना को धूल में मिला दिया।

इस प्रकार उपर्युक्त दुनिया ने न केवल विपरीत मार्ग पकड़ा प्रत्युत नयी समस्याओ को जन्म दिया। अभाव कैसे मिटे, वर्ग-भेद कैसे दूर हो, जन-समाज का निर्दलन कैसे रुके, जगत् मे शान्ति और व्यवस्था कैसे बनी रहे, मानव-समाज का संहार कैसे टले और कैसे उस संस्कृति का विनष्ट होना बचाया जाय जिसका जन्म यूरोप मे हुआ और जिसके प्रकाश मे आधुनिक मनुष्य जीवन-संचालन कर रहा था। समस्या को सुलझाने की योग्यता बीसवीं शताब्दि के मनुष्य मे न दिखाई पडी। समस्याओ ने जिस परिस्थिति को जन्म दिया उसे सँभालने की क्षमता भी उसमे न थी। यदि उसमे योग्यता रही होती तो गत महासमर का क्षेत्र न हुआ होता। वह परिणाम था उक्त परिस्थिति का, परिस्थिति को सँभालने मे मनुष्य की असमर्थता का और उसके बुद्धि के दिवालियेपन का। फलतः युद्ध हुआ, आँखे मूँद कर असंख्य नवयुवको का बलिदान किया गया, जो जगत् के सूत्रधार थे वे उन्मत्त होकर संहार-लीला मे जुट पड़े। बर्बरता का भयंकर नर्तन हुआ, पर समस्या सुलझ न सकी। आशा की जा सकती थी कि युद्ध के उपरान्त विनाश और पीड़ा के फलस्वरूप हुए अनुभवो से मनुष्य काम लेगा, रास्ता निकालेगा समस्याओं को हल करने का, अपनी भूल समझेगा, धूमिल हुए लक्ष्य को पुनः प्रकाशित करेगा और समुचित पथ पर पुन. आरूढ़ होगा। पर जगत् का जन-समाज प्रवंचित हुआ। मालूम होता है कि विनाश और पतन की क्रिया एक बार आरम्भ होने पर बीच में रुकना नहीं जानती।

ऐसा ज्ञात होता है कि तत्कालीन मनुष्य अपनी ही व्यवस्था से उत्पन्न समस्याओ से भयग्रस्त हो गया था। भय और अविश्वास, स्वार्थ और प्रतिशोध ने कदाचित् उसे अन्धा बना दिया था। फलतः आँखे उठा कर समस्याओ की ओर देखने का, अपनी भूल पकड़ने का, उनका परिहार करने का प्रश्न के मूल मे जाने का और तदनुकूल उपचार करने का साहस ही उसमें नहीं था। वह तो यह देखकर

जैसे भयाकुल हो उठा था कि उसकी दुनिया नष्ट हुआ चाहती है। ऐसी स्थिति मे और भयाकुल मनोदशा मे जो व्यवस्था और जो उपाय किया जाता उसका आधार भला क्या हो सकता था? भय की प्रवृत्ति मनुष्य की सजात, आदि, बर्बरयुगीन प्रवृत्ति है। संस्कृति का एक काम इस प्रवृत्ति को संयमित और सन्तुलित करना भी रहा है। अपनी अपनी सांस्कृतिक यात्रा मे मनुष्य यथासंभव इससे मुक्त होता और अभयता के क्रमिक विकास पर जीवन की रचना करता गया है। हिंसा और उत्पीड़न, व्याधि और आशंका, दलन और शोषण के त्रास के मिट जाने मे ही तो संस्कृति का सच्चा रूप प्रकट होता है। यही कारण है कि मनुष्य जन्म और मृत्यु तथा प्रकृति के अटल विधानो के रहस्य का साक्षात्कार करके गूढ़ परिस्थितियो के भय से भी छुटकारा पाने की साधना करता रहा है।

पर यहाँ तो अवस्था ही दूसरी थी। भय ही हो गया आधार सारी नीति और उपाय का। भय अपनी प्रभुता के छिन जाने का, अपने स्वार्थ के विनष्ट हो जाने का, अपने प्रतिद्वन्द्वियो की शक्ति-वृद्धि का, अपने विशाल वैभव के संकीर्ण हो जाने का। अपनी ही समस्याओं और अपनी ही परिस्थिति से भी वह भयभीत हो उठा। अवस्था जिस परिवर्तन की माँग कर रही थी उससे भी वह त्रस्त हुआ। विज्ञान और यंत्र ने जगत् के स्वरूप मे जो परिवर्तन कर दिया था उसी के अनुकूल अपने जीवन, अपनी कल्पना और अपनी धारणा को तथा अपने व्यवहार तथा अपने दृष्टिकोण को भी बदलना आवश्यक था। नयी दुनिया के विकास के साथ-साथ परिस्थिति का विकसित और परिवर्तित होते जाना अनिवार्य था। उसके अनुकूल जीवन मे परिवर्तन होते जाना भी आवश्यक था। पर परिवर्तन के इस सहज और अपेक्षित प्रवाह से घबड़ाकर उसका अवरोधन करने का व्यर्थ प्रयास किया गया। यह प्रयास किया गया इसलिए कि अपना परिवर्तन करने मे त्याग करने की आवश्यकता पड़ती है।

मनुष्य को सम्पत्ति और प्रभुता सम्बन्धी अपनी धारणाओ को बदलना पड़ता। उसे पूँजी और श्रम की कल्पना और व्यवस्था मे परिवर्तन करना पड़ता, उसे उत्पादन और उसके लक्ष्य के प्रति अपनी दृष्टि को बदलना पड़ता, उसे वर्ग-मलक और राष्ट्र तथा जाति-मूलक अपनी श्रेष्ठता और मिथ्याभिमान की प्रवृत्ति को दबाना पड़ता तथा अधिकार और शक्ति की लोलुपता का नियम न करके पारस्परिक प्रति-द्वन्द्विता के स्थान पर सहयोग-मूलक राष्ट्रीय तथा अतर्राष्ट्रीय अर्थनीति और राजनीति को ग्रहण करना पड़ता। ऐसा करने मे जगत् की विभिन्न राष्ट्रीय सरकारो को जगत् के हित के लिये अपनी प्रभु शक्ति का आंशिक विसर्जन भी करना पड़ता। विज्ञान के द्वारा एक सूत्र मे बँधी पृथ्वी के समस्त भूप्रदेशो की विभिन्नता की भावना छोड़कर धरा को एक परिवार समझना पडता तथा जन-समाज को शक्ति, अधिकार और ऐश्वर्य के सारे भण्डार मे यथावश्यक साझीदार बनाना पड़ता। परिस्थिति इन्हीं परिवर्तनो की माँग कर रही थी। पर जो सूत्र संचालक थे उन्हें इन परिवर्तनो को अंगीकार करने मे त्याग करना पड़ता। दुर्भाग्य से उनमें न इतना साहस था, न इतनी उदारता और न मानवता कि वे इतिहास के प्रवाह के अनुकूल बह चलते। उनमें यह दूरदर्शिता भी न थी कि वे यह देख सकते कि जो दुनिया शताब्दियो से बनती हुई आज की स्थिति मे पहुँची है वह गतिशील है और उसके निर्माण की क्रिया सहज ही जारी है। निर्माण की इस क्रिया को वैज्ञानिक संस्कृति ने आरंभ किया था जिसे अंतिम बिन्दु तक ले जाये विना दूसरी गति है ही नहीं।

वे तो भयाकुल हो उठे अपनी ही दुनिया का विकास देख कर क्योंकि उसमें उनके स्वार्थों का हनन हो रहा था। युद्ध के बाद इसी कारण वे ऐसी दुनिया बनाने चले जिसमें उनके स्वार्थ सुरक्षित हो और जो उनके हितो की साधिका हो। वे यह न देख सके कि इस नीति के द्वारा वे जगत् की प्रगति और उसके विकास के पथ का अवरोधन कर

रहे हैं। युग जिस परिवर्तन की माँग कर रहा था उसकी सूचना उग्ररूप मे मिल चुकी थी। रूस की बोल्शेवी महाक्रांति उस परिवर्तन की माँग की ही व्यंजना थी। वह क्रांति अपरिवर्तन के हिमायतियो और वर्तमान के पूजको की हठधर्मिता, दुराग्रह तथा कुनीति के विरुद्ध व्यापक जन-समाज की भयावनी हुङ्कार थी जिसने महदावेग के साथ उन भावनाओं को व्यक्त किया जो कालात्मा की पुकार के अनुकूल थी। रूसी विद्रोह उन परिवर्तनो को बलपूर्वक चरितार्थ करने के लिए हुआ जिसकी गति को वर्तमान के आराधक अपनी सारी शक्ति से रोक रहे थे। यदि उन लोगो ने जो तत्कालीन दुनिया के सूत्रधार, संचालक और प्रभु थे, जिनके हाथ मे युद्ध के बाद विश्व के नेतृत्व की बागडोर पहुँची थी, दूरदर्शिता से काम लिया होता और इतिहास के प्रवाह का दर्शन किया होता तो कदाचित् आज जगत् की स्थिति कुछ दूसरी हुई होती। पर वे तो युद्ध के भय से छुटकारा पाकर अब परिवर्तन के भय से त्रस्त थे। जो समय की पुकार का प्रतिनिधित्व कर रहे थे उन्हें उन्होने अपने शत्रु के रूप मे देखा। जो परिवर्तन का आकांक्षी हो, जो स्थापित व्यवस्था के विरुद्ध आवाज उठानेवाला हो उन सब को उन्होने अपना शत्रु समझा और उन्हें पीस-पास कर धूल मे मिला देने मे ही अपना हित देखा। उनमे दुराग्रह था वर्तमान को बनाये रखने का अतः वे यह भी न देख सके कि विरोध करनेवाला विरोधी बहुधा युग की पुकार होता है जिसके मुख से प्रकृति का अटल विधान बोलता है। विसर्ग की महती धारा का वेग रोकने का व्यर्थ प्रयास घातक होता है क्योंकि अवरोधी स्वयम् उसके प्रचण्ड प्रवाह मे पड़ कर विनाश का भागी हो जाता है।

युद्धोत्तर विश्व में विजयी शक्तियो ने यही भूल की। वास्तव में जगत् उस स्थिति मे पहुँच गया था जब वह वर्तमान के उपासको के प्रति अपनी सारी आस्था खो चुका था। वह समझने लगा था कि जिन लोगो के हाथों मे आज भूमण्डल के भविष्य का सूत्र है वे उदा-

रता, दूर-दर्शिता और मानवहित की भावना से प्रेरित होकर परिस्थिति के अनुकूल व्यवस्था का निर्माण करेंगे। पर धीरे धीरे दुनिया ने देखा कि जो अधिकारी हैं और जिनके हाथ मे रचना करने का महान् कार्य प्रदान किया गया है उनसे किसी प्रकार के परिवर्तन की आशा की ही नहीं जा सकती। उनकी घोर स्वार्थपरता, अधिकार पिपासा और साम्राज्यवादी लिप्सा ने महान् आदर्शों के आवरण में जगत् को भरपूर दुह लेने के लिए उत्तम व्यवस्था कर डाली। इस नीति की भयावनी प्रतिक्रिया का होना अनिवार्य था। उसी प्रतिक्रिया का एक रूप इटली के फासिटी और जर्मनी के नाजी विद्रोहों में अभिव्यक्त हुआ। मनुष्य जब निराश हो जाता है और जब उसकी सारी आकांक्षाएँ कुचल दी जाती हैं तथा अपेक्षित वस्तु को प्राप्त करना असंभव दिखाई देने लगता है तो उसकी मनोदशा बहुधा भयावना रूप ग्रहण करती है। नैराश्य और छिन्न-भिन्न आकांक्षाओ से संभूत मन.स्थिति विचित्र हो जाती है। वह मनुष्य को बहुधा पशु बना देती है। मनुष्य अपने क्षोभ मे उस वस्तु को ही नष्ट कर देना चाहता है जिसे प्राप्त करना उसे इष्ट होता है, क्योंकि इच्छित वस्तु को पाने मे वह अपने को असमर्थ पाता है। ऐसी स्थिति में यह भावना भी उत्पन्न हो जाती है कि जो मुझे नहीं मिल सकता उसका उपभोग हम दूसरे को भी न करने देंगे।

इस प्रकार द्वेष की अग्नि में भस्म होती मनोदशा प्रतिशोध की प्रचंड ज्वाला बनकर अपने को और दूसरे को भी जला कर राख कर देने में शांति प्राप्त करने की आशा करती है। फासिटीवाद अथवा नाजीवाद में यही मनःस्थिति अभिव्यक्त है। वह नरद्रोह और विश्वद्रोह की लोमहर्षिणी कल्पना का प्रतीक है। उसकी विचार सरणि मे एकमात्र विनाश ही विनाश की परपरा स्थापित करने का प्रयास किया गया है। "वह दुनिया जिसका उपभोग करने के लिये हमारा दलन किया गया, जिसे प्राप्त करने की हमारी चेष्टा निष्फल कर दी

गयी, जिसे बनाये रखने के लिए हमारे गले को दबोचे रखने का प्रयास अब भी किया जा रहा है, हम उसे ही नष्ट करके छोडेंगे और साथ-साथ उन सबको नष्ट कर देंगे जो उससे परिपालित हो रहे हैं।" कुछ इसी प्रकार की भावना और दृष्टि से ओत-प्रोत नाजीवाद यूरोप के वक्षस्थल पर अवतीर्ण हुआ। वह न तो उस दुनिया को रहने देना चाहता है जिसका निर्माण यूरोप की वैज्ञानिक संस्कृति ने किया था और न उन लोगों को रहने देना चाहता है जो उसका उपभोग करके स्वयं आनंद लूटने का उपक्रम करते रहे हैं। सभ्यता यदि मिट जाती है तो मिट जाय उसकी बला से। यदि बर्बरता का राज्य लाना पड़े तो वह उसे भी ले आने मे संकोच न करेगा क्योंकि उसके प्रतिशोध की आग और उसके हृदय का दाह उसी से मिटेगा।

पर जगत् के सूत्रधारों की अदूरदर्शिता और बुद्धि के दिवालियेपन की सीमा अभी पार नहीं हुई थी। स्वार्थ ने उन्हे इतना अंधा बना दिया था और परिवर्तन की माँग से वे इतने भयाकुल हो उठे थे कि उन्हें नाजी बर्बरता तथा फासिटीवादी मे अपनी रक्षा और अपना हित प्रतिभासित हुआ। मनुष्य का पतन उस समय चरम बिंदु पर पहुँच जाता है जब उसका विवेक नष्ट हो जाता है और जब वह अपने हिताहित, कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय भी नहीं कर पाता। रूसी राज्य क्रान्ति ने तथा एशिया और अफ्रिका की दलित तथा अधीन जातियो के उत्थान ने जिस अपेक्षित परिवर्तन ओर युग के प्रवाह की ओर संकेत किया था उससे वे घबड़ा उठे थे। उनका एक मात्र लक्ष्य उन विचार धाराओ, कल्पनाओ और व्यवस्थाओ को कुठित करना था जो प्रगति तथा परिवर्तन का प्रतिनिधित्व कर रही थीं। रूस स्वय प्रगति की उस ऐतिहासिक धारा का ही प्रतीक था।

यदि दुनिया को प्रगति के पथ पर बढ़ना था, यदि युद्ध के समान संकट की पुनरावृत्ति रोकनी थी, यदि नयी दुनिया और नयी सभ्यता

को अपना लक्ष्य पूरा करने देना था, यदि उसकी सांस्कृतिक देन से जगत् का हित सम्पादन करना था तो यह आवश्यक था कि पुरानी धारणा, कल्पना और व्यवस्था में आवश्यकतानुसार रद्दोबदल किया जाता। पर उन लोगो की मोह-निद्रा भंग न हुई जो जगत् की प्रगति को रोकने का कुकर्म कर रहे थे। मोह का निराकरण तो दूर रहा उन्हें अपनी व्यवस्था और अपनी दुनिया में रत्ती भर भी परिवर्तन करने मे अपना विनाश दिखाई दिया। फलत न केवल बोल्शेवीवाद प्रत्युत जगत् में कहीं भी प्रवाहित परिवर्तन की प्रवृत्ति यदि वे पाते तो उसके आतंक से काँप उठते। यह आतंक भूत की तरह उनके मस्तक पर सवार हो गया। इस भय से मुक्ति का मार्ग उन्हें नाजी अथवा फासिटी कल्पनाओ मे दिखाई दिया। जो नाजी अथवा फासिटी व्यवस्था लोकतत्र की निष्ठुर हत्या करने के लिए आविर्भूत हुई थी, जिसका सारा दृष्टिकोण लोकतत्र को नगण्य कर रहा था, जो आधुनिक सभ्यता की समस्त उत्तम धारणाओ और भावनाओ का शत्रु था, जो प्रतिहिसा की प्रेरणा से प्रादुर्भूत हुआ था और जो खड्गहस्त था, पाश्चात्य संस्कृति का मस्तक विचूर्ण करने के लिए वही उन्हें अपने मित्र और सहायक के रूप मे प्रतिभासित हुए। उन्होंने उसी को अपनी सहानुभूति, सहयाग और सहायता का पात्र समझा जो उन्हीं के पाप के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुआ था।

इस विवेक भ्रष्टता और अन्धमूढता पर किसे आश्चर्य न होगा। शत्रु मित्र के रूप मे दिखाई दे और मित्र शत्रु भासित हो यह मतिभ्रम जगत् के इतिहास मे अपना सानी नहीं रखता। उन्हें जो दिखाई पड़ा वह केवल इतना ही कि नाजीवाद समस्त प्रगतिशील और परिवर्तनाकांक्षी प्रवृत्तियो का परम शत्रु है। जो अन्तर्राष्ट्रीयता का विरोधी हो, जो जन-समाज की स्वतत्रता का शत्रु हो, जो उत्पादक और श्रमिक-वर्ग को केवल शासकों और पूँजीपतियों की सेवा करने मात्र के लिए जीवित रहने का अधिकार देता हो, जो जातिगत श्रेष्ठता

और केन्द्रित-शक्ति तथा अधिकार-सत्ता का प्रबल पोषक हो, जो वर्ग-भेद का समर्थक ही नहीं प्रत्युत उपासक हो उसमें समस्त प्रगतिशील धाराओं का विरोध तो असंदिग्ध ही है। बस उनके लिए इतना ही पर्याप्त था। उन्होंने देखा कि आज की व्यवस्था और दुनिया मे परिवर्तन की प्रक्रिया चरितार्थ करने के लिए जो प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो गयी हैं उनका गला घोटने के लिए यह नयी शक्ति आविर्भूत हुई है जिसकी सहायता करने मे ही कल्याण है।

आश्चर्य है कि जो जगत् की व्यवस्था तथा उसका संचालन करने के लिए आगे बढ़े थे वे इतना भी न समझ सके कि जिसे वे नयी शक्ति के रूप मे देख रहे हैं वह वास्तव मे भयावनी कृत्या है जो न केवल भविष्य को किन्तु वर्तमान को भी अपने जबडो मे रख कर चबा जाने के लिए बद्ध-परिकर हुई है। यदि वह प्रगतिमूलक परिवर्तन का शत्रु है तो उन लोगो का भी शत्रु है जो जगत् के सारे ऐश्वर्य और अधिकार का भोग कर रहे हैं। वह आज की दुनिया मे जो कुछ है सबका शत्रु है और मित्र है केवल बर्बरता का, जिसे एक बार धरती की छाती पर पुनः प्रतिष्ठित करके प्रतिहिसा की भावना को तृप्त करने पर उतारू है। नाजी अथवा फासिटीवाद यदि रूसीक्रान्ति के आदर्श तथा उसके मूलगत भावो के विरुद्ध है, यदि वह जगत् की समस्त प्रगतिशील, स्वतंत्रताभिलाषिणी तथा साम्राज्यवाद विरोधी शक्तियों का शत्रु है तो उससे भी बढ़ कर शत्रु उस परम्परा और प्रवृत्ति का है जिसकी स्थापना और प्रदर्शन फ्रॉस की राज्यक्राति मे, उसके बाद अमेरिकन स्वतत्रता के महायुद्ध मे तथा इंगलैण्ड के 'मेगना कार्टा' से लेकर आधुनिक समय तक मे हुआ था।

वह शत्रु है उन विश्वासो और भावो का जिसका प्रतिनिधित्व यूरप के इतिहास मे 'पुनर्जागरण' के (रेनेसाँ), 'सुधार' के (रिफर्मेशन) तथा बुद्धिवाद के युग ने किया था। नाजीवाद इन सबको एक

साथ ही अपने अपावन चरणों के नीचे रगड़ कर मिटा देने के लिए कृतसंकल्प था। पर यह सब देखने की न किसी ने आवश्यकता समझी और न क्षण भर किसी को विचार करने की फुरसत थी। वहाँ तो भयाकुल विधाता मण्डल था जिसे अपने ऐश्वर्य और प्रभुता को बनाये रखने की एकमात्र चिन्ता थी। उन्हें केवल उस दुनिया का मोह था, जो उनके स्वार्थ की सिद्धि कर सके पर उन महान् नैतिक आदर्शों और उज्वल कल्पनाओं से कोई प्रेम नहीं रह गया था, जिन्हें लेकर वह दुनिया बनी थी। वे आदर्श और वे लक्ष्य मर चुके थे। बिचारी पाश्चात्य-संस्कृति ऐसे अयोग्यों और स्वार्थियों के हाथ पहुँच गयी थी जो उसे तिलाजलि देकर भी अपना स्वार्थ साधन करना चाहते थे। फलतः नाजीवादी प्रवृत्ति की चरण पूजा निर्लज्जतापूर्वक की जाने लगी। उधर नाजीवाद या फासिस्टीवाद इस स्थिति से लाभ उठाकर बढ़ चला। यूरोप के देश एक के बाद दूसरे उसकी ठोकर से धराशायी होने लगे।

इटली, इटली के बाद जर्मनी फिर पोलैण्ड, पुर्तगाल, आस्ट्रिया, हंगरी, स्पेन तथा यूरोपियन भूखण्ड के अन्य कतिपय प्रदेश फासिस्टी उदर में समा गये। जो पश्चिमी सभ्यता के संरक्षक बनने का दम भरते थे वे चुपचाप यह लीला देखते रहे। लीला ही नहीं देखते थे प्रत्युत इस नवोद्भूत बर्बरतावाद को एक के बाद दूसरी सुविधा भी प्रदान करते गये। यूरप का गत एक दशक का इतिहास ज्वलन्त प्रमाण है इस बात का कि नाजियों की माँग पूरी की जाती रही और ऐसा करने में अपने को लोकतन्त्र का उपासक कहने वालों ने न केवल आत्मसमर्पण किया बल्कि विसर्जित कर दिया उन आदर्शों को भी जो पाश्चात्य संस्कृति की विशेषता थी। स्वतन्त्रता, समता, बन्धुत्व और सहिष्णुता की कल्पना भी धीरे-धीरे विसर्जित होती गयी। आस्ट्रिया, स्पेन, चेकोस्लोवाकिया, चीन अबीसीनिया, अल्बानिया आदि के मामलों में जो कुछ किया गया उसे दुहराने की आवश्यकता

नहीं है। सारी नीति का लक्ष्य था नाजियों को प्रसन्न करना। यही नीति ब्रिटेन और फ्रांस की वैदेशिक योजना तथा अन्तर्राष्ट्रीय नीति का आधार हो गयी थी। शान्ति, सुव्यवस्था और जगत् की रक्षा के सिद्धांत का प्रतिपादन किया जाता मुख से और व्यवहारत: अराजकता आक्रमणकारिता तथा अन्तर्राष्ट्रीय गुडई को प्रोत्साहन प्रदान किया जाता। आक्रमणकारी की पीठ ठोकी गयी और आक्रान्त का गला घुटने दिया जाता।

पाश्चात्य संस्कृति का सबसे बड़ा समर्थक अमेरिका भी इस दोष से मुक्त न था। लम्बी-लम्बी बातें वह भी करता पर वस्तुत यूरोप के उन दब्बुओं से सहयोग करता जो अपनी अदूरदर्शिता और संकीर्ण स्वार्थपरता के वशीभूत होकर उन्हीं लोगों की पीठ ठोक रहे थे जो उनकी ही संस्कृति के विरुद्ध खड्ग उठाये हुए थे। रोम और बर्लिन की शक्ति-वृद्धि मे क्या अमेरिका सहायक नहीं हुआ जब उसने अबाध-गति से उनके हाथों अपने अस्त्र-शस्त्र बेचे? जापान की साम्राज्य-वादिनी नीति की निन्दा अमेरिकन राजनीतिज्ञो ने गला फाड-फाड़ कर भले ही की हो पर अमेरिकन व्यवसायियो द्वारा टोकियो के युद्ध-वादियो को अधिकतर सैनिक सामग्री मिलने मे तो कोई रुकावट नहीं हुई। इस प्रकार यूरोप में बलवर्धन किया गया उनका जो पाश्चात्य संस्कृति और लोकतन्त्र के परम शत्रु थे। समझा यह गया कि इस नीति के द्वारा एक ऐसी शक्ति के विकास मे सहायता प्रदान की जा रही है जिसका भयानक चक्र एक दिन न केवल लाल रूस के मस्तक को प्रत्युत उन समस्त प्रगतिशील तत्वों की आत्मा को विचूर्ण कर देने मे सफल होगा जो आज साम्राज्यवादी लिप्सा तथा पूँजीशाही परत-न्त्रता के विरुद्ध विद्रोह कर रहे हैं। समझा यह गया कि ये नये खड्ग-धारी सम्पत्ति, शासकवर्ग के सम्मान और उनकी प्रभुता की रक्षा करेंगे और हनन करेंगे उन दरिद्रो, निहंगो तथा छोटे लोगो का जो

कोई हैसियत न रखते हुए भी महती अट्टालिकाओं के प्रभुओं की प्रभुता को ललकारने का दु:साहस कर रहे हैं।

इस दुर्नीति का जो परिणाम हुआ उस पर प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं है। जगत् उसी के फलस्वरूप आज युद्ध की प्रचण्ड ज्वाला मे भस्म हो रहा है। जिस दानवी शक्ति का परिपोषण किया गया था वह अपने परिपोषकों पर ही एक दिन टूट पड़ी। वह शक्ति किसी की रक्षा नहीं, वरन् सबका विनाश करने के लिये उद्भूत हुई थी। उसका लक्ष्य था धरित्री को कुचल कर, उसके मस्तक पर आसीन होकर प्रचण्ड अट्टहास करने का। वह जगत् मे किसी की प्रभुता स्वीकार करनेवाली नहीं थी। उसे बदला लेना था उन लोगो से जो जगत् का प्रवंचन करके स्वयम् अकेले ही जगत् का भोग करना चाहते थे। फलतः वह क्षण शीघ्र ही आ पहुँचा। जब महादेव से वरदान पाकर महादेव को ही भस्म कर देने की इच्छा से भस्मासुर की भाँति यह नव संभूत विभीषिका अपना पोषण करनेवालो को निगल जाने के लिये मुँह बाकर उन्हीं की ओर दौड़ पड़ी, जगत् में युद्ध का दावानल दहक उठा और आग के अंगारे बरसने लगे। पश्चिमी संस्कृति की छाती पर महाकाल का प्रलयकर ताडव आरम्भ हो गया।

रोम-बर्लिन टोकियो की धूरी पर घूमता हुआ चक्र पूर्व मे भी चला, पश्चिम मे भी घूमा, उत्तर और दक्षिण में भी घहरा उठा। उसकी गति के सम्मुख जो आये उन्हें चूर कर देने की चेष्टा उसने की। यदि उसने 'मास्को की लाल भूमि को' खून से लाल करने की चेष्टा की तो लंदन, पेरिस और संभव हो तो वाशिगटन को भी तहस-नहस कर डालने की चेष्टा और आकाक्षा की। स्वस्तिकांकित पताका यदि हँसिये-हथौड़े पर चोट करने के लिए अग्रसर हुई तो तारकांकित ध्वजा भी सुरक्षित न रही। फ्रांसीसी और ब्रिटिश साम्राज्य का विशाल ध्वज-स्तंभ तो बुरी तरह आहत हुआ। एक हिटलर के चरणो

मे आ गिरा तो दूसरा भी पृथ्वी के कतिपय भूभाग से उखाड़ फेंका गया। नर-संहार, सम्पत्ति का विनाश और बसे बसाये नगरों के विध्वंस का क्या पूछना? बड़े-बड़े कल-कारखाने, ऊँची अट्टालिकाएँ और वह सारा ऐश्वर्य, जो पाश्चात्य-संस्कृति तथा विज्ञान की प्रतिभा की देन थी, इस महाग्नि मे फूँक दिया गया। असीम अन्तरिक्ष हो अथवा अनन्त महोदधि या वसुधा का विशाल प्रागण सर्वत्र वही सुलगती हुई अग्नि व्याप्त हुई। इतिहास के किसी युग मे क्या कभी ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई थी?

मेरा तात्पर्य कुछ और गम्भीर तथा व्यापक परिणाम से है। मैं सोचता हूँ उस परिणाम की बात जो विजय-पराजय के प्रश्न की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण, कहीं अधिक व्यापक और कहीं अधिक प्रभावकर होता है। यह युद्ध अतीत के उन युद्धों से भिन्न है जिसमे भू-पिपासा अथवा शक्ति-वृद्धि के लिए संघर्ष होते थे। यह टक्कर है मानव-जीवन की उन अंतर्भूत प्रवृत्तियों मे जो इतिहास के प्रवाह को बना या बिगाड़ देती हैं। यह युद्ध परिणाम है उन परिस्थितियों का जो अनेक कारणों के फलस्वरूप उत्पन्न होकर आज मनुष्य के हाथ के बाहर हो गयी है। इसमे जय-पराजय ही अधिक महत्त्व नहीं रखता। निश्चय समझिये कि जो विजयी हुए वे भी विजय का सुख प्राप्त न कर सकेगे। जो पराजित हुए वे धरती से मिटते दिखाई दे रहे हैं। पर जो होगा वह इतना ही न होगा। प्रतीत ऐसा हो रहा है कि यह युद्ध पाश्चात्य-संस्कृति के लिए भयावनी चिता सिद्ध होने जा रहा है। सम्भवतः वह दुनिया जिसका निर्माण यूरोप शताब्दियों से करता आया है मरी हुई दिखाई देगी।

वह संस्कृति का अभिनय जिसे मानव-जीवन के ऐतिहासिक रंगमंच पर यूरोप कर रहा था कदाचित् समाप्त होने जा रहा है। सम्भवतः वे आदर्श और वे धारणाएँ तथा वह प्रकाश जिसे, लेकर यूरोप

अवनी के अंचल के कोने-कोने को आलोकित करने की चेष्टा कर रहा था, बुझा हुआ दिखाई देगा। धरित्री का चीर-हरण हो चुका है, मानवता सिसकती नजर आ रही है और मानव-समाज संहार से बच जाने के बाद सब कुछ खोकर दरिद्र, अकिञ्चन और दयनीय स्थिति में कलपता दिखाई दे रहा है। विजयी चाहे जो हो पर 'वेन्थम' और 'रूसो' मेजिनी और लिंकन की दुनिया अब वापस आनेवाली नहीं है। 'रेनेसाँ' और 'रिफरमेशन' से जो युग उत्पन्न हुआ था वह गया और सदा के लिए गया। वह दुनिया गई और उसी प्रकार गई जिस प्रकार यूनान और रोम की दुनिया चली गई। धरती न जाने कितनी महती संस्कृतियों के अवशेष और उनके खंडहर और उनकी समाधि को अपने अञ्चल में छिपाये हुए है। ऐसा ज्ञात होता है कि कदाचित् उसे आज एक और मरी हुई संस्कृति के भग्न वैभव को अपनी गोद में स्थान देना पड़ेगा।

मैं जो कह रहा हूँ वह अकारण नहीं कह रहा हूँ। इतिहास के पृष्ठों पर दृष्टिपात करता हूँ तो संस्कृतियों के पतन की कतिपय घटनाओं को पाता हूँ। देखता हूँ कि संस्कृतियों का पतन होता है तब जब वे लोग, जो उसके पोषक होते हैं और स्वयम् उससे परिपोषित होते हैं उसके आदर्श से पथभ्रष्ट हो जाते हैं, जब वे उन मूलभूत सांस्कृतिक सिद्धान्तों और लक्ष्यों का परित्याग कर देते हैं जो वास्तव में संस्कृति की आत्मा होती है, जब स्वार्थ ही साध्य हो जाता है, जब समय के अनुकूल जीवन की व्यवस्था में परिवर्तन करना अस्वीकार कर दिया जाता है, सब संस्कृति से उपलब्ध ऐश्वर्य को केवल कुछ लोगों की भोग्य सामग्री बना दिया जाता है और जब अपने संकीर्ण हित को सामने रख कर संस्कृति के विकास की स्वाभाविक गति का अवरोधन कर दिया जाता है। यह सच है कि सभ्यता का उदय आरंभ में थोड़े ही लोगों में होता है, पर सरिता के प्रवाह की भांति उसकी धारा गतिशील हुआ करती है। उसका आगे

बढ़ना अनिवार्य होता है और वह विस्तृत धरातल को प्लावित करने लगती है। यही समय संस्कृति के लिए परमोत्कर्ष का होता है, पर वही संकट की घड़ी भी होती है। सभ्यता के पोष्य-पुत्र आदिसंचित अपनी शक्ति और ऐश्वर्य को भी उसके साथ प्रवाहित होने देते हैं और सब को उसमे भागीदार बनाने की दूरदर्शिता दिखाते हैं तो वह विकसित होती चलती है, पर जहाँ विभूति संपन्नो की स्वार्थमयी वासनाएँ उन्हें मोहाच्छन्न करने लगती हैं वहीं आन्तरिक सघर्ष आरम्भ हो जाता है।

इतिहास मे यह स्थिति अनेक बार आ चुकी है। संस्कृतियो के हृदय मे उत्पन्न यह अन्तर्दाह बहुधा उन्हीं के हनन का कारण हुआ है। आधुनिक सभ्यता के सम्मुख भी ऐसी ही स्थिति उत्पन्न हुई जो कदाचित् उसका प्राण हरण करने में समर्थ हो चुकी है। विचार-पूर्वक देखिये तो पतन के उपर्युक्त समस्त कारणों को आप सजीव रूप मे प्रस्तुत पावेंगे। इसी कारण मेरी यह धारणा हो रही है कि युद्ध के बाद यूरोप की उपर्युक्त दुनिया मरी हुई दिखाई देगी। इस भ्रान्ति मे न रहिये कि मित्र राष्ट्रो की विजयमात्र से वे आदर्श और वे दृष्टिकोण पुन प्रतिष्ठित होंगे जिनके रक्षक होने का दंभ ब्रिटेन और अमेरिका आज भी करते हैं। यह भी सोचना चाहिये कि रूस की विजय होने से जगत् 'लाल' हो जायगा। निश्चित रूप से यद्यपि कुछ कहा नहीं जा सकता तथापि मेरी दृष्टि मे आज के संसार की गति-विधि दूसरी दिशा की ओर ही संकेत करती दिखाई दे रही है। ऐसा आभास मिल रहा है कि मित्र राष्ट्रो की विजय के बाद धरती पर एक ऐसे नये साम्राज्यवाद की स्थापना करने की चेष्टा की जायगी जो अब तक के सब साम्राज्यो की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत और भयानक होगा।

जिस स्वार्थपरता ने जगत् को समराग्नि मे झोका जिसने पाश्चात्य संस्कृति को ही समाप्त कर देने के लिए उत्प्रेरित किया वही उपर्युक्त

साम्राज्यवाद को भी जन्म देगी। जो वर्ग परिवर्तन का विरोधी था वह अपनी व्यवस्था की रक्षा करने का सारा उपाय कर चुका। अब एक यही उपाय बाकी रह गया है कि वे सब एक होकर अपने स्वार्थ की रक्षा करने की चेष्टा करें और समान स्वार्थ के आधार पर वर्तमान को ज्यों का त्यों बनाये रखने के लिए यत्नशील हों। ऍग्लो-अमेरिकन साम्राज्यवाद के द्वारा इसी प्रयोग को स्थान दिया जाय तो आश्चर्य नहीं। अंग्रेजी भाषा-भाषी इन दोनो जातियों को मिलाकर जगत् का भरपूर दोहन करने की भयावनी नीति बरती जायगी। उस स्थिति मे ये दोनों शक्तियाँ परस्पर सहायिका होकर जगत् में अपनी अक्षुण्ण प्रभुता बनाये रखने के लिए यत्नशील होंगी। यदि यह न हुआ तो दूसरी स्थिति यही होगी कि ब्रिटिश और अमेरिकन साम्राज्यवादियों के स्वार्थ परस्पर टकराने लगें और भावी महासंहार का बीज अभी से बो दें। दो में से एक गति होना अनिवार्य है। ऐसा होने के लिए स्पष्ट कारण मौजूद हैं।

युद्ध के बाद अमेरिका को अपने उन कल-कारखानों के लिए बाजार चाहिये जिनका निर्माण अत्यधिक संख्या में इस युद्धकाल मे होने लगा है। युद्ध के बाद ये कारखाने बन्द नहीं किये जायेंगे। इन मे लगा मजदूर-वर्ग बेकार नहीं किया जायगा। सेना का विघटन करने के बाद लाखों बेकारों की समस्या उपस्थित होगी जिन्हें काम देने के लिए इन कारखानो को चालू रखना पड़ेगा। संभवतः नये उद्योगों को भी जन्म प्रदान करना पड़ेगा जिसमे वे सब बेकार जो आज के सैनिक हैं कल मजदूर बनाकर खपाये जा सकें। विचार कीजिये कि अमेरिका जो महान् उत्पादन करेगा उसे खपायेगा कहाँ? निस्संदेह उसे जगत् के बाजारों को अपने माल से पाटे बिना दूसरी कोई गति नहीं है। ब्रिटेन की समस्या भी ऐसी ही होगी। उसे अपना पुनर्निर्माण करना है। उसके जो कल-कारखाने नष्ट हो गये हैं उन्हें फिर से खड़ा करना है तथा सम्पत्ति का जो महाविनाश हुआ है उसे पुनः वापस

लाना है। युद्ध के बाद विघटित हुए सैनिकों को काम देने की समस्या भी उसके सामने होगी'। ये सब प्रश्न उसी समय हल हो सकते हैं जब ब्रिटेन अपने उद्योग को एक बार फिर जोर से बढ़ावे तथा अपने अधीन देशों और साम्राज्यान्तर्गत भू-प्रदेशों का अबाध शोषण कर सके।

ये प्रश्न हैं जो आज तात्कालिक हो चुके हैं और कदाचित् इन पंक्तियों के प्रकाश में आने के पूर्व ही सुलझाव की अपेक्षा करते नजर आवें तो आश्चर्य नहीं। स्पष्ट है कि ब्रिटेन और अमेरिका के सूत्रधारों के लिए दो में से एक ही मार्ग चुनना होगा। या तो दोनों मिल कर समान स्वार्थ के आधार पर ऐसी व्यवस्था करें कि दोनों मिल कर धरती को बाँट लें और बिना किसी बाधा के उसका दोहन करें अथवा अपने-अपने स्वार्थों को लेकर परस्पर की प्रतिस्पर्धा की आग में जगत् को पुनः झोंक देने की तैयारी करें। पर ब्रिटेन और अमेरिका के जन-नायक दो में से चाहे जिस मार्ग का भी अवलम्बन करें यह स्पष्ट है कि उसके द्वारा लोकतन्त्र विश्व की स्वतन्त्रता और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के आदर्श की रक्षा नहीं हो सकती। साम्राज्यवाद चाहे एक राष्ट्र का हो अथवा एकाधिक राष्ट्रों के सहयोग से सम्भूत हुआ हो प्रकृत्या लोकतन्त्र और जन-स्वतन्त्रता को कुचल कर विशुद्ध पशु-शक्ति पर ही खड़ा होता है। फलतः यह सोचना भी भ्रमपूर्ण है कि आज जो विजयी हुए हैं वे जगत् की स्थिति या व्यवस्था में कोई मौलिक परिवर्तन करेंगे। रूस की विजय से भी अधिक आशा करना व्यर्थ है।

रूस इतना विनष्ट हो चुका है, इतना खो चुका है और अपनी शक्ति का इस युद्ध में इतना क्षय कर चुका है कि वह स्वभावत युद्ध के अनन्तर अपना पुनर्निर्माण करने के लिए शान्ति की इच्छा करेगा। उससे यह आशा नहीं की जा सकती कि वह उन भयानक मगरमच्छों की अप्रसन्नता का स्वागत करेगा जो मुँह बाये जगत् को निगलने को

ताक मे बैठे हुए हैं। यदि रूस जगत् की व्यवस्था में मौलिक परिवर्तन करना चाहे भी तो सम्प्रति कुछ करने में समर्थ न होगा। स्मरण रखना चाहिये कि इस युद्ध मे इसकी शक्ति का जहाँ अपरिसीमा ह्रास हो चुका है वहाँ ब्रिटेन और अमेरिका की शक्ति अक्षुण्ण बची दिखाई दे रही है। क्या यूरोप के युद्ध का सारा बोझ रूस को ही उठाना नहीं पड़ा है ? ऐंग्लो अमेरिकन शक्ति कहाँ मुख्य रूप से भिड़ी और कहाँ आगे बढ़ कर उस चोट को ग्रहण किया जो रूस पर पड़ती चली गई ? इस स्थिति में यह आशा करना कि रूस की विजय मात्र से जगत् 'लाल' हो जायगा और 'लाल' व्यवस्था से संचालित होने लगेगा भारी भ्रान्ति के सिवा शायद कुछ नहीं है।

पर थोड़ी देर के लिये यदि यह मान भी लीजिये कि रूस की विजय से जगत् बदल जायगा तो भी उसका अर्थ क्या हुआ ? रूस की नीति क्या आशंका जनक नहीं हो रही है ? क्या वह भी भयावह हुआ दिखाई नहीं दे रहा है ? रूस का बोल्शेवीवाद और चाहे जो हो पर वह न तो आधुनिक लोकतन्त्रवाद है और न उन व्यवस्थाओ और व्यवहारो का प्रतिपादक है जिन पर आधुनिक पाश्चात्य जगत् का निर्माण हुआ था। उसका अर्थ भी उस दुनिया की मृत्यु ही है जो अब तक हमारे सामने थी। फलतः ऐसा ज्ञात होता है कि वह संस्कृति गयी जो अब तक पाश्चात्य जगत् की संस्कृति के नाम से विख्यात थी। इस युद्ध के बाद जो बच रहेंगे वे संभवतः एक बात मे समान रहेंगे ऐसा ज्ञात होता है कि लाल हो या पीले या सफेद, जो बचेंगे वे केन्द्रीभूत शस्त्र की शक्ति में प्रचण्ड विश्वास लेकर सामने आवेंगे। हिटलर ने जगत् का और अपकार चाहे जो किया हो पर सब से बड़ा अकल्याण यह किया है कि मनुष्य के हृदय मे केन्द्रीभूत निरङ्कुश शस्त्र-शक्ति के प्रति प्रबल विश्वास उत्पन्न कर दिया है। हिटलर भले ही विनष्ट हो गया हो, पर जिस प्रवृत्ति को वह छोड़ गया है उसका प्रभाव मिटता दिखाई नहीं देता। फलतः युद्ध के बाद यदि

पुरानी दुनिया समाप्त हुई रहेगी तो उसके स्थान पर नव-जगत् का निर्माण करना ही होगा। पर जिस जगत् का निर्माण होगा उसका स्वरूप कैसा होना चाहिये यह तात्कालिक प्रश्न आज मानव-समाज केसम्मुख सजीव रूप मे उपस्थित है।

क्या जिस हिटलरी प्रवृत्ति की ओर ऊपर सकेत किया गया है और जो सम्प्रति जगत् के सूत्रधारो की मानसिक पृष्ठ-भूमि के रूप मे प्रस्तुत है उसीके द्वारा नव निर्माण का कार्य सम्पादित होगा? यदि ऐसा ही हुआ तो विचार कीजिये की मानवता की दशा क्या होगी? क्या मनुष्य समाज का भविष्य उसी मे सुरक्षित रहेगा? स्मरण रखिये कि उस अवस्था मे विश्व मे चतुर्दिक पशुबल की सत्ता स्थापित रखने की चेष्टा की जायगी, शस्त्र और शक्ति के द्वारा धरती का दोहन किया जाता रहेगा और वे अभागे भू-प्रदेश जो अब तक श्वेतजातियो के बूटों के नीचे पिस रहे हैं आगामी कतिपय दशकों के लिए उसी स्थिति मे पड़े रहने के लिए छोड़ दिये जायेगे। भू-मडल का बटवारा साम्राज्यवादी गीधो का सुविधा के अनुसार कर दिया जायगा, विजित और विताड़ित रगड़ दिये जायेंगे और वर्गमूलक स्वार्थों की सिद्धि के लिए व्यापक जन-समाज का शोषण जारी रहेगा। निरंकुश शासन सत्ताएँ मनुष्य के मस्तक पर जमकर बैठी रहेगी, उसके नैसर्गिक अधिकारो का निर्दलन करती रहेगी और जब चाहेगी जगत् को युद्ध की अग्नि मे झोक देगी। वे उज्वल आदर्श, जो मानवता की विभूति है, कब्र मे गाड़ दिये जायेगे और प्रगति का नाम-निशान भी मिटता रहेगा। यह व्यवस्था तब तक चलती रहेगी जब तक निर्दलित राष्ट्रो के हृदय का अंतर्दाह और प्रतिहिंसा की सुलगती हुई अग्नि उन्हें वह शक्ति प्रदान नहीं कर देती जिसके सहारे वे उत्पाड़को को ललकारने के लिए उठ खड़े हो। जब वह क्षण आ जायगा तो धरती में पुनः वैसी ही समराग्नि का प्रज्वलन दिखाई देगा जैसा आज दिखाई दे रहा है। युद्ध का बीज गत महासमर के बाद स्थापित योजना और

व्यवस्था के गर्भ में रख दिया गया था। आज पुनः युद्धोत्तर व्यवस्था मे भावी महासमर का बीज वो दिया गया है। आधुनिक युद्ध यदि गत महासमर की अपेक्षा कई गुना अधिक भयावह हुआ तो भावी महा-सग्राम भी आज की अपेक्षा कहीं अधिक भीषण और सहारकारी होगा।

क्या मानव-समाज का भविष्य इसी मे सुरक्षित है? क्या यह जाति अब उस बिंदु पर पहुँच गयी है जहाँ विनष्ट होने के सिवा उसके लिए कोई दूसरी गति नहीं रह गयी? प्राणि-जगत् की विकास-यात्रा मे न जाने कितनी जन्तु-जातियाँ उत्पन्न हुईं और विलीन हो गयीं उनकी अस्थियो के अवशेष प्रस्तर-खडो मे दबे हुए अथवा समुद्र के गर्भ मे पड़े हुए ककाल हमे उनकी सूचना दे देते है। क्या यह भूतल मानव-जाति का अंत भी शीघ्र ही देखनेवाला है। यदि नहीं तो फिर जगत् की भावी व्यवस्था के सबध मे विचार करना ही पड़ेगा और विश्व जिस स्थिति मे पहुँच गया है उससे उसका उद्धार करने के लिए मार्ग ढूढ़ना ही होगा। जो जगत् को आज की स्थिति मे ले जाने के लिए उत्तरदायी हैं उनकी गति-विधि पर दृष्टि रखनी होगी, पुरानी भूलो को खोज निकालना होगा, मानव-समाज को आत्म-समीक्षा करनी होगी और उन त्रुटियो का परिहार करना होगा जिसका परिणाम आज भोगने के लिए बाध्य होना पड़ रहा है। अन्त में उस आधार को ढूँढ़ निकालना होगा जिस पर नव-विश्व की रचना करने से मानवता के कल्याण की आशा की जा सकती है।

मानव जगत् को उपर्युक्त प्रश्नो का उत्तर खोज निकालना होगा अन्यथा अपने समाज के भविष्य की उज्वलता मे आस्था खो देनी पड़ेगी। विश्व को मनुष्य के योग्य बनाना है, बर्बरता का उन्मूलन करके मानवता को प्रतिष्ठित करना है, धरित्री को आक्रमण-कारिता, हिंसा और रक्तपात से मुक्त करना है और मानव-समाज को मनुष्य की दासता, उसके दलन और दोहन से उबारना है। यदि यह

नहीं होता तो मनुष्य-समाज की रक्षा भी नहीं होती। पर सब प्रश्नों का प्रश्न तो यह है कि यह सब होगा कैसे? समस्याओं का हल है क्या? वह कौन सा आधार है जिसे ग्रहण करके मानव-समाज अपने भविष्य का निर्माण कर सकता है? वह कौन-सी पद्धति है जिसे अपनाकर लक्ष्य प्राप्ति की चेष्टा की जा सकती है? वह कौन सा पथ है जिस पर अग्रसर होने मे ही कल्याण की सभावना है? इन प्रश्नों का उत्तर समस्त मानव जाति को देना है। पूर्व हो या पश्चिम उत्तर हो या दक्षिण सभी दिशा से इनका उत्तर उपस्थित किये जाने की अपेक्षा आज त्रस्त मानवता कर रही है। उन आदर्श-भ्रष्ट विवेक-भ्रष्ट और पथ-भ्रष्ट यूरोपियन नेताओं से इन प्रश्नो का उत्तर पाने की आशा कौन करे जो आज मानव समाज की दुर्दशा के निमित्त हुए हैं। उन्होने जब अपनी बनी अदूरदर्शिता से अपनी बनी बनाई दुनिया को उजाड़ कर उसमे आग लगा दी है तो भविष्य के लिए वे मार्ग उपस्थित करने में समर्थ होगे? सिवा अनर्थ करने के उनसे और किस चीज की आशा की जा सकती है?

फलत: इनका उत्तर देना होगा जगत् के उस व्यापक जन-समाज को जिसके हृदय में मानवता की प्रकाशमयी रश्मि का आलोक अब भी बाकी है। इनका उत्तर देना है जगत् की उन प्रगतिशील प्रवृत्तियों को जो अब भी मानवता के भविष्य मे विश्वास रखती है। उन्हें न केवल उपर्युक्त प्रश्नो का उत्तर देना है प्रत्युत अपने उत्तर को व्याव-हारिक रूप भी प्रदान करना है। गाँधी ने आज वही महाप्रयास करने का साहस किया है वह आर्त मानवता और विकल धरित्री तथा अन्धकाराच्छन्न अम्बर के सम्मुख समस्याओं का एक हल लेकर उपस्थित हुआ है। यदि मानव-समाज को बचाना है तो गाँधी की दृष्टि मे जीवन और जगत् की व्यवस्था मे क्रान्तिकारी परिवर्तन अपे-क्षित है। वह समझता है कि मनुष्य को नया दृष्टिकोण ग्रहण करना पड़ेगा, नये आदर्श सामने लाने पड़ेंगे, जीवन के लिए नये लक्ष्य की

घोषणा करनी पड़ेगी। वर्ग और वर्ग का भेद मिटाना होगा, सम्पत्ति तथा प्रभुता संबंधी कल्पना में परिवर्तन करना होगा तथा आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के क्षेत्र मे उस सामजस्य का सर्जन करना होगा जो जगत् मे अविश्वास के स्थान पर सहयोग-मूलक प्रवृत्ति को स्थान प्रदान करे। वह जगत् का कल्याण ऐसे समाज की रचना मे देखता है जिसमे व्यक्ति और समष्टि जीवन के प्रत्येक अग और क्षेत्र का विकास समरूप से हो सके।

गाँधो इन्हीं के आधार पर मानव-समाज के नव-निर्माण के लिए एक नये पथ की ओर सकेत करता है और एक नयी पद्धति को प्रस्तुत कर देता है। वह देखता है कि आज मनुष्य का देवत्व नहीं मनुष्यत्व भी प्रसुप्त है और जाग्रत् है केवल उसका पशुत्व। अपनी पशुता में मनुष्य केवल अहम् की सत्ता को सत्य के रूप में देख रहा है और अहमुपासना को, अर्थ और काम को जीवन का चरम-लक्ष्य मान चुका है। मनुष्य यह भूल गया है कि अर्थ और काम साधन मात्र है। किसी उन्नत साध्य के जिनकी सिद्धि मे ही मानव जीवन की पूर्णता है। नीति और अध्यात्म को लक्ष्य-विन्दु वनाकर अर्थ और काम की सिद्धि मे ही मनुष्य का कल्याण है। उन्हें दृष्टि पथ से हटाकर अर्थ की सिद्धि अनर्थ का मूल और काम की सिद्धि विनाश का ही हेतु हो सकता है। नीति से वंचित अर्थ और काम मनुष्य का पशु ही वनाकर छाड़ेगा। यूरोप ने आज यही भूल की है अतः संस्कृति के गर्भ से उस बर्बरता का प्रजनन हो गया है जो न केवल सस्कृति को चवा गयी, बल्कि सारे मानव-जाति का भक्षण कर जाना चाहती है।

आज गाँधो अथ और काम का, व्यक्ति और समाज का, अधिकार और कर्तव्य का, श्रम और सपत्ति का, ज्ञान और विज्ञान का समन्वय नीति तथा अध्यात्म से स्थापित करने का आदर्श और पथ लेकर जगत् के सामने खडा है। यदि इस लक्ष्य की प्राप्ति मे धरती पर स्थापित मानव-पशुता का साम्राज्य वाधक है तो वह उसके विरुद्ध

खुले विद्रोह की योजना भी उपस्थित कर देता है। उसके इस दृष्टिकोण से ही अहिंसा का उद्भव हुआ है जिसे भावी जगत् की रचना की नीति बनाकर वह संकटाच्छन्न धरती को उबारने की पद्धति की ओर संकेत कर रहा है। अब यह काम है प्रगतिशील जन-समाज का कि वह बापू के विचारों को पक्षपात रहित होकर, हठधर्मी और दुराग्रह को छोड़ कर तोले और देखे कि यह महामानव जो कह रहा है उसमे जगत् की समस्या को हल करने और मानवता का पथ प्रदर्शन करने की कितनी शक्ति है। मै तो यह देख रहा हूँ कि आज सिवा गाँधी के न कोई दूसरा ऐसा व्यक्ति है, और न उसके विचारों के सिवा कोई दूसरी ऐसी विचार-धारा है, जो विश्व को वह दे रही हो जिससे वह वंचित है और जिसके अभाव के कारण ही विपद्-ग्रस्त है।

जानता हूँ कि रूसी समाजवाद ने भी जगत् के सामने एक पथ उपस्थित किया है और तदनुकूल महान् प्रयोग मे रत हुआ है पर बड़ी विनम्रता के साथ मैं यह कहने का साहस करता हूँ कि रूस उस लक्ष्य की ओर अग्रसर न हो सका जिसे उसने अपने सम्मुख स्थापित किया था। उसका आदर्श स्पृहणीय, मानवीय और ग्राह्य था पर वहाँ तक पहुँचने के लिए उसने जिस पथ का अवलम्बन किया वह लक्ष्य के अनुकूल न था। मानवीय-आदर्श की प्राप्ति के लिए पथ पकडा गया बर्बरता का फलत असफलता अनिवार्य थी। आज गाँधी ही एकमात्र व्यक्ति है जो मानवीय-आदर्श के लिए मानवीय-पथ का प्रतिपादक और निर्देशक है। वही एकमात्र महापुरुष है जो प्रमत्त हुई पृथ्वी के उन्माद के सम्मुख भी खड़े होने का साहस कर रहा है। उसकी विचार-धारा मे पश्चिमी समाजवाद का पूर्वी अध्यात्मवाद के साथ सुन्दर समन्वय स्थापित हुआ है। वह पूर्व और पश्चिम की विकृत नहीं, किन्तु उत्कृष्टतम, पवित्रतम और शुभ्रतम प्रतिभा तथा प्रवृत्ति का मोहक प्रतिनिधित्व कर रहा है। वह एक व्यक्ति है जिससे बढ़ कर वर्गत्वहीन (डी क्लास्ड) प्राणी दूसरा नहीं है। वह कैसे विश्व की, कैसे समाज की

और कैसे मनुष्य की कल्पना करता है इसका सजीव चित्रण तो उसके जीवन से ही हो जाता है। अपनी नीति, अपने जीवन और अपने आदर्श से ही वह अपने कल्पित विश्व को सक्रिय रूप मे व्यक्त कर रहा है।

जो यह आपत्ति करते हैं कि गाँधी जी के विचारो मे काल्पनिकता ही अधिक है और उन्हें न व्यवहार मे लाना सम्भव है और न वे कभी साकार रूप ग्रहण कर सकते हैं वे मेरी समझ मे निष्पक्षता और गभीरता के साथ स्वयम् विचार नहीं करते। यदि वर्गहीन समाज की रचना का लक्ष्य विशुद्ध स्वप्न नहीं है तो गाँधी के विचार क्यो काल्पनिक है? मनुष्य मात्र की स्वतंत्रता, समता और बन्धुत्व का आदर्श क्या काल्पनिक नहीं है? समस्त विश्व के संघ की रचना करके मानव-समाज कभी अपने राष्ट्र गत, जाति गत और रक्त तथा वर्णगत भावों को भूल कर एक परिवार की भांति अपना संचालन करेगा तथा प्रभुता और शक्ति का उपभोग करने वाली विविध देशो की सरकारें अपने अबाध अधिकारो को परिसीम करके जगत् के व्यापक हित के लिए अपने कुछ अंश का विसर्जन कर देंगी, आदि भावना भला किस काल्पनिकता से कम है? पर क्या आज का मनुष्य इन्हीं का स्वप्न नहीं देखा करता? यदि इन्हें, अव्यावहारिक, काल्पनिक और अयथार्थ नहीं कहा जाता तो गाँधी ही को क्यो कहा जाय और क्यो उसकी ओर ऐसी दृष्टि डाली जाय? मनुष्यता का इतिहास ऐसी ही कल्पनाओ के आधार पर निर्मित हुआ है। याद रखना चाहिये कि मनुष्य यदि धरती से ऊँचे उठकर स्वप्न न देखता रहा होता तो आज उसका विकास भी न हुआ होता।

हाँ कह सकते है कि गाँधीजी जो कह रहे हैं वह कभी इतिहास मे पहले नहीं हुआ, पर वर्गहीन समाज की रचना भी तो इतिहास मे कभी नहीं हुई। इतिहास के पन्नो में विश्वसंघ की मिशाल भी कहाँ मिलती है? यदि ये बातें पहले कभी न होते हुए भी आज संभव समझी जाती है तो जो गाँधीजी कह रहे हैं वह कैसे असंभव मान ली

जाय ? एक दृष्टि से तो उनकी बातें अपेक्षा कृत कहीं अधिक संभव प्रतीत हो रही है। वे जो कह रहे हैं वह क्या युग की माँग नहीं है? आज का जगत् मनुष्य की हिंसा और बर्बरता से त्रस्त है। प्रत्येक प्राणी यह अनुभव कर रहा है कि आधुनिक पशुवाद और युद्धवाद को, हिंसावाद और शस्त्रवाद को यदि रोका न गया, यदि चतुर्दिक् व्याप्त केन्द्रीकरण की भयावनी दुष्प्रवृत्ति का अवरोधन न किया गया और यदि कोई ऐसी व्यवस्था न की गयी जिसमें युद्धों का होना असम्भव हो जाय तो अखिल मानव-जाति का विनाश निश्चित है। अशस्त्रीकरण और राष्ट्रसंघ अथवा सामूहिक रक्षा आदि के उपाय उपर्युक्त लक्ष्य को प्राप्त करने के ही प्रयास हैं। वे प्रयास हैं किसी न किसी रूप में जगत् की व्यवस्था को अहिंसा पर आश्रित करने के।

ऐसे समय जब यह सारा प्रयास किसी न किसी कारण विफल हुआ दिखाई दे रहा है और जब हिंसा की निरर्थकता और प्रलयंकरता अखंडनीय रूप से सिद्ध हो चुकी है, जब यह सिद्ध हो चुका है कि पशुता से पशुता का, हिंसा से हिंसा का निराकरण हो नहीं सकता और जब मानव-समाज उचित पथ के अनुसंधान में विकल है; गाँधी एक उपाय की ओर संकेत कर रहा है। जगत् के लिए आज दूसरा चारा ही नहीं है। उसे या तो किसी न किसी रूप में अहिंसा को व्यक्तिगत नहीं प्रत्युत सामूहिक जीवन के आधार के रूप में अपनाना होगा या मनुष्यता को विनष्ट हो जाने देना होगा। शक्ति और विजय के दंभ में आज भले ही उसकी स्वर-लहरी का तिरस्कार कर दिया जाय, अपनी धूमिल-दृष्टि को बुद्धि और पांडित्य समझने वाले भले ही उसकी पुकार को पागल का अनर्गल प्रलाप समझें पर आज नहीं तो कल संसार को उसी पथ का अनुसरण करना पड़ेगा जिसकी ओर वह संकेत कर रहा है। ऐसा मैं कह रहा हूँ क्योंकि मुझे मानव-जाति के भविष्य की उज्वलता और उसके इतिहास की प्रगतिशील धारा में अदम्य विश्वास है। मुझे विश्वास है मनुष्य के अन्तस्थ उस देव का

जसकी प्रतिष्ठा स्वयम् प्रकृति ने ही कर दी है। मुझे उस देवत्व की उद्बोधनी शक्ति मे भी विश्वास है। मनुष्य-जाति बार-बार संकटो से आच्छन्न होती रही है फिर भी विकास की ओर बढ़ती गयी है। अपने महान् लक्ष्य की ओर अभी उसे लम्बी यात्रा करनी है। फलतः उसे इस सकट से भी पार होकर अपने पथ पर आरूढ़ होना है और बढ़ चलना है।

जगत् के सौभाग्य से गांधी के रूप में मानवता का वह उज्वलभाव अभिव्यक्त हो गया जो मानवोचित लक्ष्य और पथ की ओर संकेत कर रहा है। भारत का तो यह दोहरा सौभाग्य है कि वह व्यक्ति उसी की गोद सुशोभित कर रहा है। हमारा यह मिथ्या दम्भ नहीं प्रत्युत इतिहास से सिद्ध वास्तविकता है कि भारत ने मानव-जाति के सास्कृतिक अभियान में उसकी अमूल्य सेवा और सहायता की है। सम्प्रति उसे पुनः वही अवसर मिलने जा रहा है। यह सच है कि आज का भारत निर्दलित और विताड़ित है। उसने अपनी पराधीनता और पतन के कारण अपने अतीत के समस्त गौरव को, राष्ट्र के अभिमान का और अपनी मनुष्यता तक को भी धो बहाया है। पर जहाँ यह सच है वहीं यह भी सच है कि यह महाराष्ट्र मरा हुआ नहीं है। इसमें सजीवता वर्तमान है और इसने वर्तमान को घृणित कड़ियो को विचूर्ण कर डालने का निश्चय कर लिया है। इसका यह संकल्प राष्ट्र की उद्दाम आत्मा की अक्षय शक्ति से पूत और अनुप्राणित हो चुका है। जगत् की समस्त पशुता और प्रतिकूल परिस्थितियाँ सारा उन्माद और दर्प भी इसे अपने पथ से विरत नहीं कर सकते।

भारतीय राष्ट्र की आत्मा के इस उज्जीवन और जागरण का सर्वतोधिक श्रेय गाँधीजी को ही प्राप्त है। मुझे मालूम है कि आज का हमारा वातावरण नैराश्य के गहन अधकार से अधिकतर गंभीर हो गया है। प्रकाश की आभा कहीं सुदूर क्षितिज पर भी दिखाई नहीं दे रही है। पर यह प्रचण्ड अन्धकार ही आगामी अरुणोदय की सूचना दे रहा है। भारत निकट भविष्य मे अपनी स्वतत्रता प्राप्त करने जा

रहा है। किसी का स्वार्थ, किसी की हठधर्मी और किसी का शक्ति भार सहस्रो बाधाएँ उपस्थित करते रहना भी सफल नहीं हो सकता। किसी जीवित राष्ट्र का स्वत्वापहरण और दलन अधिक दिनों तक करने मे समर्थ होना इतिहास की गति के विरुद्ध है। फलतः आज की स्थिति का बने रहना भी असम्भव है। फिर भारत की समस्या विश्व की समस्या से भिन्न भी नहीं है। यदि विश्व का भविष्य उज्वल है, यदि वह संकट से पार होने जा रहा है तो भारत का वर्तमान भी नष्ट होने वाला है। मानवता यदि पशुता और परतन्त्रता से मुक्त होने वाली है तो भारत भी स्वतन्त्र होगा।

उस स्थिति मे स्वतंत्र भारत न केवल अपना निर्माण करेगा, वरन् उसे जगत् के निर्माण मे भी प्रमुख भाग लेने की अभिलाषा होगी। यूरोप को तो कदाचित् वह उन तत्वो को प्रदान करने मे समर्थ होगा जिनके अभाव मे उसका सांस्कृतिक कलेवर क्षत-विक्षत हो गया है। भारत मानवता के निर्माण मे अपना भाग पूरा करने की कामना रखता है पर वह कामना जगत् का नेतृत्व करने की इच्छा से या विश्व पर अपनी सांस्कृतिक विजय की वैजयन्ती फहराने की दंभपूर्ण प्रवृत्ति से उत्प्रेरित नहीं है। वह अभिलाषा है मानवता की सेवा करने की और भारत विनम्र सेवक की भावना लेकर ही आगे बढ़ेगा। उसे जगत् की प्रगतिशील शक्तियो और उनकी सहानुभूति तथा सहायता मे विश्वास है। अपने इस कर्तव्य पथ पर अग्रसर होने मे बापू का नेतृत्व प्राप्त है। उस बापू का जो मानवता की विभूति है, जो उसका सेवक है जो उसे क्लेश से मुक्त करने के लिए आतुर है और जिसके पास मनुष्य-समाज के अन्धकारवेष्टित पथ को प्रकाशित करने के लिए आलोकमय संदेश है। विश्वात्मा भारत की इस अभिलाषा को पूर्ण करेंगे यही मुझ जैसे तुच्छ बंदी के हृदय की विनम्र प्रार्थना है। इति शम्।

❀ वन्देमातरम् ❀